जून १९२७ : ३०००
दिसम्बर १९२९ : २१००
सितम्बर १९३० : १५००
नवम्बर १९३८ : १०००
मई १९४१ : १०००

मूल्य
सवा रुपया

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

मुद्रक,
ओङ्कार चन्द गुप्ता
मैनेजर, सरस्वती प्रेस,
दीवानहाल दिल्ली

मनोव्यथा

[गुजराती संस्करण से]

प्रस्तावना का सामान्य उद्देश्य तो पुस्तक और उसमे वर्णित विषय का परिचय कराना ही होता है; परन्तु 'हम क्या करें ?' यह पुस्तक नहीं बल्कि एक अत्यन्त समभावी हृदय का मन्थन है, जीवन-शुद्धि की रहस्य-भेदी शोध है, और महावीर को भी शोभा दे, ऐसा एक आर्य-संकल्प है। थोडे मे कहिए तो यह कारुण्य, औदार्य, गाम्भीर्य, और माधुर्य एक ओजस्वी रसायन है। इसका परिचय नहीं दिया जा सकता। इसकी उपासना होती है, इसका सेवन होता है।

टॉल्स्टॉय शक्तिशाली कला-विज्ञ थे। उनकी प्रत्येक कृति मे औचित्य और प्रसाद-गुण तो होता ही है, पर हृदय को अस्वस्थ बना देनेवाली समवेदना ही उनकी कला की विशेषता है। 'हम क्या करे ?'—यह टॉल्स्टॉय की सर्वोच्च कोटि की कृति समझी जाती है। जैसा शब्द-चित्रण, भाव-प्रदर्शन और लोक-जीवन का अवगाहन उपन्यासों में होता है, वह सब इसमे है। फिर भी कला की दृष्टि से देखने पर इसमें औचित्य भंग है, इसमें हीनता है, इसमें धर्म-जीवन का अपमान है। सीता का विलाप, द्रौपदी की भीड, सती का चितारोहण—ये प्रसङ्ग काव्य-कला के लिए नही होते। ये तो जीवन को दीक्षा देने के लिए होते हैं। धर्म-पूर्ण हृदय से ही हमे इनका दर्शन करना चाहिए। केवल कला की ही आँखे हो तो ऐसे प्रसङ्ग पर उन्हें मींच लेना चाहिए।

टॉल्स्टॉय के वर्णित प्रसङ्ग काल्पनिक नहीं हैं, उनके द्वारा की हुई मीमांसा केवल 'तात्त्विक' नही है. और उन्होने जो जीवन में परिवर्तन

किया था वह भी क्षणिक न था। पुस्तक का प्रारम्भ तो मार्ग में भटकते हुए भिखारियो के सुख-दुःख से होता है, पर इसका मुख्य विषय तो समस्त मानव-समाज का कल्याण है।

पुराणों में हम लोग पृथ्वी का भार बढ़ने की बातें सुनते हैं। क्या लोक-संख्या बढ़ने से पृथ्वी का भार बढ़ता होगा? या जङ्गलों की वृद्धि से अथवा हिमालय-जैसा पहाड पानी मे से उमड आने से? ऐसी बातो से तो पृथ्वी का भार बढ़ने का कोई कारण नहीं। पृथ्वी पर भार होता है आलस का, काहिली का, पाप का, अनाचार का, द्रोह का। टॉल्स्टॉय ने देखा कि आजकल पृथ्वी पर बहुत भार बढ रहा है, और वह असह्य हो रहा है, अब कोई न कोई उत्पात होगा। ज्वालामुखी फूट पडेगा अथवा दावानल प्रज्वलित होगा। यह दुःख किस प्रकार टले, इस महान् विनाश से समाज कैसे बचे—इसकी विवेचना इसमें है।

उन्होने देखा कि रूस में, यूरोप मे, सारे संसार में प्रतिष्ठित अकर्मण्य लोगों की संख्या बेहद बढ़ गयी है—बढ़ती जाती है और किसी तरह भी रोके नही रुकती। इनका आमोद-प्रमोद, इनकी वासनायें, इनके भोग भोगने के साधन बढ़ते ही जाते हैं। ये मस्तराम प्रजा का खून चूसे जा रहे हैं और बदले में समाज को कुछ देते नहीं। इतना ही नहीं, सरकारी ज़बरदस्ती और पैसे के जाल से ग्रसित लोगो को सिर उठाने में भी असमर्थ बनाये दे रहे हैं; अपने मन को फुसलाने के लिए और दुनिया को बहलाने के लिए तरह-तरह की 'फ़िलासफ़ियों' की रचना करते है। हमारी स्थिति जैसी होनी चाहिए वैसी ही है, इसीमें सबका कल्याण है, ऐसा सिद्ध करने के लिए कृत्रिम धार्मिक सिद्धान्तो का आविष्कार करते हैं, समाज-शास्त्र गढ़ते हैं और विज्ञान तथा कला को भ्रष्ट करते हैं। इन बातों को उखाडकर फेंक देना कुछ सहल बात नही है। विचारों को जन्म देने तथा उनका प्रचार करने का जिनका इजारा है ऐसे समस्त मनुष्य-समूह से—जिसमे हम लोग भी सम्मिलित हैं—यह अभिमन्यु जैसा असमान युद्ध—एकाकी युद्ध है। परन्तु टॉल्स्टॉय की

लेखन-शक्ति और हरिश्चन्द्र के समान अटल श्रद्धा इस नाम को लक्ष्य तक पहुँचाने के योग्य ही निकली। वह जानते थे, दुनियादार अक्लमन्द लोग चाहे कितने ही क्यों न हों फिर भी उनका बल अपर्याप्त है और हम खुद अकेले ही हों तब भी सत्य-स्वरूप जगदीश के साथ होने से हमारा बल पर्याप्त है।

और टॉल्स्टॉय ने पृथ्वी का भार हलका करने का उपाय भी कैसा बताया? सनातन काल से जो उपाय बताया गया है, वही—'त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मागृधः कस्यस्विद्धनम्'। टाल्स्टाय ने यह उपाय केवल किताब लिखकर ही बताया हो सो बात नहीं, पर स्वयं सब-कुछ त्याग कर, अकिञ्चन बनकर, यथाशक्ति अपरिग्रह-व्रत का पालन करके और अन्त में महा-भिनिष्क्रमण करके उन्होंने लोगों को रास्ता दिखाया।

टॉल्स्टॉय की कीर्ति यूरोप में खूब बढ़ी-चढ़ी थी। उनकी साहित्य-कला के ऊपर यूरोप न्यौछावर हो रहा था। पर जब टॉल्स्टॉय ने निष्पाप जीवन व्यतीत करने के लिए सर्वस्व छोड़ा, तब यूरोप में हाहाकार मच गया। नट, विदूषक और गणिका के रूप में प्रसिद्ध बने बैठे लोगो को तो ऐसा लगा कि कला की हत्या हो गयी! टॉल्स्टॉय ने कला की मर्यादा छोड दी। सत्य मे प्रवेश किया। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—कला का यह सर्वोच्च नियम भंग किया। कला ही जीवन-सर्वस्व है, ऐसा माननेवाले लागों को भास हुआ कि टॉल्स्टॉय जीवन के प्रति बेवफा निकला। पशु के साथ जो अपनी समानता है उसे छोडने से हम संकुचित ही तो हो जायँगे? पर सच्चे जीवन-कलाविदों ने देखा कि टॉल्स्टॉय के हाथ से कला कृतार्थ ही हुई है।

कितनों ही ने तो यह निदान निकाला कि टॉल्स्टॉय ने जबसे मांसाहार छोड़ा तभीसे उसकी कला का आवेश धीमा पड गया और प्रतिभा क्षीण हो गयी। संसार-सुधार का मार्ग छोडकर उसने जंगलीपन को ही आदर्श मान लिया। इस प्रकार के अनेक आक्षेपो का टॉल्स्टॉय ने इस पुस्तक मे ज़बरदस्त निराकरण किया है। किन्तु—'लोचनाभ्यां विहीनस्य

दर्पणं किं करिष्यति ?' तटस्थ रहकर विचार करनेवाला टॉल्स्टॉय का चरित्र-लेखक मॉड ठीक ही कहता है कि टॉल्स्टॉय के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखना और कहना तो अभीतक किसीको सूझा ही नहीं। जो निकलता है सो यही कहता है कि 'टॉल्स्टॉय का कथन लोक-विचक्षण है—उनका उपदेश आचरण में लाने योग्य नहीं है, टॉल्स्टॉय जो चाहते हैं वैसा करने से तो बड़ी अव्यवस्था मच जायगी!' पर इसका प्रतिवाद करनेवाले जो असंख्य पवित्र जीवनप्रद लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उनका विचार ही नहीं करते। मनुष्य ऐसा समझ बैठता है कि जो सुधार हमसे नहीं हो सकता वह सभी मनुष्यों के लिए अशक्य होगा। टॉल्स्टॉय का दृढ़ विश्वास है कि जिस प्रकार लोगों ने गुलामी की प्रथा को उड़ा दिया है उसी प्रकार धन और सत्ता की यह प्रथा भी अवश्य उड़ ही जायगी। सरकार, जायदाद, पैसा, आलसी लोग और इनका दौरदौरा क़ायम रखने तथा ग़रीबों को कुचल डालने के लिए खड़ी की हुई सेनायें—ये सब मनुष्य की ही निर्माण की हुई आपत्तियाँ हैं। निष्पाप तथा समृद्ध जीवन व्यतीत करने के लिए इनमें से एक संस्था की भी ज़रूरत नहीं। बुद्धिमान मनुष्य को सादगी से रहते हुए समाज की अधिक सेवा करनी चाहिए। अधिक ऐशो-आराम में रहना और जोंक की तरह समाज का लोहू पीना बुद्धिमान के लिए उचित नहीं है—इसी एक मुख्य तत्व को टॉल्स्टॉय ने इस पुस्तक में समझाने का उद्योग किया है। विज्ञान और कला से उनका कहना है कि जिनका नमक खाकर तुम जीते हो उनका ही तिरस्कार करके तुम जीवित नहीं रह सकते। प्रजा की कुछ तो सेवा करो। अरे, कुछ नहीं तो असेवा करते तो लजाओ!

टॉल्स्टॉय का यह धर्म-प्रबोध लोगों को पसन्द न आया और परिणाम यह हुआ कि इसी पुस्तक में टॉल्स्टॉय ने स्पष्ट शब्दों में जो चेतावनी दी थी वह आज तीस वर्ष के अन्दर बिलकुल सत्य निकली। मज़दूर-दल का धैर्य छूटा, प्रजा-क्षोभ छूटा और प्रजा के ही कंधे पर बैठकर प्रजा को लात मारने वाला वर्ग भस्मसात् हो गया।

फिर भी ग़रीबों का दुःख दूर नहीं हुआ। हिंसा का दुःख क्या हिंसा से मिटेगा? लोहू से सना हुआ हाथ क्या लोहू से धोने से साफ़ हो सकेगा?

टॉल्स्टॉय का उपदेश रूस के बनिस्बत हिन्दुस्तान को अधिक लागू होता है। जबतक प्रजा का बोझ हलका नही होता और ज़बरदस्ती का दौरदौरा मिटता नहीं, तबतक देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो ही नहीं सकती। यह बात, देश का ख़याल रखने वाले मनुष्यो के हृदय में, यह पुस्तक पढ़ते समय, आये बिना रहती नहीं। पैसा इस अज्ञात ज़बरदस्ती का बडे-से-बडा वाहन है, यह मान लेने के पश्चात् हिन्दुस्तान का प्रश्न अधिक स्पष्ट हो जायगा।

यदि कोई ऐसा समझता हो कि हिन्दुस्तान मे रूस की तरह उत्पात हो ही नहीं सकता, तो यह उसकी भूल है। साथ ही यह भी ठीक है कि रूस जैसा विस्फोट हिन्दुस्तान मे भी होगा ही, ऐसी बात भी नही है। हिन्दुस्तान मे सन्त-फकीरो का राज्य अन्य देशों की अपेक्षा अधिक फैला हुआ है। हमारी बुद्धि कितनी ही भ्रष्ट क्यों न होगयी हो पर आज भी हमारे हाड मे द्रोह नही है, हिंसा नहीं है। हमारे आद्य-आचार्यों ने शारीरिक श्रम का महत्त्व समझाया है। परिश्रम छोड़ने से सत्य की हानि होती है। मनुष्य अथवा पशु के कन्धे पर बैठकर की हुई जीवन-यात्रा निष्फल है, यह हम जानते हैं।

यल्लभसे निज कर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तं।
अर्थमनर्थं भावय नित्य, मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णां॥

यह उपदेश अभी केवल पोथी का वन्द कीड़ा ही नहीं है। रुपया-पैसा ख़राब मैली चीज़ है, यह बात भी टॉल्स्टॉय ने नयी नहीं कही है।

द्रव्यं तु मुद्रित स्पृष्ट्वा त्रिरात्रेण शुचिर्भवेत्।

ऐसे-ऐसे वचन हमारे यहाँ पडे हुए है। पर हम लोगों ने ये सब धर्म-तत्त्व साधु-संन्यासियों के सुपुर्द कर दिये और धर्म को अपने से दूर रक्खा। पर धर्म टालने से क्या टलनेवाला था? मछली के लिए जैसा जल है वैसा ही मनुष्य के लिए धर्म है। राजी-खुशी न समझेंगे तो मजबूर होकर

तो समझना ही पड़ेगा। पाप कुछ सिक्कों में—सफेद या पीली चमकती हुई मिट्टी के गोल टुकड़ों मे नहीं बल्कि समाज के हृदय मे होता है, यह ठीक है। फिर भी आज ये सिक्के लोभी, निर्दय और ज़बरदस्त लोगों के हाथ के अस्त्र-दास्यास्त्र बन गये हैं, यह बात कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। टॉलस्टॉय का कहना है कि नीरोग मनुष्य को दवा की जितनी आवश्यकता होती है बस उतनी ही निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाले समाज को रुपये की ज़रूरत हो सकती है।

पर टॉलस्टॉय की यह पुस्तक? यह बहुत ही ख़राब किताब है। यह हमे जाग्रत करती है, अस्वस्थ करती है, धर्म-भीरु बनाती है। यह पुस्तक पढ़ने के बाद भोग-विलास तथा आनन्दोल्लास में पश्चात्ताप का कड़ुवा कंकड़ पड जाता है। अपना जीवन सुधारने पर ही यह मनोव्यथा कुछ कम होती है। और जो इनसानियत का ही गला घोट दिया जाय तब तो कोई बात ही नहीं।

इस पुस्तक का पढना सरल नही है। यह ऐसी है कि सस्कारी अथवा सात्विक वृत्तिवाले मनुष्य को अन्त तक न छोड़े। यूरोपीय समाज को लक्ष्य में रखकर लिखे जाने के कारण ईसाइयों की तौरेत तथा इन्जील में से खूब उदाहरण दिये गये हैं। कान्ट, हेगल, वॅगनर आदि पाश्चात्य दार्शनिकों और कला-कोविदों की मीमांसा आती है। इन सब बातों को समझना ज़रा मुश्किल तो ज़रूर है, पर भाषान्तरकार योग्य मिलने से बहुत-सी मुश्किलें दूर होगयी हैं। गुजरात आज अपने साधु-सन्तो की अपेक्षा अपनी द्रव्यार्जन-शक्ति पर घमण्ड करता हो तो गुजरात को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। कुछ तो विचार करना ही पड़ेगा।

काका कालेलकर

और लोग उनसे पूछने लगे, 'फिर हम करें क्या ?'

उन्होंने उत्तर दिया—जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उसे दे दे कि जिसके पास एक भी नहीं है; और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।

× × ×

इस पृथ्वी पर अपने लिए धन जमा मत करो, क्योंकि काई और कीड़े उसे नष्ट कर देते हैं अथवा चोर उसे चुरा ले जाते है।

किन्तु तुम अपने लिए स्वर्ग में धन जमा करो कि जहाँ न काई लगती है और न कीड़े खाते हैं और न चोर ही दरवाजा तोड़ कर उसे चुरा ले जा सकते हैं।

फिर, जहाँ तुम्हारा धन होगा, वही तुम्हारा दिल भी रहेगा।

× × ×

आँख शरीर का दीपक है; इसलिए यदि तुम्हारी आँख स्थिर है, तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से पूर्ण होगा।

किन्तु यदि तुम्हारी आँख में बुराई है, तो तुम्हारे शरीर-भर में अन्धकार का साम्राज्य होगा, और यदि तुम्हारी अन्तर्ज्योति ही तिमिरावृत्त है, तब तो फिर तुम्हारे अन्दर कितना गहरा अन्धकार होगा !

× × ×

कोई भी दो मालिकों की नौकरी कर नहीं सकता; क्योंकि या तो वह एक से घृणा करेगा और दूसरे से प्रेम, या वह एक की सेवा करेगा और दूसरे की उपेक्षा। तुम ईश्वर और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते!

× × ×

इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने जीवन में यह चिन्ता मत करो कि मैं क्या खाऊँगा और क्या पीऊँगा, और न शरीर के लिए यह सोचो कि इसे क्या पहनाऊँगा? क्या जीवन स्वयं ही भोजन से बढ़कर और काया कपड़ों से अधिक मूल्यवान नहीं?

× × ×

बस, तुम ईश्वर के राज्य और उसके धर्म-मार्ग की ही खोज करो और बाक़ी ये सब चीजें तुम्हें स्वयं ही मिल जायँगी।

× × ×

सुई के नकुए में से ऊँट का निकल जाना तो सम्भव है, किन्तु अमीर आदमी के लिए स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।

क्या करें ?

: १ :

जीवन का अधिकांश भाग देहात में व्यतीत करने के बाद आख़िर-कार सन् १८८१ में मास्को में निवास करने के लिए मैं आया और उस नगर की हद से बढ़ी हुई दरिद्रता को देखकर मैं दुःखित और चकित हुआ। वैसे तो देहात के ग़रीब आदमियों के कष्टों से मैं भली-भाँति परिचित था, किन्तु मुझे इसका ज़रा भी ख़याल न था कि नगरों में उनकी कैसी दुर्दशा है।

मास्को की किसी भी सड़क से कोई मनुष्य गुज़रे, उसे एक विचित्र प्रकार के भिखारी मिलेंगे। झोली लेकर ईसा के नाम पर देहातों में भीख माँगने वाले भिखारियों से वे बिलकुल भिन्न होंगे। मास्को के भिखारी न तो झोली लेकर चलते हैं और न भीख माँगते हैं। प्रायः जब वे किसी से मिलते हैं तो उसकी आँख से आँख मिलाने की कोशिश करते हैं और उसके मुख का भाव देखकर उसके अनुसार व्यवहार करते हैं। मैं इस प्रकार के एक भिखारी को जानता हूँ—वह एक सद्गृहस्थ है, वृद्ध है, धीरे-धीरे चलता है और दोनों पैरों से लँगड़ाता है। जब कोई पास से निकलता है तो वह लँगड़ाकर चलता है और सलाम करता है। यदि जानेवाला ठहर जाता है तो वह अपनी टोपी उतार लेता है, फिर झुककर सलाम करता है और माँगता है। यदि वह आदमी नहीं ठहरता है तब कुछ नहीं, वह केवल लँगड़ाने का बहाना करता है और उसी तरह लँगड़ाता हुआ चलता रहता है। यह मास्को के एक असली और अनुभवी भिक्षुक का नमूना है।

पहले तो मैं यह नहीं समझ सका कि ऐसे भिक्षुक खुले तौर पर क्यों नहीं माँगते। किन्तु पीछे मुझे यह मालूम हुआ, हालाँकि उसका कारण नहीं समझ पाया। एक दिन मैंने देखा कि एक पुलिस का सिपाही एक फटे हाल आदमी को, जिसका बदन सूजा हुआ है, ताँगे में बिठाये लिये जा रहा है। मैंने जब पूछा कि इसने क्या किया है, तब पुलिसवाले ने कहा—

'भीख माँगता था।'

मैंने पूछा—'तो क्या भीख माँगना मना है?'

उसने उत्तर में कहा—'ऐसा ही मालूम होता है।' पुलिसवाला उसको लिये जा रहा था। मैं भी एक किराये की गाडी करके उसके पीछे हो लिया। मैं यह मालूम करना चाहता था कि क्या भीख माँगना वास्तव मे मना है, और यदि है तो क्यो? मेरी तो यह समझ ही में नही आता था कि यह किस तरह सम्भव हो सकता है किसी आदमी से कुछ माँगना वर्जित कर दिया जाय - और, खासकर, एक यह सन्देह मेरे मन में था कि जिस नगर में इतने भीख माँगनेवाले हैं, वहाँ भीख माँगना नियम-विरुद्ध कैसे हो सकता है?

मैं कोतवाली के अन्दर गया कि जहाँ उस भिखारी को सिपाही ले गया था। मेज़ के पास बैठे हुऐ एक कर्मचारी से, जो तलवार और तमंचे से सज्जित था, मैंने पूछा कि यह क्यों गिरफ्तार किया गया है? उस कर्मचारी ने तेज़ी से मेरी ओर देखकर कहा—'तुम्हें इससे मतलब?' किन्तु शायद यह समझकर कि कुछ जवाब देना ज़रूरी है, उसने कहा—'सरकार का हुक्म है कि ऐसे लोगों को गिरफ्तार कर लिया जाय।'

मैं चला आया। उस आदमी को पकड़कर लानेवाला सिपाही एक कोठरी की खिडकी में बैठा हुआ अपनी नोटबुक देख रहा था।

मैंने उससे कहा—'क्या वास्तव में यह सच है कि ग़रीब आदमियों को ईसामसीह के नाम पर माँगने की इजाज़त नहीं है?'

वह आदमी चौंका, मानो नींद से जागा हो। उसने एक बार घूर-कर मेरी ओर देखा, और फिर गहरी लापरवाही के साथ खिड़की की चौखट पर जमकर कहा--

'सरकार की ऐसी ही आज्ञा है और इसलिए ऐसा करना ज़रूरी है।'

चूँकि वह फिर अपनी नोटबुक पढ़ने मे मग्न हो गया, मैं नीचे उतरकर अपनी गाडी के पास चला आया।

गाड़ीवाले ने पूछा--'क्यो, क्या उसे बन्द कर दिया ?' मालूम होता था उसे भी कुछ दिलचस्पी थी।

मैंने कहा—'हाँ, उन्होने बन्द कर दिया है।' सुनकर गाड़ीवान ने सिर हिलाया।

मैंने पूछा—'तो क्या मास्को मे भीख माँगना वर्जित है ?'

'मुझे क्या पता।' गाड़ीवान ने जव व मे कहा।

मैंने फिर कहा—'किन्तु ईसामसीह के नाम पर भीख माँगने से किसी को कैद कैसे किया जा सकता है ?'

उसने उत्तर दिया—'आजकल यही नया क़ायदा है, भीख माँगना मना है।'

तबसे मैंने अकसर पुलिसवालों को भिखारियों को पकडकर कोत-वाली और वहाँ से कारखाने ले जाते हुए देखा। एक दिन तो मैने इन दीन जीवो की टोली-की-टोली देखी, कुल मिलाकर लगभग ३० आदमी थे और उनके आगे और पीछे सिपाही थे। मैने पूछा—'क्या बात है ?'

जवाब मिला—'भीख माँगते थे।'

ऐसा प्रतीत होता है कि नियम के अनुसार मास्को मे भीख माँगना वर्जित है, यद्यपि सडको पर भिखारियों की बड़ी संख्या दिखाई पडती है और पूजा के समय, गिरजाघरों के सामने, उनकी क़तार-की-क़तार होती है—खासकर स्मशान-यात्रा के अवसर पर। लेकिन यह क्या बात है

कि कुछ तो पकड़कर कैद कर दिये जाते हैं और बाक़ी आज़ाद फिरते रहते हैं ? मैं इस बात का पता न लगा सका। या तो क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी दो तरह के भिखारी होते हैं, या उनकी संख्या इतनी बढ़ी हुई है कि सबको गिरफ्तार करना असम्भव है; या शायद यह बात है कि कुछ लोग पकड़े जाते हैं तो दूसरे उनकी जगह पैदा हो जाते हैं।

मास्को में भिखारियों की कई श्रेणियाँ हैं। कुछ तो ऐसी हैं कि जिनका पेशा ही भीख माँगना है। कुछ ऐसी भी हैं कि सचमुच ही नितान्त कंगाल हैं, किसी तरह मास्को में आ पड़ी हैं और वास्तव में बड़ी मुसीबत में हैं।

पिछली श्रेणी में ज़्यादातर तो गाँवों से आये हुए हैं। मैं कई बार इनसे मिला हूँ। कुछ लोग ऐसे थे कि जो बीमार पड़ गये थे और अच्छे हो जाने पर अस्पताल छोड़ने के बाद उनके पास न तो खाने को कुछ था और न मास्को से चले जाने का साधन, और उनमें से कुछ को तो शराब पीने की भी चाट पड़ गयी थी। कुछ तन्दुरुस्त थे, पर घर से निकाल दिये गये थे, या अति वृद्ध थे, या बच्चोंवाली विधवा, अथवा परित्यक्ता स्त्रियाँ थीं; और कुछ तो हृष्ट-पुष्ट और हर तरह से काम करने लायक़ थे।

इन हृष्ट-पुष्ट लोगों से मुझे खास दिलचस्पी पैदा हो गयी थी। इस-लिए और भी अधिक कि मास्को में आने के बाद व्यायाम के लिए स्पैरो पहाड़ी जाने की मेरी आदत-सी पड़ गयी थी और मैं वहाँ लकड़ी चीरने वाले कृषकों के साथ काम भी करता था। यह लोग ठीक उन भिखारियों की तरह थे कि जो प्रायः मुझे सड़कों पर मिलते थे। एक का नाम पीटर था, वह कालूँगा का रहनेवाला था और सैनिक रह चुका था। दूसरे का नाम साइमन था और वह लादीमीर प्रान्त का था। पहने हुए कपड़ों के सिवा उनके पास कुछ न था, खूब मेहनत करने पर प्रतिदिन उन्हें चालीस-पैंतालीस कोपक अर्थात् ८ या ९ शिलिंग मिलते थे। इसमें से वे कुछ बचा लेते थे—कालूँगा का सिपाही तो गरम कोट खरीदना

चाहता था और लादिमीर का किसान गाँव को वापस जाने का इरादा करता था।

इसी तरह के ग्रामवासियों को सड़क पर भीख माँगते देखकर मेरा ध्यान इनकी ओर विशेष रूप से गया। और मेरे मन मे यह कुतूहल हुआ कि वे लोग भीख क्यों माँगते हैं, जब कि वे दोनों काम करते हैं ?

एक बार मैंने भीख माँगने वाले एक बलिष्ठ और स्वरूप कृषक से पूछा, 'तुम कौन हो और कहाँ से आये हो ?' उसने बताया कि काम की तलाश में वह कालूँगा से आया था। पहले तो उसे ईंधन चीरने का काम मिल गया, लेकिन जब काम खत्म हो गया तो उसके और उसके साथी के बहुत ढूँढने पर भी दूसरा कोई काम न मिला। उसका साथी उसे छोडकर चला गया और उसने अपने पास का सब-कुछ उदर पूर्ति के लिए बेच डाला। यहाँ तक कि अब उसके पास लकड़ी चीरने का सामान खरीदने तक को कुछ न था। आरा खरीदने के लिए मैंने उसे रुपया दिया और काम के लिए स्थान भी बता दिया। पीटर और साइमन से मैंने पहले ही कह रखा था कि एक आदमी को वे रख लें और उसके लिए एक साथी तलाश कर लें।

चलते समय मैंने उससे कहा—'देखो आना जरूर ! करने के लिए वहाँ काम बहुत है।'

'जरूर' मैं जरूर आऊँगा। इस तरह दर-दर भीख माँगते फिरने में मुझे कोई आनन्द आता है, जब कि मैं काम कर सकता हूँ ?' उस आदमी ने इतनी दृढ़ता से कहा कि मुझे उसकी बात पर पूर्ण विश्वास हो गया।

दूसरे दिन जब मैं पीटर और साइमन के पास गया, तो मालूम हुआ कि वह नहीं आया—और, सचमुच वह नहीं आया था। इस तरह मैंने कई बार धोखा खाया। मुझे कुछ ऐसे लोगों ने भी ठगा कि जिन्होंने मुझसे कहा कि घर जाने के लिए टिकट खरीदने-भर के लिए रुपये की

जरूरत है। मैंने उन्हें रुपया दिया, किन्तु कुछ दिनों बाद फिर मुझे वे सड़कों पर मिले। उनमे से बहुतो को तो मैं अच्छी तरह जान गया था और वे भी मुझे पहचानते थे। लेकिन कभी भूल से वे मेरे पास आते और फिर वही झूठा किस्सा दुहराते, लेकिन मुझे पहचानकर उलटे पांव चले जाते।

इस तरह मैंने देखा कि इस श्रेणी के लोगो मे भी बहुत-से धूर्त हैं। किन्तु ये कंगाल धूर्त भी बहुत ही बुरी हालत मे थे। वे सब फटे चिथडे पहने, भूखे थे। अखबारों मे हम ऐसे ही लोगो के सरदी से ठिठुरकर सडकों पर मरने और दुखमय जीवन से बचने के लिये फांसी लगाकर मरने की खबरें पढ़ा करते है।

: २ :

जब कभी मैं नगर के लोगों से उनके चारों ओर फैली हुई इस बीभत्स दरिद्रता का ज़िक्र करता तो वे सदा यही उत्तर देते—ओह, तुमने अभी देखा ही क्या है ? यदि तुम असली भिखारियों की 'सुनहरी टोली' को देखना चाहते हो, तो ज़रा खित्रोफ बाज़ार मे जाकर वहाँ की स्थिति को देखो।

मेरे एक मसखरे मित्र ने संशोधन पेश करते हुए कहा कि उन भिखारियों की संख्या इतनी बढ़ गयी है कि उसे 'सुनहरी टोली' न कहकर 'सुनहरा दल' कहा जा सकता है। मेरे हास्य-प्रिय मित्र का कथन सत्य था। पर उनका कथन सत्य के और भी निकट होता, यदि वह कहते कि मास्को में इन लोगो का मण्डल नहीं, दल भी नहीं, बल्कि एक पूरी सेना-की-सेना है—और यह सेना लगभग पचास हजार लोगों की है।

नगर-निवासी जब मुझसे शहर की ग़रीबी का ज़िक्र करते तो उन्हें कुछ हर्ष-सा होता हुआ दिखायी देता था। और वह शायद इसलिए कि उनके मन में यह खयाल पैदा होता कि वे वस्तु-स्थिति से इतने अधिक परिचित हैं। मुझे याद है, जब मैं लन्दन गया था तो वहाँ के नागरिक भी अपने नगर की दरिद्रता का वर्णन करते समय एक प्रकार का सन्तोष सा अनुभव करते थे, मानो यह भी कोई गर्व की बात हो।

जिस ग़रीबी के सम्बन्ध मे मैंने इतनी बातें सुनी थी, उसे आँख से देखने की मेरी इच्छा थी। कई बार मै खित्रोफ बाज़ार की ओर चला भी, किन्तु हर दफा लज्जा और पीडा का मुझे अनुभव हुआ। मेरे अन्तर

में किसीने कहा—'जिन्हें तुम सहायता नहीं पहुँचा सकते, उनके कष्टों को देखने क्यों जाते हो ?' इसके उत्तर मे आवाज़ आयी—'जब तुम यहाँ रहकर शहर की सभी सुन्दर आनन्दप्रद बातो को देखते हो, तो जाकर दु:खप्रद बातों को भी देखो।'

बस, एक दिन दिसम्बर मास में, जब कि खूब सर्दी थी और तेज़ हवा चल रही थी, मैं नगर की दरिद्रता के केन्द्र खित्रोफ़ बाज़ार की ओर गया। वह छुट्टी का नहीं, कामकाज का दिन था और शाम के चार बजे थे। मैंने दूर से ही देखा कि अनेकों आदमी विचित्र कपडे पहने हुए हैं—स्पष्ट ही मालूम होता था कि वे कपडे उनके लिए नहीं बनाये गये थे—और उनके जूते तो और भी अजीब थे। वे रोगी-से दीखते थे और सभी के चेहरे से ऐसा मालूम होता था कि उनके चारों ओर जो कुछ हो रहा है उससे वे बिलकुल उदासीन हैं—मानो उन्हें कुछ मतलब ही नही।

उनकी पोशाक इतनी विचित्र और बेढंगी होने पर भी वे सब के सब निश्चिन्त भाव से एक ही ओर को चले जा रहे थे। उन्हें इस बात का तो जरा भी ख़याल होता दिखायी न देता था कि उनके विचित्र वेष को देखकर लोग अपने मन में क्या कहेंगे ? मैं भी उन लोगों के पीछे चलता रहा और खित्रोफ़ बाजार में जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि बहुत-सी स्त्रियाँ भी वैसी ही बेहूदी पोशाकें पहने हुए हैं। उनकी टोपी, लबादे, बण्डी, और बूट आदि सभी फटे हुए हैं, लेकिन फिर भी वे निःसङ्कोच भाव से बैठी हुई थीं, इधर-उधर घूमती थीं, सौदा करती थीं और एक दूसरे को गालियाँ देती थीं–इनमें जवान और बूढ़ी सभी तरह की स्त्रियाँ थीं।

मालूम होता था कि बाज़ार का समय खत्म हो गया था, क्योंकि वहाँ अधिक लोग न थे, और जो थे उनमें से ज़्यादातर बाजार में होकर पहाड़ी पर जा रहे थे। मैं भी उनके पीछे हो लिया। मैं ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता था, उसी एक सड़क पर जाने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाती थी। बाजार में निकलकर मैं एक गली में आया, तो मुझे दो स्त्रियाँ

मिलीं। उनमें एक जवान थी और दूसरी बूढ़ी। दोनो भूरे रंग के कुछ फटे कपडे पहने हुए थीं। वे बातें करती हुई जा रही थीं। प्रत्येक बात के साथ एक-न-एक वाहियात शब्द भी वे अवश्य बोलती थीं। नशे में कोई भी न थी, पर दोनों को अपने-अपने काम की धुन थी। आने-जाने वाले लोग तथा आगे-पीछे चलनेवाले उनकी बातों पर ज़रा भी ध्यान न देते; पर मेरे कानों को तो वे बडी विचित्र और कटु मालूम होती थीं। मालूम होता है, उस तरफ़ के लोगों की बातचीत का ढंग ही यही था। भीड़ के कुछ लोग तो बाईं तरफ़ के मकानों में घुस गये और बाक़ी लोग पहाड़ी पर चढ़कर एक बडे मकान की ओर जा रहे थे। मेरे साथ जो लोग चल रहे थे उनमें से अधिकांश तो इस मकान में चले गये। इस मकान के आगे तरह-तरह के आदमी थे; कुछ खडे थे, कुछ बैठे थे। कुछ तो फुट-पाथ पर थे और कुछ खुली हुई जगह मे, जहाँ बर्फ़ पड़ रही थी। दरवाज़े के दाहिनी तरफ स्त्रियाँ थी और बाईं ओर पुरुष। मैं कभी तो आदमियों के पास से होकर निकला और कभी औरतों के पास से; और जहाँ पर सैकड़ों की यह भीड़ समाप्त होती थी, वहीं जाकर मैं ठहर गया। जिस मकान के पास हम लोग खडे थे वह 'ल्यापिन अनाथावास' था। भीड उन लोगों की थी, जो रात्रि में सोने के लिए अन्दर जाना चाहते थे। शाम को पाँच बजे मकान का द्वार खुलता है और भीड़ को अन्दर जाने दिया जाता है। रास्ते में मिलनेवाले प्रायः सभी लोग यहीं आ रहे थे।

जहाँ पर मनुष्यों की पंक्ति समाप्त होती थी, मैं वहीं पर खडा रहा। जो लोग मेरे पास थे, वे ग़ौर से मेरी ओर देख रहे थे; यहाँ तक कि मेरा ध्यान भी उनकी ओर गया। उनके शरीर पर जो चीथड़े थे वे विभिन्न प्रकार के थे; लेकिन उन सबकी आँखों का भाव तो एक ही-सा था। उनकी आँखें मानों कह रही थीं—'ऐ दूसरी दुनिया के मनुष्य! तुम यहाँ हमारे साथ क्यों खड़े हो? तुम कौन हो? क्या तुम कोई आत्म-तुष्ट धनिक हो कि जो हमारी दुर्दशा देखकर अपने को प्रसन्न करने,

अपने राग-रंग का मज़ा बदलने के लिए तथा हमे चिढ़ाने के लिए आये हो ? या तुम वह हो कि जो कहीं होता ही नही और जिसका होना सम्भव भी नही—एक दयालु मनुष्य कि जिसके हृदय मे हमारे लिए कुछ करुणा या ममता हो ?'

सभी के चेहरो पर यही सवाल था। उनमे से हरएक मेरी ओर देखता था, मेरी नज़र से नज़र मिलाता था और फिर मुँह फेर लेता था। मैंने चाहा कि मै कुछ लोगों से बात करूँ, पर कुछ देर तक तो मुझे ऐसा करने का साहस नही हुआ। किन्तु योंही एक-दूसरे की नज़रों ने धीरे-धीरे हम लोगों का परिचय करा दिया और हम लोगो ने महसूस किया कि हमारी सामाजिक स्थिति कितनी ही विभिन्न क्यों न हो, फिर भी हम भाई-भाई हैं—मनुष्य हैं। धीरे-धीरे हम लोगों का डर जाता रहा।

मेरे पास ही एक किसान खड़ा था, जिसकी दाढी लाल थी और मुँह सूजा हुआ था। उसकी बण्डी फटी हुई थी, और फटे हुए फुलबूट मे से उसके पाँव निकले हुए थे, हालाँकि बर्फ़ खूब पड़ रहा था। तीसरी या चौथी बार हमारी नज़र मिली और मेरा मन उसकी ओर ऐसा खिंच गया कि अब उससे बोलने मे नही, न बोलने मे लज्जा थी। मैंने पूछा—'तुम्हारा घर कहाँ है ?'

उसने उत्सुकतापूर्वक उत्तर दिया—'मैं स्मालेस्क से काम की तलाश मे आया था। कर चुकाने तथा खाने की चीज़ें मोल लेने के लिए रुपये की ज़रूरत थी।' इस बीच मे लोग हमारे पास इकट्ठे होने शुरू हो गये। उसने कहा—'आजकल कोई काम नहीं मिलता। सारा काम सिपाहियों ने ले लिया है। मैं इधर-उधर भटकता फिरता हूँ। ईश्वर जानता है कि दो दिन से मैंने कुछ नही खाया।'

उसने लजाते हुए, कुछ हँसने की चेष्टा करते हुए, यह अन्तिम बात कही थी। पास ही स्बिटन† बेचनेवाला एक बूढ़ा सिपाही खड़ा था।

---

† चाय की तरह पीने का पदार्थ।

मैंने उसे बुलाया। उसने स्वीटन का एक प्याला भरा। ग्राम-वासी ने गरम-गरम प्याला हाथ में लेकर पीना शुरू किया। पहले तो उसने उससे अपने हाथ सेके, क्योंकि इतनी मँहगी कमाई को वह व्यर्थ कैसे जाने दे सकता था? इस तरह हाथ सेकते-सेकते उसने अपने अनुभवों का वर्णन करना शुरू किया।

इन लोगों की जीवन-घटनायें, या कम से कम वे कहानियाँ कि जो ये लोग सुनाते हैं, प्राय: सदा ही एक-सी होती हैं। उसे कुछ काम मिला था, वह समाप्त हो गया, और यहाँ अनाथावास में उसका बटुआ किसी ने चुरा लिया, जिसमें उसके रुपये और पासपोर्ट आदि थे। अब वह मास्को से बाहर जाने मे असमर्थ है।

उसने कहा कि दिन में तो वह किसी सदावर्त में ठंडा-बासी जो कुछ थोडा-बहुत मिल जाता है वही खाकर और तापकर समय व्यतीत करता है और रात में इसी ल्यापिन-गृह में पडा रहता है, जहाँ उसे कुछ देना नहीं पडता। उसने यह भी कहा कि वह तो गश्त लगाने वाले सिपाहियों की प्रतीक्षा ही कर रहा है, ताकि वे आवें और पासपोर्ट न होने के कारण उसे गिरफ्तार कर ले जाये और सरकारी खर्च से अपने जन्मस्थान को भेज दिया जाय। जब वह यह बातें कह रहा था, भीड़ मे से दो-तीन आदमियों ने कहा कि उनकी भी ठीक यही हालत है।

एक लम्बी नाकवाला पतला-दुबला युवक, जिसके शरीर पर सिर्फ एक कुर्ता था और वह भी कन्धो के पास से फटा हुआ था, सिर पर फटी-टूटी टोपी रखे हुए, भीड मे से निकलकर, मेरे पास आया। वह बुरी तरह काँप रहा था; और ज्योंही हमारी नज़रें मिलीं, उसने कृषक की ओर देखकर तिरस्कारपूर्ण भाव से हँसने की चेष्टा की। और वह शायद इसलिए कि वह दिखाना चाहता था कि मैं कृषक से बडा हूँ।

मैंने उसे भी स्विटन का एक गिलास दिलाया। पहले मनुष्य की भाँति उसने भी गिलास से अपने हाथ सेके; किन्तु ज्यों ही उसने बोलना शुरू किया, एक ऊँचे साँवले रंग के मनुष्य ने आकर उसे एक ओर हटा

दिया। उसकी नाक तोते की तरह टेढ़ी और सिर नंगा था, और वह पतली कमीज़ व वास्कट पहने हुए था। उसने भी पीने के लिए स्विटन माँगी। इसके बाद जो आदमी स्विटन पीने आया वह पतली दाढ़ीवाला लम्बे क़द का एक बूढ़ा था। वह ओवरकोट पहने हुए था और एक डोरी उसकी कमर में लिपटी हुई थी। उसके जूते छाल के थे और वह पिये हुए था। इसके पीछे एक लड़का आया, जिसका मुँह सूजा हुआ था और आँखें तर थीं। वह एक छोटा-सा भूरा कोट पहने हुए था, फटी हुई पतलून में से उसके घुटने बाहर निकल रहे थे और मारे सर्दी के एक-दूसरे से टकरा रहे थे। वह इतना ठिठुर गया था और इतना काँप रहा था कि वह गिलास को पकड़ न सका और सारा स्विटन उसके कपड़ों पर गिर पड़ा। दूसरे लोग उसे गालियाँ देने लगे; पर वह बेचारा काँप रहा था और करुण हँसी से हँस रहा था।

इसके बाद एक भद्दी सूरत का, विकृत अंगोंवाला आदमी आया, जो चीथड़े पहने था और नंगे पाँव था। फिर तो तरह-तरह के लोग मेरे नज़दीक आने लगे; कोई तो राजकर्मचारी-जैसा था, कोई पादरी के समान था, और एक के तो नाक ही न थी। पर ये सब भूखे, शीत-पीड़ित, अत्यन्त दीन और दयनीय-से थे। सब मेरे पास आकर स्विटन माँगने लगे। जब स्विटन समाप्त हो गयी तब एक ने कुछ पैसे माँगे; उसकी देखा-देखी दूसरे ने, फिर तीसरे ने, और फिर तो सभी पैसे माँगने लगे। इतने में पड़ोस के मकानवाले चौकीदार ने डपटकर कहा—'हमारे घर के सामने से हट जाओ।' लोग सुनते ही चुपचाप वहाँ से हट आये। उस मण्डली में से कुछ लोगों ने स्वयं-सेवक बनकर मेरी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। वे मुझे भीड़ में से निकालकर ले जाना चाहते थे, लेकिन जो समूह अभी दूर तक फुट-पाथ पर फैला हुआ था वह अब सिमटकर धक्का-मुक्की करता हुआ मेरे पास आने की चेष्टा करने लगा। हरएक मेरी तरफ़ देखता था और माँगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रत्येक मनुष्य का चेहरा दूसरे की अपेक्षा अधिक करुणोत्पादक और

दीन-हीन था। मेरे पास जो-कुछ था, वह सब मैंने उन्हें दे दिया—सब मिलाकर लगभग २० रूबल होंगे। भीड के साथ ही मैं भी अनाथालय में घुसा।

यह मकान सादा और खूब बडा था तथा उसमें चार भाग थे। छत के ऊपर आदमियों के रहने का स्थान था और नीचे स्त्रियों के लिए। पहले मैं स्त्रियों के कमरे में गया। यह एक बड़ा कमरा था, जिसमें रेल के तीसरे दर्जे की बैठकों की तरह ऊपर-नीचे दो क़तारों में सोने के लिए तख़्ते लगे हुए थे। फटे-पुराने कपडे पहने, विचित्र आकृति-प्रकृति की स्त्रियाँ, बूढ़ी और जवान, आ-आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करने लगीं; कुछ तो नीचे के विभाग में और कुछ ऊपर के तख़्तों पर चढ़ गईं। कुछ प्रौढ़ा स्त्रियाँ हाथ से क्रास बनाकर ईश्वर को याद करके उस मकान के बनानेवाले को दुआ देने लगीं, और कुछ योंही हँसी-मज़ाक और गाली-गलौज़ करने लगीं। मैं दूसरी मंज़िल पर गया। वहाँ पुरुष इसी प्रकार अपनी-अपनी जगह बैठे थे। उनमें से एक आदमी को मैंने पहचाना, जिसे मैंने कुछ रुपया दिया था। उसे देखते ही मेरे मन में बडी लज्जा उत्पन्न हुई और मैं फ़ौरन ही वहाँ से भाग आया।

घर आते हुए मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे मैंने कोई अपराध किया हो। कालीन से ढके हुए ज़ीने से होता हुआ मैं हाल में आया, जिसके फ़र्श पर सुन्दर ग़लीचा बिछा हुआ था; और वहाँ अपना कोट उतार कर पाँच प्रकार के पकवानों का भोजन करने बैठा। सफेद टाई और सफेद दस्ताने तथा वर्दी पहने हुए दो नौकर आ-आकर भोजन परोस रहे थे।

उसी समय एक बहुत पुरानी घटना याद आयी। तीस वर्ष पहले पेरिस में हज़ारों आदमियों की उपस्थिति में जल्लादों-द्वारा एक आदमी का सिर कटते हुए देखा था। मैं जानता था कि वह आदमी भयङ्कर अपराधी है और इस प्रकार के अपराध के लिए मौत की सज़ा देने के

पक्ष में जो दलीलें पेश की जाती हैं, उनसे भी मैं परिचित था। मैं जान-बूझकर इस प्राण-दण्ड के दृश्य को देखने गया था, किन्तु जिस समय तेज़ तलवार से उस आदमी का सिर धड से अलग किया गया, मैं जैसे सन्नाटे मे आ गया और जैसे नस-नस में मुझे अनुभव होने लगा कि मृत्यु-दण्ड के पक्ष की जितनी दलीलें मैंने अभी तक सुनी हैं, वे सब झूठी और शैतानियत से भरी हुई हैं और चाहे कितने ही आदमी इसको क़ानूनन जायज़ समझे और भले ही उसे किसी भी नाम से पुकारें, मैं तो यही कहूँगा कि यह और कुछ नहीं, शुद्ध नर-हत्या है और आज इस प्रकार इन्होंने वही नर-हत्या—संसार का सबसे बडा और सबसे भयङ्कर पाप किया है; और मैं, चुपचाप, बिना किसी प्रकार की आपत्ति किये, खडा-खडा देखता रहा और इस प्रकार बीभत्स पाप के करने में सहायक तथा इस महान् पाप का भागी हुआ।

और अब, जबकि लोगों के कष्ट—हज़ारों मानव-बन्धुओं की भूख और शीत की पीड़ा और दुर्दशा मैंने अपनी आँखों से देखी तब, उसी प्रकार का ख़याल मेरे मन में फिर पैदा हुआ। न केवल मेरे मस्तिष्क ने ही बल्कि मेरी आत्मा के कण-कण ने इस बात को महसूस किया कि मास्को में इस प्रकार के हज़ारों दुःखित प्राणियों के होते हुए अभी अन्य लाखो मनुष्यों की तरह मैं प्रतिदिन तरह-तरह के सुन्दर और स्वादिष्ट पक्वानों से अपना पेट भरता हूँ, अपने घोडों तक की बडी देख-भाल रखता हूँ, और इतना ही क्यो, मैं अपने फ़र्श को भी मखमली कालीनों से ढककर रखता हूँ। संसार के बुद्धिमान और विद्वान् लोग चाहे कुछ भी क्यों न कहें, मैं तो यही कहूँगा कि ऊपर लिखे प्रकार का एक बडा भारी अपराध संसार से बराबर किया जा रहा है और मैं भी अपनी आराम-तलबी और ऐश-पसन्दी की आदतों द्वारा उस अपराध में भाग ले रहा हूं।

इन दोनो अपराधों में अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि प्राणदण्ड वाले मामले में मुझसे जो-कुछ बन सकता था वह इतना ही था कि

फाँसी की मशीन के पास खड़े होकर मैं चीख़कर, चिल्लाकर, जल्लादों से कहता कि तुम हत्या कर रहे हो और यह जानते हुए भी कि मेरी मेहनत का कोई फल न निकलेगा, उसके कृत्य को रोकने की मुझे हर तरह से कोशिश करनी चाहिए थी; किन्तु इस दूसरे मामले में उन्हें पीने के लिए स्विटन तथा उस समय मेरे पास जो रुपये थे, उन्हें ही देकर मुझे सन्तोष करना पड़े—ऐसी बात न थी। बल्कि, मैं चाहता तो अपने शरीर पर का कोट और मेरे घर में जो-कुछ था, वह सब उन्हें दे डाल सकता था। लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। इसीलिए उस समय मैंने महसूस किया, अब भी महसूस करता हूँ, और सदा ही महसूस करता रहूँगा, कि संसार में लगातार होते रहनेवाले एक महान् पाप में मैं भी भाग ले रहा हूँ; और सचमुच ही मैं इस पाप का भागीदार बना रहूँगा, जबतक कि दूसरों के भूखे रहते हुए मेरे पास आवश्यकता से अधिक भोजन है और जबतक कि एक भी बग़ैर कोट के आदमी के रहते हुए मैं अपने पास दो कोट रखता हूँ।

: ३ :

जिस दिन मैं ल्यापिन के अनाथावास को देखकर आया उसी रोज़ शाम को एक मित्र से मैंने अपने विचार प्रकट किये। मेरे वह मित्र उसी शहर के रहनेवाले थे। उन्होंने मेरी बातें सुनीं और जैसे कोई नई बात न सुनी हो, इस भाव से कहा कि इसमें तो अनोखी कोई बात ही नहीं, यह तो नागरिक जीवन की एक बहुत मामूली और स्वाभाविक बात है। क़स्बों में रहने के कारण ही शायद मुझे इसमें विचित्रता दीखती है, अन्यथा यह हालत तो सदा से रही है और सदा बनी रहेगी, क्योंकि सभ्यता का यह एक ज़रूरी अंग है। उन्होंने अन्य बातों के साथ यह भी बताया कि लण्डन में तो इससे भी ख़राब स्थिति है, इसलिए इन्होंने मुझे विश्वास दिलाना चाहा कि इसमें दुःखी या परेशान होने की कोई बात नहीं है।

मैं अपने मित्र से बहस करने लगा, लेकिन इतनी गर्मी और तेज़ी के साथ कि पास के कमरे से दौड़कर मेरी स्त्री पूछने आयी कि मामला क्या है? मालूम पड़ता है, अनजान में ही, तीव्र दुःखित स्वर में, हाथ झटकते हुए, मैं चिल्लाकर बोल उठा था "हम इस तरह अपने जीवन को कैसे व्यतीत कर सकते हैं? न तो हमें ऐसा करना ही चाहिए और न हमें ऐसा करने का अधिकार है।" अनावश्यक उत्तेजना के लिए मेरी भर्त्सना की गयी और मुझे बताया गया कि मैं बड़ी जल्दी गरम हो उठता हूँ—शान्तिपूर्वक किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकता। मुझे यह भी सुझाया गया कि उन अभागे लोगों के दुःख से हम अपना स्नेहमय

पारिवारिक जीवन दुःखी क्यों कर लें। मैंने देखा कि बात तो ठीक है, इसीलिए मैं चुप रह गया। किन्तु आत्मा के किसी निगूढ़ स्थल मे मुझे ऐसा भान होता था कि मेरा विचार ठीक है और अपने आत्मा की इस आवाज़ को मैं किसी तरह दवा न सका।

मैं जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा था उसे निर्दोष सिद्ध करने के लिए मैं मन-ही-मन कितनी ही चेष्टा क्यों न करूँ, पर जब कभी मुझे अपने या दूसरों के सजे सजाये बैठक-ख़ानों, तरह-तरह के अमीराना पकान्नों से भरे हुए दस्तरख़ानों या शानदार घोडों और सुसज्जित कोचवान वाली गाडियो का ध्यान आता था—जब कभी मैं दूकानों, नाटकों और भोजो का ख़याल करता, तो मुझे क्रोध आये विना न रहता। जब कभी मुझे इनका ध्यान आता, उसी समय उस अनाथावास के दरिद्र, सरदी से कॉपते हुए दीन-हीन, अभागे मनुष्यों की मूर्तियां मेरे सामने आ खडी होतीं। मैं इस विचार को तो अपने मन से कभी दूर ही न कर सका कि इन दोनों एक दूसरी से बिलकुल विपरीत हालतों का आपस में बहुत गहरा, कार्य-कारण का-सा सम्बन्ध है। मुझे याद है कि अपने को अपराधी समझने का जो ख़याल मेरे मन में पैदा हुआ था, वह कभी दूर नहीं हुआ, किन्तु इसके साथ ही एक दूसरा ख़याल भी आ मिला, जिससे पहला ख़याल कुछ मन्द हो गया।

ल्यापिन-गृह की जो छाप मेरे हृदय पर पडी थी उसका जब कभी मैं अपने मुलाकातियों और मित्रों से ज़िक्र करता, तो वे सदा वही एक ही तरह का उत्तर देते। वे प्रायः मेरी दयालुता और स्निग्धता की प्रशंसा करते हुए कहते कि मुझे जो इसका ख़याल हो रहा है, इसका कारण यह है कि मैं, लियो टालस्टाय, बज़ाते-खुद नेक और रहमदिल हूँ; और मैं भी उनकी इस बात का विश्वास करने लगा।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आत्म-धिक्कार और लज्जा की जो तीव्र भावना मेरे हृदय में पैदा हुई थी, वह अब कुन्द पड़ गई और उसके बजाय मुझे एक प्रकार से अपने गुणों पर सन्तोष-सा होने

लगा और इस बात की इच्छा होती थी कि लोग मेरे इन गुणों को जानें। मैंने दिल मे कहा—'सची बात तो शायद यह है कि यह मेरे विलास-मय जीवन का दोप नहीं है, बल्कि संसार की परिस्थिति ही कुछ ऐसी है; और वह ज़रूरी है। इसलिए मेरे अपने जीवन में परिवर्तन करने से वह बुराई, जिसे मैंने देखा है, दूर न हो सकेगी।'

मैंने यह भी सोचा कि अपने रहन-सहन में तबदीली कर देने से कोई लाभ न होगा। बुराई तो जैसी है, वैसी ही बनी रहेगी, उलटे मेरे परिवार का जीवन दुःखमय हो जायगा। इसलिए जैसा कि मैंने समझा था, रहन-सहन को बदलना अब मेरा उद्देश्य न होना चाहिए, बल्कि इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि जहाँ तक मुझसे बन सके इन अभागे लोगों की हालत को सुधारा जाय। मैंने सोचा कि सारी बातों का नतीजा यह है कि मैं एक अत्यन्त दयालु और नेक आदमी हूँ और अपने भाइयों का उपकार करना चाहता हूँ।

बस, मैं परोपकारी कार्यों की एक योजना तैयार करने लगा कि जिसके द्वारा मुझे अपने समस्त गुणों के प्रदर्शन का अवसर मिले। यहाँ पर इतना तो मुझे कह ही देना चाहिए कि जिस समय मैं इस तरह के परोपकारों की योजना रच रहा था, उस समय भी हृदय के छिपे हुए भाग में मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं जो-कुछ कर रहा हूँ वह ठीक नहीं है; किन्तु, जैसा कि प्रायः होता है, मेरी बुद्धि और कल्पना ने आत्म-विवेक की आवाज़ का गला घोंट दिया।

इसी समय मर्दुमशुमारी का काम हो रहा था। मैंने सोचा, उस परोपकार-कार्य को प्रारम्भ करके अपनी इच्छा को पूरा करने का यह अच्छा मौक़ा है। ग़रीबी के प्रति अमीरों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए मैंने यह तरकीब निकाली। मैंने रुपया एकत्र करना प्रारम्भ किया और ऐसे आदमियों की सूची तैयार करने लगा कि जो मर्दुमशुमारी के अफ़सरों के साथ घूम-घूमकर ग़रीबों के अड्डे देखें, उनके साथ मिल-जुलकर उनकी आवश्यकताओं को मालूम करें, जिन्हें धन की ज़रूरत

हो उन्हे धन दें, जो लोग काम चाहते हों उन्हें काम दिलायें, उनके लडकों को विद्यालयो मे भरती करें और वृद्धों तथा स्त्रियों को अनाथालय आदि में रखें।

मैंने यह भी सोचा कि जो लोग इस काम को करेंगे उन्हीं की एक स्थायी समिति बना ली जायगी, जो मास्को के विभिन्न भागो मे अपने-अपने लिये काम बांट लेंगे और इस बात का यत्न करेंगे कि अब आगे कोई परिवार अथवा व्यक्ति दरिद्रता के चंगुल में न फँसने पाये और इस तरह पहले ही से खबरगीरी रखते हुए थोडा-थोडा करके दरिद्रता का मूल से ही नाश कर डाला जायगा।

मैं तो अभी से स्वप्न देखने लगा कि भविष्य में भिक्षा-वृत्ति तथा दरिद्रता का नामोनिशान भी नहीं रहा है और इस सुन्दर स्थिति को अस्तित्व में लाने का कारण भी मैं ही हूँ। मैं सोचने लगा कि तब हम लोग जो कि अमीर है, मज़े में पहले ही की तरह आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे, शानदार मकानों में रहेंगे, पाँच प्रकार के भोजन करेंगे, गाड़ियों में बैठकर भोजों तथा नाटकों में सम्मिलित होने जायेंगे और फिर कभी ऐसे दृश्यों से हमारे मज़े में ख़लल न पड़ेगा कि जैसे ल्यापिन-गृह में मैंने देखा था। यह तरकीब सोचकर मैंने उसपर एक लेख लिखा और उसे छपने के लिए भेजने से पहले ही मैं उन मित्रों से मिलने गया कि जिनसे मुझे सहयोग की आशा थी; और उस दिन जितने लोगो से मैं मिला, सभी से, खासकर धनिक लोगों से, अपनी योजना का जिक्र किया।

प्रत्येक मनुष्य ने बड़ी गम्भीरता के साथ ध्यानपूर्वक मेरी बातों को सुना, लेकिन हर जगह मैंने देखा कि मेरे श्रोता जिस समय यह समझ पाते कि मैं क्या कहना चाहता हूँ तो उन्हे एक तरह की परेशानी सी होने लगती और उनकी यह परेशानी, मुझे विश्वास है, प्रायः मेरे ही लिए होती थी। क्योंकि, मैं जो कुछ कहता था उसे वे केवल मूर्खता ही समझते थे। ऐसा मालूम होता था कि मेरी बात को तो वे पसन्द न करते थे,

लेकिन किसी सभ्यता-वश क्षण-भर के लिए मेरी उन मूर्खतापूर्ण बातो से सहमत होने के लिये मजबूर-से हो जाते।

लोग कहते—'हाँ, हाँ, बेशक, यह तो बड़ा ही अच्छा है। यह असम्भव है कि किसी मनुष्य को आपकी योजना से सहानुभूति न हो। आपका विचार बड़ा सुन्दर है, मेरे मन में भी यह ख़याल उठा था'''' लेकिन क्या कहें, यहाँ के लोग बड़े लापर्वाह हैं। इसीलिए बडी सफलता की आशा करना भी व्यर्थ है? लेकिन हाँ, मुझ से जो-कुछ बन सकेगी इस काम में सहायता देने के लिये तैयार हूँ।

प्रायः सभो से मुझे इस प्रकार का उत्तर मिला। वे अपनी इच्छा से या मेरी दलोलों से क़ायल होकर मेरी बात मानते हो, यह बात नही, बल्कि ऐसा मालूम होता था कि किसी दूसरी ही वजह से, शायद मेरे व्यक्तित्व के कारण; मेरी बात को अस्वीकार करना उनके लिए बड़ा ही कठिन हो रहा था।

यह मैं इसलिए कहता हूँ कि जिन लोगों ने आर्थिक सहायता देने का वचन दिया था, उन्होंने यह न बताया कि वे कितना धन देंगे और इसलिये खुद मुझे ही कहना पड़ता था—'तो क्या मैं आशा करूँ कि आपसे इतने रुपयों की सहायता मिलेगी?' और उनमें से एक ने भी रुपया नहीं दिया। बात यह है कि जिस चीज को हम पसन्द करते हैं उसके लिए हम फौरन ही रुपया देने के लिए तैयार हो जाते हैं। लेकिन यहाँ जिन लोगों ने सहानुभूति प्रकट की अथवा धन देने को कहा, उनमे से एक ने भी रुपया निकाल कर दिया नही।

उस दिन, सबसे अन्त में, जिस घर में मै गया था वहाँ एक बडी-सी मित्र-मण्डली एकत्र थी। घर की मालकिन बहुत वर्षों से परोपकार के कामों में योग दिया करती थी। कई गाडियाँ द्वार पर खडी थी और हाल के अन्दर क़ीमती वर्दियाँ पहने चपरासी बैठे हुए थे। विशाल बैठकख़ाने मे जवान और बूढ़ी महिलायें अमीराना पोशाक और जवारात पहने हुए नवयुवको से बातें कर रही थीं और साथ ही ग़रीबों की

सहायता के निमित्त लाटरी के लिए गुडियाँ सजाती जाती थीं।

एकत्र हुई मण्डली तथा बैठकखाने के इस दृश्य से मेरे हृदय को बड़ी चोट पहुँची। एक तो खुद इन लोगो की सम्पत्ति ही करोड़ो की थी, दूसरे इनके वस्त्राभूषणों, गाड़ी-घोडो, नौकरो-चाकरों आदि पर जो रक़म ख़र्च हुई है उसका सूद भी इन महिलाओ के कार्य के मूल्य की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक होगा। इन सब बातों को देखकर ही मुझे समझ जाना चाहिए था कि कम-से-कम यहाँ मुझे अपनी योजना के लिए सहानुभूति पाने की आशा न करनी चाहिए, किन्तु मैं तो एक प्रस्ताव रखने आया था, और यह काम चाहे कितना ही अप्रिय मालूम हो, मुझे तो करना ही था। इसलिए अपने लेख के शब्दों को ही लगभग दोहराते हुए मैंने यह प्रस्ताव उनके सामने रखा।

एक महिला ने कुछ आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। मिज़ाज कमज़ोर होने के कारण ग़रीबों को देखने के लिए जाने में तो वह असमर्थ थीं, पर धन से सहायता करना चाहती थीं। लेकिन वह कितना रुपया देंगी और कब देंगी, इसका कुछ भी ज़िक्र न किया। एक दूसरी महिला तथा एक नवयुवक ने कहा कि वे ग़रीबो को देखने जायँगे; किन्तु उनकी इस कृपा का लाभ मुझे मिला नहीं। वह मुख्य सज्जन कि जिन्हें सम्बोधित करके मैंने सब बातें कहीं, बोले कि साधनों का अभाव होने के कारण कुछ अधिक नहीं हो सकेगा। बात यह है कि मास्को के तमाम धनिक, जिनसे इस कार्य मे सहायता की आशा की जा सकती थी, अपनी-अपनी इच्छानुसार दान कर चुके हैं और उसके बदले उन्हें ख़िताब, तमग़े तथा अन्य मान-सूचक बातें भी प्राप्त हो चुकी हैं। अमीरों से रुपया निकालने का यही एक ज़बरदस्त तरीक़ा है, किन्तु सरकार अब फिर से मान-वर्षा करे, यह कठिन है।

उस दिन लौटकर जब मैं बिस्तर पर लेटा तब मुझे केवल इतना ही ख़याल न था कि मेरे इस विचार से कुछ होनेवाला नहीं है, बल्कि मेरे मन में कुछ ऐसी लज्जाजनक भावना थी कि जैसे मैं सारे दिन कोई हेय

और घृणित कार्य करता रहा होऊँ। किन्तु फिर भी मैं अपने काम से बाज़ न आया।

पहली बात तो यह थी कि काम शुरू कर दिया था और अब झूठी लज्जा-वश उसे छोड़ते न बनता था। दूसरे, यदि मैं सफल हो जाऊँ तब तो कोई बात ही न थी और नहीं तो फिर भी मैं जबतक इस काम में भाग लेता रहता, तबतक अपने जीवन को उसी तरह मज़े से बिता सकता था, जैसा कि अबतक करता आया था। किन्तु इस योजना के असफल हो जाने पर तो मुझे अपना विलासी रहन-सहन छोडने के लिए मजबूर होना पड़ता और इस बात से अनजान में ही मैं कुछ डरता-सा था। इस-लिए मैंने अपने अन्तर की आवाज़ को दबा करके जो काम शुरू किया था, उसे ही जारी रखा।

मैंने अपना लेख छपने के लिए भेज दिया और मनुष्य-गणना से सम्बन्ध रखनेवाली टाउनहाल की एक सभा में झिझकते और लजाते हुए उसकी एक प्रूफ़-कापी पढ़कर सुनायी। उस समय कुछ कॉप-सा रहा था और मैंने देखा कि मुझे श्रोतागण भी मेरे जैसे ही परेशान थे।

मैंने जब पूछा कि क्या मनुष्य-गणना के प्रबन्धक मेरे इस प्रस्ताव को पसन्द करेंगे कि वे अपने पदों को इसलिए स्वीकार करें कि वे सभ्य-समाज तथा दीन-वर्ग को आपस में मिलाये रखने के लिए कड़ी का-सा काम कर सकें, तो मैंने देखा कि मेरे सवाल के उत्तर मे केवल एक भद्दी-सी खामोशी छा गयी।

तब दो उपस्थित सज्जनों ने व्याख्यान दिये, जिससे मेरे प्रस्तावों का भद्दापन कुछ सुधरता-सा दिखायी दिया। वक्ताओं ने साधारणतः मेरी योजना को पसन्द करते हुए उससे सहानुभूति प्रकट की, किन्तु साथ ही उसकी अव्यावहारिकता की ओर भी संकेत किया। इससे तत्काल ही लोगों को कुछ सन्तोष होता हुआ दिखायी दिया; लेकिन यह समझकर कि शायद मैं अब भी सफल हो जाऊँ मैं पूछ बैठा कि क्या ज़िला-प्रबन्धक अलग-अलग इस काम को करने के लिए राज़ी हो जायँगे और

मनुष्य-गणना के समय ग़रीबों की ज़रूरतों को समझकर बाद को भी उनकी सेवा करने के लिए अपने-अपने पदों पर बने रहेंगे ? इस प्रश्न ने तो फिर सबको गड़बड़ी में डाल दिया। उनकी नज़रें मानों कह रही थीं—'तुम्हारी इन मूर्खतापूर्ण बातों को सिर्फ तुम्हारी ख़ातिर अबतक हमने सुन लिया; लेकिन तुम फिर भी नहीं मानते।'

उनके मुख पर तो यही भाव था; लेकिन ज़बान से उन्होंने हामी भरी; और इसके बाद दो जनों ने कहा—'यह तो हमारा नैतिक कर्तव्य है।' ये शब्द उन्होंने कहे तो अलग-अलग, लेकिन इस ढंग से कि जैसे दोनों ने पहले ही से सलाह कर रखी हो। मनुष्य-गणना के लिए लेखकों का काम करने के लिए जिन विद्यार्थियों ने अपनी सेवायें अर्पित की थीं उनपर भी मेरी बातों का वैसा ही असर पड़ा। मैंने देखा कि जब मैं उन से बातें कर रहा था तब वे एक प्रकार की घबराहट के साथ मेरी ओर देख रहे थे, जैसे कि किसी भले आदमी को व्यर्थ की बातें करते देखकर अवाक् होकर हम उसकी ओर देखते रह जाते हैं।

पत्र-सम्पादक को जब मैंने अपना लेख दिया, तब उसपर भी वैसा ही असर पड़ा और मेरे पुत्र पर, मेरी स्त्री पर तथा अन्य अनेक जनों पर भी मेरी बात का एकदम वही प्रभाव हुआ।

हरएक आदमी सुनकर कुछ परेशान-सा हो जाता था, किन्तु मेरे इस विचार को अच्छा बताना प्रत्येक मनुष्य आवश्यक समझता था और अपनी पसन्दगी ज़ाहिर करने के बाद फ़ौरन ही योजना की सफलता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करने लग जाता था, और न जाने क्यों, सभी लोग, बिना किसी अपवाद के, समाज की उदासीनता तथा लोगों की उत्साह-हीनता का बुरा-भला कहने लगते।

मेरा दिल अब भी कहता था कि मैं ठीक काम नहीं कर रहा हूँ, इससे कुछ लाभ न होगा। फिर भी मैंने अपना लेख छपाया और मनुष्य-गणना के काम में भाग लेने लगा। आरम्भ में तो मैंने योजना को खींच-कर खड़ा किया था, किन्तु अब वह बरबस मुझे खींचे लिए जाती थी।

: ४ :

मेरी प्रार्थना के अनुसार खमोवनिचेस्की नाम का विभाग मनुष्य-गणना के लिए मुझे सौंप दिया गया। इस विभाग में वे मकानात हैं, जो जनोफ़-भवन कहलाते हैं। पुराने ज़माने में जनोफ़ नामी व्यापारी के वे मकानात थे, पर अब ज़ीनिन नामी व्यापारी के क़ब्ज़े में हैं। मैंने सुन रखा था कि यह विभाग दरिद्रता और व्यभिचार का केन्द्र है, और इसीलिए अधिकारियों से मैंने इस केन्द्र को माँगा था।

नगर-सभा की ओर से नियत हो जाने पर, गणना का कार्य प्रारम्भ होने से कुछ दिन पहले, एक दिन मैं अकेला ही अपने केन्द्र का निरीक्षण करने गया। एक नक्शे की मदद से मैंने शीघ्र ही जनोफ़-भवन का पता लगा लिया। निकोल्स्की लेन की बाईं तरफ़ एक साधारण-सी अन्धकार-पूर्ण इमारत बनी हुई थी, जिसमें कोई द्वार भी दिखायी न देता था। उसकी शक्ल देखकर ही मैं समझ गया कि यही मकान है कि जिसकी मैं तलाश कर रहा हूँ। गली में घुसते ही दस से चौदह वर्ष की उम्र के छोटे-छोटे कोट पहने हुए कुछ लड़के मिले जो बरफ़ पर से सरकने का खेल खेल रहे थे; उनमें से कुछ तो पैरों ही पर खिसकते थे, और कुछ लकड़ी की घोड़ी (skate) पर।

लड़के फटेहाल किन्तु शहरी बालकों की तरह तेज़ और दबंग थे। मैं खड़ा होकर उनकी ओर देखने लगा। इतने ही में उधर से एक बूढ़ी स्त्री निकली, जो फटे हुए कपड़े पहने थी और जिसके गाल सूखकर लटक गये थे। वह पहाड़ी पर चढ़कर स्मोलेन्स्कीं मार्केट को जा रही थी

और थके हुए घोड़े की नाईं बुरी तरह हाँफ रही थी। और कोई जगह होती तो यह बुढ़िया भीख माँगती, किन्तु यहाँ तो वह सिर्फ़ बातें करने लगी।

खेलते हुए बालकों की ओर इशारा करके वह बोली—ज़रा इनकी ओर तो देखो! बस, हर वक्त धूम मचाते रहते हैं। जैसे इनके बाप थे, बस, वैसे ही निखट्टू जनोफ़ ये भी निकलेंगे। ओवरकोट और टूटी टोपी जो लडका पहने हुए था, उसने बुढ़िया की बात सुन ली और खड़े होकर कहा—'गाली क्यों देती है? तू भी तो खुद जनोफ़वाली भूतनी है।'

मैंने लड़के से पूछा, 'क्या तुम यहीं रहते हो?' 'हाँ, और यह भी यहीं रहती हैं! इसी ने तो बूट चुराये थे'—यह कहकर वह बरफ पर से नीचे खिसक गया।

अब तो उस बूढ़ी औरत ने गालियों की झड़ी ही लगादी। बीच-बीच में खाँसी की वजह से उसे रुक जाना पडता था। यह झगड़ा हो ही रहा था कि उसी गली में फटे कपड़े पहने हाथ हिलाता हुआ एक बुड्ढा आदमी आ निकला। उसके एक हाथ में कुछ बिस्कुट थे, और मालूम होता था अभी-अभी उसने शराब का एक गिलास चढ़ाया है। उसने बूढ़ी औरत की गालियाँ सुन ली थीं और उसका ही पक्ष लेकर चिल्लाते हुए कहने लगा—'अरे शैतान के बच्चो, ज़रा खड़े तो रहो।'

यह कहकर धमकाने के लिए उनके पीछे दौड़ा और मेरे पीछे से निकल कर फ़ुट-पाथ पर चढ़ गया। यदि आप आर्बाट§ नामी शहर की फ़ैशनेबल गली में इसे देखते तो इसके लँगड़ेपन, कमजोरी व ग़रीबी बतानेवाली चेष्टा से दंग रह जाते, लेकिन यहाँ तो वह ऐसा मालूम होता था, जैसे कोई खुशहाल हँसमुख मजदूर काम करके शाम को घर वापस जा रहा है।

मैं इस आदमी के पीछे हो लिया। वह नुक्कड पर से मुड़कर बायीं

---

§मास्को की एक गली।

ओर एक गली मे घुसा और घर के सामने से होता हुआ एक सराय के अन्दर घुसकर अदृश्य हो गया। इस गली में उस सराय के अलावा, एक पब्लिक-हाउस और कई छोटे-छोटे भोजनालय थे। यही जनोफ-भवन था। यहाँ की इमारतें, रहने के कमरे, सहन और आदमी—सभी गन्दे, भद्दे और बदबूदार थे। जिनसे मैं मिला, उनमें से अधिकांश अर्ध-नग्न और फटे हुए कपड़े पहने थे। कुछ लोग जा रहे थे और कुछ इस दरवाजे से उस दरवाज़े की ओर दौड रहे थे। दो जने कुछ चिथड़ों का सौदा कर रहे थे। मैंने घूमकर सारी इमारत को देखा और एक गली और एक आँगन में से होता हुआ जनोफ़-भवन के महराबदार रास्ते पर आकर खडा होगया। थोड़ी देर बाद सकुचाते हुए जब मैंने अन्दर प्रवेश किया, मुझे बड़ी ही जघन्य दुर्गन्ध मालूम पडी। आँगन की गन्दगी तो बहुत ही भयानक थी। कोने के पास जब मैं मुड़ा तो मैने छज्जे के पास और जीने के नीचे दौड़ते हुए लोगों के पाँवोंकी आहट सुनी।

पहले एक पतली-दुबली स्त्री, जिसकी आस्तीनें चढ़ी हुई थीं, दौड़ती हुई बाहर आयी। उस स्त्री की पोशाक किरमजी थी; पर उसका रंग उड़ गया था। पैरों में वह जूते पहने थी, पर मोजे नही थे। स्त्री के पीछे मोटे बालोंवाला एक आदमी दौड़ता हुआ आया। वह लाल कमीज पहने हुए और लहँगे की तरह बहुत ही चौडा पायजामा तथा पैरों में रबड़ के जूते पहने हुए था। उस आदमी ने जीने के नीचे औरत को जा पकड़ा और हँसकर कहा—'तुम मुझसे भागकर नहीं जा सकतीं।'

'जरा इन हजरत की बातें तो सुनो!'—इस तरह उस औरत ने बात छेड़ी। वह मनुष्य उसके पीछे भागा-भागा फिरता है, इससे वह अप्रसन्न भी मालूम न देती थी। किन्तु इतने ही में मुझे देखकर उसने क्रुद्ध स्वर में कहा—'किसे देखते हो?' चूँकि मैं किसी व्यक्ति-विशेष के लिए वहाँ नहीं गया था, इसलिए उसका प्रश्न सुनकर मैं कुछ गड़बड़ा-सा गया और वहाँ से चला आया।

इस छोटी-सी घटना ने, मैं जो काम करने चला था, उसे एक बिल-

कुल नये ही रूप में मेरे सामने ला रखा। उस गाली देनेवाली बूढ़ी औरत, हँसमुख वृद्ध, और बरफ पर खिसकनेवाले लड़कों के उस दृश्य ने खासकर मुझपर एक नया ही असर डाला। मैंने सोचा था कि मास्को के अमीरों की सहायता से मैं उनका उपकार कर करूँगा। आज पहली बार मैंने यह समझा कि इन दीन-हीन अभागों के लिए सिर्फ यही प्रश्न नहीं है कि वे किसी प्रकार दुःख-सुख के साथ भूख और सर्दी की मुसीबतों को झेल लें, बल्कि उनके सामने एक समस्त जीवन है। उनके लिए भी प्रत्येक दिन में चौबीस घण्टे होते हैं, जिन्हें किसी-न-किसी तरह उन्हे बिताना ही पड़ेग। मैं अब समझा कि खाने-पीने और सर्दी आदि के प्रवन्ध के सिवा भी उन्हें 'अपने जीवन का ज्यादातर समय हमी लोगों की तरह बिताना है। हमारी ही तरह उन्हे कभी क्रोध आ सकता है और थकावट और सुस्ती भी हो सकती है, जिसे वे दूर करने के लिए हँसना-बोलना चाहेंगे और किसी भी समय या तो वे उदास होंगे या प्रसन्न रहेंगे।

यह वात कितनी ही विचित्र क्यो न मालूम पडे, किन्तु मुझे कहना ही पडेगा कि आज पहली बार मैं अच्छी तरह यह समझ सका कि मैं जिस काम को लेकर चला हूँ वह सिर्फ इतने ही पर समाप्त नही हो सकता कि भेड़ों की तरह खिला-पिलाकर उन्हें वाडे में वन्द कर दिया जाय। इनके खाने और पहनने का प्रवन्ध कर देने भर से ही कुछ न होगा, हमें अन्दर उतरकर इनके साथ मिल-जुलकर इनके दिल को समझाना होगा। जब मैंने देखा कि ये लोग केवल भिखारी ही नहीं हैं, बल्कि इनमें से प्रत्येक व्यक्ति मेरी ही तरह एक मनुष्य है। उसके सुख-दुख का भी एक इतिहास है। मेरी ही तरह उसकी भी कुछ इच्छायें हैं, आशायें हैं। तब, उस समय, एकाएक मुझे मालूम पड़ा कि मेरा काम बडा भारी है और उसके सामने मैं बहुत ही तुच्छ और नितान्त असहाय हूँ। किन्तु काम शुरू होगया था और अब तो उस को चलाना ही था।

: ५ :

मनुष्य-गणना में मुझे सहायता पहुँचाने के लिए जो विद्यार्थी नियत हुए थे वे तो निश्चित तिथि को सवेरे ही अपने घरों से रवाना हो गये, किन्तु मैं जो अपने को परोपकारी आदमी समझता हूँ दोपहर से पहले काम में शरीक न हो सका—और मैं इससे पहले शरीक भी कैसे होता? दस बजे तो मैं बिस्तर से उठा। उसके बाद कॉफी पी और फिर हाजमा ठीक करने के लिए तम्बाकू पी और तब कहीं बारह बजे जाकर मैं जिनोफ-गृह में पहुँचा।

गणना-लेखकों ने अपने मिलने का स्थान एक होटल बताया था। वहीं पुलिस के आदमी ने पहुँचा दिया। मैं अन्दर घुसा तो देखा कि स्थान बहुत गन्दा और वाहियात है। ठीक मेरे सामने पैसा वसूल करनेवाले का स्थान था। बाईं ओर एक छोटा कमरा था, जिसमें मैले कपड़े से ढकी हुई मेज़ें थीं। दाहिनी ओर खम्भोंवाला एक कमरा था, जिसमें खिड़कियों के पास दीवाल से लगी हुई वैसी ही मेज़ें रखी हुई थीं। कुछ लोग इधर-उधर बैठे चाय पी रहे थे, जिनमें से कुछ तो फ़टे-फटाये कपड़े पहने हुए थे और कुछ की पोशाक अच्छी थी। मालूम होता था कि या तो वे मज़दूर थे या छोटे दूकानदार। कुछ स्त्रियाँ भी वहाँ थीं। होटल गन्दा था, लेकिन फिर भी होटलवाले की व्यवहार-कुशल मुद्रा और नौकरों की मुस्तैदी और खुश-मिजाजी से मालूम होता था कि होटल का काम खूब चल रहा है। मैं ज्योंही अन्दर घुसा, एक आदमी मेरे पास आ पहुँचा और वह ओवरकोट उतारने में मदद देने के लिए तैयार हुआ।

वह उत्सुकता-पूर्वक मेरी फ़र्माइश सुनने के लिए खडा था, जिससे वह यह बात प्रकट कर रहा था कि इस होटल के लोग जल्दी और मुस्तैदी के साथ काम करने के आदी हैं।

जब मैंने पूछा कि गणना-लेखक कहाँ हैं, तो इसके उत्तर में एक आदमी ने, जो विदेशी वेष में था और हिसाब की मेज़ के पीछेवाली आलमारी में कुछ चीज़ें सजाकर रख रहा था, आवाज़ लगाकर पुकारा। यह पुकारनेवाला ही होटल का मालिक था। यह कालूगा का रहनेवाला आइवन फ़िडोटिच नाम का एक किसान था, जिसने आधे मकानात किराये पर लेकर दूसरों को अपनी ओर से किराये पर उठा दिये थे। उस की आवाज़ सुनते ही एक १८ वर्ष का दुबला-पतला लडका तेज़ी से सामने आया। उसका चेहरा लम्बा था और नाक कुछ झुकी हुई थी। होटल के मालिक ने कहा—इन महाशय को मुहर्रिरों के पास ले जाओ।

लडके ने तौलिया रख दिया, सफ़ेद कमीज़ और पायजामे के ऊपर एक कोट डाट लिया, एक बडा-सा टोप उठाया और फिर पीछे के दरवाज़े से निकलकर, इमारत को पार करते हुए, छोटे-छोटे तेज़ क़दमों से मेरे आगे-आगे चला। एक गन्दे, दुर्गन्धयुक्त रसोई-घर के दरवाज़े पर हमें एक बूढी औरत मिली, जो एक चिथडे में होशियारी के साथ लपेटे हुए कुछ गला-सडा मांस लिए जा रही थी। हम लोग एक सहन में पहुँचे, बडी ही बुरी दुर्गन्ध आ रही थी और ऐसा मालूम होता था कि वह पाख़ाने में से निकल रही थी, जहाँ बराबर बहुत-से आदमी निवृत्त होने जा रहे थे। यह पाख़ाना तो न था, लेकिन लोग इस काम के लिए उसे इस्तेमाल करने लगे थे। सहन में से गुज़रते समय किसी का भी ध्यान उसकी ओर गये विना नहीं रह सकता था, क्योंकि अन्दर घुसते ही उसमें से दुस्सह दुर्गन्ध आती थी। इस बात का ख़याल रखते हुए कि कहीं उसका सफ़ेद पायजामा मैला न हो जाय, जमे हुए कूडे से बचते-बचाते वह लडका होशियारी से मुझे उन मकानों तक ले गया। जो लोग सहन या छज्जे में से होकर जा रहे थे, सब मुझे देखने ठहर गये। साफ़ मालूम

होता था कि साफ-सुथरे कपडेवाला मनुष्य वहाँ के लिए एक विचित्र बात है।

उस लडके ने एक औरत से पूछा कि क्या वह बता सकती है कि गणना-कर्मचारी किस मकान में गये हैं ? तीन आदमी एक साथ बोल उठे—किसी ने कहा कि वे कुँए के पास हैं, दूसरे ने बताया कि वे वहाँ गये तो थे किन्तु अब निकता आइव-नोविंच के घर चले गये हैं। आँगन के मध्य में एक बूढ़ा आदमी खडा था, जो सिर्फ़ एक कमीज़ पहने हुए था और टट्टी के पास अपने कपडे सँभाल रहा था, उसने कहा कि वे लोग नम्बर ३० में हैं। लडका मुझे नम्बर ३० के मकान की ओर ले चला।

एक अँधेरे और दुर्गन्धपूर्ण रास्ते से हम लोग नीचे की ओर चले जा रहे थे कि इतने में एकाएक एक द्वार खुला और उसमें से कमीज पहने हुए एक शराबी निकला। उसकी सूरत किसानों की-सी न थी। एक धोबिन आस्तीनें चढ़ाये हुए साबुन से भरे हुए हाथों से, चिल्ला-चिल्ला कर, उसे कमरे से बाहर ढकेल रही थी।

जब हम नम्बर ३० पर पहुँचे तो बनिये ने दरवाज़े को खींचा। वह कचूड-कचूड की आवाज़ के साथ खुल गया और उसके खुलते ही साबुन से भरी भाफ और तम्बाकू तथा शराबख़ाने की गन्ध की भाफ निकली। उसके अन्दर बिलकुल अँधेरा था। खिड़कियाँ दूसरी ओर थीं। हम लोग एक टेढे-मेढ़े दालान में पहुँचे, जिसमें कभी दाईं और कभी बाईं ओर जाना पडता था।

बाईं ओर के अँधेरे कमरे में एक स्त्री नाँद में कपडे धोती हुई-सी दिखायी पड रही थी। एक दूसरी स्त्री दाहिनी ओर के एक दरवाज़े में खडी देख रही थी। एक खुले हुए द्वार के पास एक किसान कोच पर बैठा था, उसके जिस्म पर बहुत सारे बाल थे और छाल के जूते पहने हुए था। उसके हाथ घुटनों पर रखे हुए थे और पैरों को हिलाते हुए ग़म-गीनी के साथ अपने जूतों की ओर देख रहा था। रास्ते के अन्त पर एक

कमरे का छोटा द्वार मिला और यहीं पर कर्मचारी थे। यह ३० नम्बर के मकान की मालकिन का कमरा था, जो उसने सारा-का-सारा आइवन फिडोटिच से किराये पर ले लिया था और स्थायी रूप से रहनेवालों अथवा रात में ठहरनेवालों को अपनी ओर से भाड़े पर उठा दिया था।

इस छोटे-से कमरे में एक विद्यार्थी खिड़की के पास अपने कागज़-पत्र फैलाये हुए बैठा था और मजिस्ट्रेट की भाँति एक आदमी का बयान ले रहा था। यह आदमी एक कमीज़ और एक वास्कट पहने, मालकिन के मित्र की हैसियत से उसकी तरफ़ से जवाब दे रहा था। मकान की मालकिन—जो एक बुड्ढी स्त्री थी—खुद मौजूद थी और उसके साथ ही दो किरायेदार भी तमाशा देखने आ खड़े हुए थे। मैं जब कमरे में घुसा तो कमरा खूब भरा हुआ था। मैं इन लोगों के बीच में से होता हुआ मेज तक पहुँचा और उस विद्यार्थी से हाथ मिलाया। विद्यार्थी ने अपने प्रश्न जारी रखे और मैं वहाँ के लोगों से मिलकर अपने मतलब की बातें पूछने लगा।

लेकिन मालूम हुआ कि वहाँ ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसपर मैं अपनी परोपकार-वृत्ति चरितार्थ करूँ। उन कमरों की मालकिन, वहाँ की ग़रीबी को देखते हुए, खुशहाल कही जा सकती थी, हालाँकि उसके कमरे निहायत गन्दे और वाहियात थे। यदि ग्राम्य दरिद्रता से मुकाबिला करें तो कह सकते हैं कि वह ऐशो-आराम से रहती थी। उसके पास परों का बिछौना था, उसके ऊपर एक चादर थी, एक चायदानी, एक रुआँदार कोट, और तश्तरियों व कटोरियों से सजी हुई एक आलमारी भी थी। गृह-स्वामिनी का मित्र भी देखने में वैसा ही खुशहाल मालूम होता था और उसके पास एक घड़ी और चेन भी दिखायी पड़ती थी। किरायेदार ग़रीब थे सही, पर उनमें से भी कोई ऐसा न था कि जिसे एकदम सहायता की आवश्यकता हो।

सिर्फ तीन व्यक्तियों ने सहायता के लिए प्रार्थना की। उस कपड़े धोनेवाली स्त्री ने कहा कि उसके पति ने उसे छोड़ दिया है। दूसरे एक

वृद्ध विधवा ने, जिसके पास रोज़ी का कोई सहारा न था और तीसरे उस किसान ने, जो कि छाल के जूते पहने हुए था और जिसने कहा कि उस दिन उसे कुछ भी खाने को नहीं मिला था। किन्तु अधिक जाँच-पड़ताल करने पर यह बात मालूम हुई कि इनमें से किसी को भी मदद की ख़ास ज़रूरत नहीं है और इनको सच्ची सहायता पहुँचाने के लिए यह आवश्यक था कि इनका ज्यादा परिचय प्राप्त किया जाय।

जिस स्त्री का पति उसे छोड़कर चला गया था, उसके बच्चों को किसी आश्रम में रखने का जब मैंने ज़िक्र किया, तब तो वह घबरायी, कुछ देर तक सोचती रही और फिर मुझे धन्यवाद देकर चुप रह गयी। साफ़ मालूम होता था कि यह बात उसे पसन्द न आयी। हाँ, वह प्रसन्न होती, यदि उसे कुछ रुपया मिल जाता। उसकी बडी लडकी कपडे धोने में मदद देती थी और छोटी लडकी बच्चे को खिलाती थी। दूसरी वृद्ध स्त्री ने अनाथालय में रहना स्वीकार किया। पर जब उसके घर को देखा तो मालूम हुआ कि वह बहुत ज्यादा तकलीफ़ में नहीं है। उसके पास एक संदूक़ में कुछ माल था; एक चायदानी, दो प्याले और कुछ डब्बे थे, जिनमें चाय और शक्कर रखी थी। वह मोज़े और दस्ताने बुनती थी और किसी महिला से उसे कुछ वज़ीफ़ा भी मिलता था। किसान को भोजन की अपेक्षा पीने की ही ज्यादा इच्छा थी। उसे जो कुछ भी दिया जाता, वह कलाल के घर ही जाकर ठहरता। इसलिए मैंने देखा कि इन कमरों में रहनेवाला ऐसा एक भी नहीं है कि जिसे कुछ धन देकर मैं अधिक सुखी बना सकूँ। वहाँ सब ग़रीब ही ग़रीब रहते थे, किन्तु उनकी ग़रीबी एक विचित्र प्रकार की थी।

मैंने उस वृद्ध स्त्री का, धोबिन का और किसान का नाम अपनी नोटबुक में लिख लिया और निश्चय कर लिया कि कुछ-न-कुछ इनके लिए करना होगा। किन्तु मेरा विचार था कि पहले उन लोगों को मदद दूँगा कि जो विशेष रूप से अभागे हैं और इस मकान में आगे चलकर मिलेंगे। मैंने यह भी विचार किया कि हम जो सहायता देनेवाले हैं उसको

बाँटने के लिए एक योजना बनानी होगी, जिससे पहले उनको सहायता पहुँचायी जाय कि जो बहुत ज्यादा हाजतमन्द हैं और उसके बाद इस प्रकार के लोगों के पास पहुँचा जाय, जैसे कि अभी मिले थे।

किन्तु मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ मैंने यही स्थिति देखी। उन्हें सहायता देने से पहले उनकी स्थिति जानने की आवश्यकता थी। ऐसा तो मुझे एक भी नहीं मिला कि जिसे केवल पैसे की सहायता देकर सुखी बनाया जा सकता हो।

मेरा यह कथन कितना ही लज्जाजनक क्यों न हो, किन्तु सच तो यह है कि मैंने जो बात अपने मन में समझ रखी थी वैसा न होने से मुझे एक प्रकार की निराशा-सी हुई। लेकिन जब मैं सभी स्थानों पर घूम आया तब मुझे विश्वास हो गया कि यहाँ के रहनेवाले; मैंने जैसा सोचा था वैसे बिलकुल कंगाल नहीं है, बल्कि मैं जिन लोगों मे रहता हूँ, उनसे बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। जैसा कि हम लोगों में होता है वैसा ही इन के यहाँ भी था। इनमें भी कुछ तो नेक आदमी थे और कुछ बुरे, कुछ सुखी थे और कुछ दुखी। उनमें जो दुखी थे, वे हम लोगों में रहने पर भी वैसे ही दुखी रहते, क्योंकि उनके दुःख का कारण बाहर नहीं, उनके ही अन्दर था और ऐसा था जो रुपये से दूर नहीं किया जा सकता।

: ६ :

इन मकानों के रहनेवाले शहर के सबसे नीची श्रेणी के लोग थे और मास्को में उनकी संख्या लगभग एक लाख के थी। यहाँ सभी प्रकार के लोग रहते थे। छोटे-छोटे व्यापारी और गृह-स्वामी, जूते बनानेवाले मोची और ब्रश बनानेवाले कारीगर, बढ़ई और ताँगे हाँकनेवाले, दर्ज़ी और अन्य लोग जो खुद अपनी ही तरफ़ से स्वतन्त्र धन्धा करते थे, वहाँ दिखायी पडते थे। कपडे धोनेवाली स्त्रियाँ, खोमचेवाले तथा पुरानी चीज़ों को बेचनेवाले, सूद पर रुपया उठानेवाले, तथा मज़दूरी करनेवाले लोगों के साथ-साथ इसी मकान में भिखारी और वेश्यायें भी दीखती थीं।

यहाँ पर ऐसे भी बहुत-से लोग रहते थे, जैसे कि मैंने ल्यापिन-गृह के सामने देखे थे। किन्तु इस जगह वे मज़दूरों में बिलकुल मिल-जुल गये थे। वहाँ पर मैंने जिन लोगों को देखा था उनकी बुरी दशा थी, जो-कुछ उनके पास था वह सब खाने-पीने में उडा दिया था और होटल में से निकाले जाने पर भूख से दुखी और सर्दी से काँपते हुए ल्यापिन-गृह में घुसने की इस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जैसे कोई स्वर्ग में प्रवेश करने के लिए तपस्या करता है। वे सदा इस बात की आशा लगाये रहते थे कि कोई आये और गिरफ्तार करके उन्हें जेल भेज दे, ताकि वे सरकार के ख़र्चे से घर पहुँच जायँ। उसी तरह के बहुत से आदमियों को यहाँ मैंने मज़दूरों में मिला हुआ देखा, जिनके पास स्थान का किराया देने के लिए कुछ कोपक थे और खाने-पीने के लिए शायद एक-दो रुबल भी उनकी जेब में पडे हुए थे।

एक ख़ास बात यह थी कि ल्यापिन-गृह में जो ख़याल मेरे दिल में पैदा हुए थे, वे यहाँ न हुए, बल्कि इसके विपरीत पहले चक्कर में मेरे और विद्यार्थियों के मन पर जो असर पड़ा, वह तो एक प्रकार से आनन्दमय था—किन्तु एक प्रकार से आनन्दमय था, ऐसा क्यों कहूँ? यह तो ठीक नहीं है। इन लोगों के सहवास से जो भाव हृदय में उत्पन्न हुआ था वह विचित्र भले ही लगे—सरासर आनन्द से परिपूर्ण था। इनके सम्बन्ध मे पहली बात तो मेरे मन में यह पैदा हुई कि यहाँ रहनेवाले लोगों में अधिकांश मज़दूर हैं और वे प्रायः बहुत ही नेक तबीयत के है। मैंने इन लोगों को प्रायः काम करते ही पाया। धोबिने नाँद में कपड़े धो रही थीं, बढ़ई बसूले चला रहे थे और मोची जूते बनाने में लगे हुए थे। छोटे-छोटे कमरे लोगो से भरे हुए थे और हँसी-खुशी तथा फुर्ती के साथ काम हो रहा था। मज़दूरों के पास पसीने की, मोचियों के पास चमड़े की और बढ़इयों के पास लकड़ी के छोल की गन्ध आ रही थी। कभी-कभी किसी राग की ध्वनि भी हमारे कान में आ पड़ती थी और मज़बूत खुले हुए हाथ फुर्ती और होशियारी के साथ खटाखट काम कर रहे थे।

जहाँ कहीं हम गये, लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक हमारा स्वागत किया और सब हमसे मेहरबानी से पेश आये। खुशहाल लोगों के यहाँ जब जाते है तो वे अपनी महत्ता और कारगुज़ारी दिखाने तथा आनेवालों की वास्तविक स्थिति जाँचने की कोशिश करते हैं। पर यहाँ काम के समय जब हम उनके सामने जा खड़े हुए तो उनमें इस प्रकार की कोई उत्सुकता दिखायी न पड़ी, बल्कि इसके प्रतिकूल उन्होंने हमारे प्रश्नों का उत्तर बड़ी ही शान्ति के साथ दिया। हाँ, कभी-कभी इस प्रकार का मज़ाक ज़रूर करते थे कि गणना किस हिसाब से की जाय—अमुक मनुष्य तो दो के बराबर है और अमुक दो मनुष्यों को मिलाकर एक मे लिखना चाहिए।

बहुत-से लोगों को हमने भोजन करते अथवा चाय पीते हुए पाया

और जब कभी हम जाकर सलाम करते तो हर जगह से यही आवाज़ आती, 'आइए, कुछ नाश्ता कीजिए !' और उनमें से कुछ लोग तो इधर-उधर हटकर हमारे लिए स्थान भी कर देते थे। हमने तो समझा कि यहाँ खानाबदोशों की बस्ती होगी, किन्तु कुछ कोठरियाँ तो ऐसी थीं कि जिनमें वे ही किरायेदार मुद्दत से रहते चले आते थे। एक बढ़ई और उसका नौकर तथा एक मोची एक दूसरे कारीगर के साथ अब जिस कोठरी मे रहते हैं उसीमें बराबर दस वर्ष से रह रहे हैं। मोची के यहाँ कूड़ा बहुत था, और जगह के लिहाज़ से आदमियों की भीड़ भी ज्यादा थी, फिर भी काम करनेवाले खुश थे। एक मज़दूर के साथ बात करके मैंने यह बात जाननी चाही कि उसकी स्थिति कैसी है और अपने मालिक का वह कितना क़र्ज़दार है; किन्तु वह मेरा मतलब न समझकर अपने सुख और स्वामी के भले व्यवहार की चर्चा करने लगा।

एक कोठरी में कोई बूढ़ा आदमी अपनी स्त्री के साथ रहता था, वह फल बेचने का रोज़गार करता था। उसका कमरा साफ़, गर्म और सामान से सजा हुआ था। फ़र्श पर चटाई बिछी थी, जो वह अपने फलों के भण्डार से उठा लाया था। कुछ सन्दूकें, एक आलमारी, एक चायदानी और कुछ बर्तन भी थे। घर के एक कोने मे कई मूर्तियाँ थीं, जिनके सामने दो चिराग़ जल रहे थे। दीवाल की खूँटियों पर सुन्दर कोट टँगे हुए थे और उनपर कपड़ा ढका हुआ था। उस वृद्धा के मुँह पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं, वह दयालु और बातूनी तबीयत की थी और अपने शान्त सिलसिलेवार जीवन से सन्तुष्ट और सुखी मालूम पड़ती थी।

होटल तथा इन मकानों का मालिक आइवन फ़्रिडोटिच घर में से निकलकर कुछ दूर तक हमारे साथ आया। वह हँसमुख हो किरायेदारों से मज़ाक़ करता, उनका नाम अथवा उपनाम लेकर पुकारता और संक्षेप से उनका हाल सुनाता जाता था। ये सब हमारे ही जैसे मनुष्य थे। मार्टिन सिमेनो विचीज़, पीटर पेट्रोविचीज़, मार्या इवान बनास इनमें

से कोई भी अपने को दुखी नहीं समझता था और वास्तव में हममें और उनमें कोई अन्तर भी न था।

हम तो घर से यह सोचकर निकले थे कि कुछ भयङ्कर दृश्य हमें देखने पड़ेंगे, किन्तु यहाँ हमने जो-कुछ देखा वह भयङ्कर तथा अशान्ति-कर नहीं था बल्कि उन्हें देखकर उनके प्रति दिल में आदर का भाव पैदा हुआ। इस प्रकार के सुखी लोग वहाँ इतनी अधिक संख्या मे थे कि कुछ दुर्दशा-ग्रस्त, फटे चिथड़े पहने, बे-रोज़गार मनुष्य जो वहाँ कभी-कभी दिखायी पड़ते थे, उनसे हमारे हृदय-पट पर अङ्कित चित्र का प्रभाव नष्ट न होता था। किन्तु इन बातों का जो असर मेरे दिल पर पड़ता था, वह विद्यार्थियों पर न होता था। वे तो केवल समाज-शास्त्र का एक उपयोगी कार्य समझकर उसे कर रहे थे। पर मैं तो परोपकारी था, मै तो यह सोचकर आया था कि इस मकान में जो दीन-दुखी, अनाथ और पतित मनुष्य रहते होंगे, मैं उनकी मदद करूँगा। किन्तु यहाँ आया तो दीन-दुःखी, अनाथ और पतित मनुष्यों के बदले एकदम शान्त, सन्तोषी, सुखी, नेक और मेहनती आदमी देखने को मिले।

मुझे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि जिन लोगों को किसी प्रकार की सहायता की ज़रूरत थी उन्हें सहायता पहुँचानेवाला कोई न कोई माई का लाल मिल गया है। यह सहायता पहुँचानेवाले हैं कौन? कोई बाहर के आदमी नहीं बल्कि सहायता पहुँचानेवाले यही लोग थे कि जिन्हें दीन, दुखी और पतित जानकर मैं उभारने आया था। यह सहायता कुछ दी भी इस ढंग से गयी थी कि वैसा करना मेरे लिए एकदम ही अशक्य था। एक निचले छोटे कमरे में त्रिदोष-ज्वर से सतप्त एक बूढ़ा आदमी पड़ा था। इस संसार में उसका सगा-सम्बन्धी कोई न था। फिर भी एक स्त्री—एक विधवा स्त्री, जिसके एक छोटी लड़की थी, जो बुड्ढे से बिलकुल अपरिचित थी, जो उसके सामनेवाले कोने में रहती थी, उसकी सेवा-सुश्रूषा कर रही थी, और अपने पैसे ख़र्च करके उसकी चाय और दवा-दारू का प्रबन्ध करती थी। एक दूसरे कमरे में एक औरत रोग-ग्रस्त

अवस्था में पड़ी हुई थी। वेश्या-वृत्ति से गुज़ारा करनेवाली एक शहरी औरत उसके बच्चे को खिलाती और दूध पिलाती थी। और दो दिन से अपने अभागे धन्धे को बन्द कर रखा था। एक दर्जी ने, खुद के तीन बच्चे होते हुए भी, एक अनाथ लड़की को पालने के लिए घर में रख लिया था।

बस, तो अब दुखी लोगों में केवल इन्हीं की गणना की जा सकती थी—आलसी मनुष्य, बिना काम-काजवाले कर्मचारी तथा नौकर, भिखारी, शराबी, वेश्यायें और बालक, जिनकी स्थिति को पैसा देकर सुधारना असम्भव था। उन्हें सच्ची सहायता पहुँचाने के लिए यह ज़रूरी था कि किसी प्रकार की मदद देने के पहले उनकी परिस्थिति का ग़ौर से अध्ययन किया जाय और फिर उनकी देख-रेख रखते हुए स्थिति के अनुसार उन्हें जिस प्रकार की सहायता ज़रूरी हो, वह दी जाय। मैं तो ऐसे दीन-दुखियो की तलाश में था कि जिन्हें अपने ढेर-के-ढेर धन में से कुछ देकर सहायता पहुँचाऊँ, किन्तु ऐसा कोई भी मुझे मिला नहीं कि जिसे केवल धन देकर मैं उसके जीवन को सुखी बना सकूँ। मैंने जितने आदमी देखे, उनमें से कोई भी ऐसा न था, जिसके लिए पर्याप्त समय दिये बिना केवल धन देकर ही उसका उद्धार किया जा सके।

: ७ :

मैंने जिन दुखी लोगो के नाम नोट किये थे, मेरी कल्पना में उनकी तीन श्रेणियाँ वन गयी थीं । एक तो वे लोग थे, जो अपनी पहले की रोज़ी गँवा बैठे थे और उसे फिर से पाने के इच्छुक थे । इस प्रकार के लोग ऊँची तथा नीची दोनों ही तरह की जातियों में थे। दूसरे नम्बर पर वेश्यायें थीं और इस मकान में उनकी संख्या बहुत अधिक थी। तीसरे वर्ग मे बालक थे। मेरी नोटबुक में सवसे अधिक संख्या पहली श्रेणी के लोगों की थी कि जो अपनी रोज़ी गँवा बैठे थे और उसे फिर से प्राप्त करने के इच्छुक थे। इन मकानों के मालिक आइवन फिडोटिविच के साथ हम लोग कई कमरों मे गये और लगभग हर जगह ही वह हमसे कहता—"यहाँ गणना-पत्र तुम्हें स्वयं न भरना पडेगा, फ़लाँ आदमी यहाँ रहता है, वह खानापुरी कर देगा, बशर्ते कि पिये हुए न हो ।"

मकान मालिक इसके बाद उस मनुष्य का नाम और उसके साथ ही उसके कुटुम्ब का नाम जोडकर पुकारता और प्रत्येक मनुष्य की सूरत से मालूम होता था कि पहले वह अवश्य अच्छी हालत मे रहा होगा। उसकी आवाज़ सुनकर दरिद्रतावस्था को प्राप्त हुआ कोई सद्गृहस्थ अथवा कर्मचारी मकान के किसी अँधेरे कोने में से निकलकर आता । प्राय. ये मनुष्य नशे में होते थे और ठीक तरह से कपडे भी नहीं पहने होते थे। जो आदमी नशे में न होता, वह खुशी से सौंपे हुए काम को करने के लिए तैयार हो जाता। काम को बड़ी जल्दी समझ लेता और समझ

गया है, यह बताने के लिए अपना सर हिलाता, सामने नज़र उठाकर विद्वत्तासूचक आलोचना भी करता और हमारा साफ़ छपा हुआ लाल रंग का काग़ज़ काँपते हुए हाथ- से लेकर पास खड़े हुए पड़ोसियों की ओर धिक्कार की दृष्टि से देखता, मानों बड़े गर्व के साथ यह कहता कि आजतक तुमने मेरी बड़ी अवहेलना की, पर आज मेरी पढ़ाई का प्रताप देखो। जिस संसार में इस प्रकार के लाल काग़ज़ छपते हैं और जिसमें वह स्वयं पहले रहता था, उसके साथ फिर से सम्बन्ध स्थापित होने से वह बहुत प्रसन्न है, यह स्पष्ट मालूम पड़ता था। ऐसे मनुष्य से उसके पूर्व जीवन के विषय में जब कभी मैं पूछता तो वह रटे हुए स्तोत्रों की भाँति उत्साह के साथ अपने सिर पर आयी विपत्तियों का इतिहास सुना देता। ख़ासकर इस बात का ज़िक्र वह अवश्य करता कि अपनी योग्यता के कारण पहले वह कितने ऊँचे पद पर था।

जिनोफ़-गृह में ऐसे लोगों की बस्ती जिधर देखो, उधर फैली हुई थी। एक विभाग में तो ऐसे स्त्री-पुरुष बहुत अधिक संख्या में थे। वहाँ जब हम लोग पहुँचे तो आइवन फिडोटिविच ने कहा—"यह हमारे सद्गृहस्थों का विभाग है।" मकान भरा हुआ था, सभी किरायेदार वहाँ मौजूद थे। उस सारे मकान में इस प्रकार के दीन-हीन वृद्ध जिनकी संख्या लगभग ४० थी, और निस्तेज निराश युवक और कहीं देखने में न आये। सबकी कहानी एक ही-सी थी, बस अन्तर केवल इतना था कि किसी की कहानी अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच गयी थी और किसी की अभी बीच में ही थी। प्रत्येक मनुष्य या तो खुद मालदार था या उसका पिता, भाई या चाचा धनवान था, अथवा अब भी है, अथवा वह या उसका पिता किसी दिन किसी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित था और फिर पीछे किसी दुश्मन की कारस्तानी से अथवा अपने ही दुर्भाग्य से या किसी आकस्मिक घटना के कारण वह अपना सर्वस्व गँवा बैठा और अब ऐसे वाहियात स्थान और मन्दी हालत में आ पड़ा है कि जहाँ जूँ और खटमलों की हद नहीं, पहनने को फटे कपड़े हैं, पड़ोसी शराबी और चोर हैं, खाने को

सूखी रोटी और नमक के सिवा कुछ नहीं। अब हाथ फैलाकर भीख माँगना ही भाग्य में लिखा है।

इन लोगों के विचार; इनकी वासनायें और स्मृतियाँ सभी भूतकाल में लीन हैं। वर्तमान तो उन्हें एकदम अस्वाभाविक, तिरस्करणीय और मन में न लाने योग्य मालूम होता है। इनके लिए वर्तमान तो जैसे है ही नहीं। उनके पास भूतकाल की मधुर स्मृतियाँ हैं और भविष्य की आशाएँ, जो किसी दिन भी पूर्ण हो सकती हैं और जिनको पूरा करने के लिए बहुत थोड़ी सहायता की आवश्यकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश यह थोड़ी-सी सहायता उनकी पहुँच के बाहर है और इसीलिए किसी का एक वर्ष, किसी के पाँच वर्ष और किसी के जीवन के पूरे तीस वर्ष व्यर्थ ही नष्ट हो गये।

एक आदमी के ऊपर किसीकी मेहरबानी है, लेकिन भले आदमियों की तरह उसके घर पहुँचने के लिए वह विचारा कपड़े कहाँ से लावे? दूसरे को सिर्फ़ इस बात की तङ्गी है कि वह ठीक कपड़े पहनकर और अपना क़र्ज़ा चुकाकर अपने स्थान तक पहुँच जाय। तीसरा जायदादवाला आदमी है, उसको छुड़ाने और अदालत में मुक़दमा लड़ाने के लिए कुछ थोडे-से साधन की ही आवश्यकता है। यदि वह सहायता मिल जाय तो मुकदमा उसके हक में ही फ़ैसल होगा। यह बात एकदम ही निश्चित है और इसके बाद तो फिर उसे किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं। हरएक का यही कहना है कि अपनी असली और स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करने के लिए कुछ बाहरी मदद की आवश्यकता है।

यदि मैं अपनी दानवीरता के अभिमान में चूर न होता तो यह बात समझ सकने के लिए कि इनकी दुर्दशा किसी प्रकार की वाह्य सहायता से दूर नहीं हो सकती, मुझे इन वृद्ध और तरुण पुरुषों के दीन-हीन, विलास-क्षीण किन्तु दयालु मुखों की ओर ज़रा ध्यान से देखने भर की ही ज़रूरत थी। मैं समझ जाता कि चाहे कोई कितनी ही सहायता करे; इनका जीवन कभी सुखी हो नहीं सकता, जबतक कि इनके जीवन-सम्बन्धी

ख़याल ऐसे ही बने रहेंगे। मैं यह भी समझ लेता कि ये लोग किसी असाधारण परिस्थिति में नहीं आ पड़े और इनका दुःख सबसे न्यारा और अनोखा नहीं है; बल्कि ये लोग बिलकुल हमारे ही जैसे है; इनके दुःख-सुख भी हमारे ही समान हैं।

मेरे पड़ोस में जो लोग रहते हैं वे जिनोफ-गृह में न रहकर सिवसेव ब्राज़ोक या दयिन्त्रोका मुहल्ले में रहते हैं और ज्वार की रोटी के बजाय भाँति-भाँति के पकवान खाते हैं। इसीलिए वह पहले लोगों की भाँति दुःखी न हों, ऐसी कोई बात नहीं है। उनको भी अपनी मौजूदा हालत से इन्हीं लोगों की भाँति असन्तोष है। ये भी अपने भूतकालीन वैभव के लिए आँसू बहाते हैं और भविष्य की सुन्दर कल्पनायें करते हैं। इनकी भी भविष्य की सुन्दर स्थिति की कामनायें जिनोफ़-गृह के निवासियों की कामनाओं की ही तरह होती हैं; अर्थात् ये सभी ऐसी स्थिति के इच्छुक है कि जिसमे इन्हे खुद तो कम-से-कम काम करना पड़े और दूसरों की मेहनत से अधिक-से-अधिक लाभ ये उठा सकें। इनमें अन्तर केवल बहुत या कम परिणाम का था।

मैं यदि कुछ विचार करता तो यह बात समझ जाता, पर दुर्भाग्यवश मैंने उस समय विचार नहीं किया और न यही समझा, कि इन लोगों का भला मेरे दान से नहीं हो सकता। इनके सुधार के लिए तो जीवन और संसार के सम्बन्ध में इन्होंने जो विचार बना लिये हैं उन्ही में परिवर्तन करने की जरूरत है। किन्तु दूसरे के जीवन में परिवर्तन कराने के लिए आवश्यक है कि अपना आदर्श ऊँचा किया जाय और अपना जीवन सुधारा जाय। किन्तु मेरे अपने जीवन का आदर्श भी उनसे ऊँचा न था—जिन भ्रमात्मक भावनाओं से उन्हें मुक्त करने की ज़रूरत थी, उन्हीं मे अभी तक मैं भी फँसा हुआ था। यदि किसी उदाहरण-द्वारा कहा जाय तो कह सकते हैं कि लोग इसीलिए दुखी नहीं थे कि इनके पास केवल भोजन नहीं था, बल्कि इसलिए कि इनका मेदा बिगड़ गया था और इनको अब भोजन की नहीं, किन्तु हाज़मा दुरुस्त करने के लिए टानिक

की जरूरत थी। मैं यह बात नहीं समझ सका कि इनको भोजन देने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि यह बात सिखाने की ज़रूरत है कि भोजन किस तरह किया जाय। वैसे तो यह बात आगे आवेगी; पर इतना तो मैं कह ही दूँ कि मैंने जिन लोगों के नाम नोट किये थे, उनमें से किसी को भी सच्ची सहायता नहीं पहुँचा सका, हालाँकि जिसने जो कुछ माँगा था, वह उन्हें दिया गया था। इनमें से तीन लोगों से मैं विशेष रूप से परिचित होगया। इन तीनों की कई दफ़ा मदद की; लेकिन आज तीन वर्ष पीछे वे फिर अपनी पहली ही जैसी असहाय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं।

: ८ :

इन अभागों के दूसरे वर्ग में वेश्यायें थीं कि जिनको मदद देने का मैंने विचार किया था। इन स्त्रियों की जिनोफ़-गृह में बड़ी भारी संख्या थी और उनमें किशोर लड़कियों से लेकर भयङ्कर चेहरेवाली बूढ़ी स्त्रियाँ तक थीं, जिनमें मानव आकृति का कोई नामोनिशान तक न था। इन स्त्रियों को सहायता पहुँचाने की इच्छा पहले मेरे मन में न थी, पर पीछे से हुई। उसके पैदा होने का कारण यह है—

एक दिन जब हम निचली मंजिल के एक कमरे में पहुँचे तो विद्यार्थी मालिक-मकान की तलाश करने लगा और मैं उस जगह पर जो लोग मौजूद थे, उनसे प्रश्न करने लगा इस विभाग की रचना इस प्रकार थी। मकान चार गज़ लम्बा और चार गज़ चौडा था और उसके मध्य में अँगीठी थी। अँगीठी के पास से चार पर्दे डालकर चार कमरे निकाले गये थे। इनमें से पहले कमरे में दो दरवाज़े और चार पलंग थे और एक बूढ़ा आदमी तथा एक स्त्री थी। इसके बाद एक लम्बा; किन्तु तङ्ग-सा कमरा था, इसमें मकान का मालिक रहता था, जो ऊन का भूरा कोट पहने था। उसका रङ्ग फीका था, किन्तु वह देखने में सुन्दर मालूम होता था और अभी जवान था। पहले विभाग के बाईं ओर तीसरी कोठरी थी, जिसमें कोई आदमी पडा ऊँघ रहा था और शायद पिये हुए भी था। उसी कमरे में एक स्त्री थी, जो लाल रङ्ग का गाउन पहने हुए थी।

विद्यार्थी अन्तिम कमरे में चला गया और मैं तीसरे कमरे में गया

और गाउनवाली स्त्री से उस सोनेवाले आदमी के निस्बत दरयाफ्त किया।

उसने जवाब दिया कि वह उसका मिलनेवाला है।

मैंने पूछा—तुम कौन हो?

उसने उत्तर दिया—मैं मास्को के रहनेवाले एक किसान की लड़की हूँ।

जब मैंने पूछा, 'तुम्हारा पेशा क्या है?' तो उसने कोई उत्तर न दिया, चुपचाप हँसने लगी।

यह समझकर कि शायद उसने मेरे प्रश्न को समझा नहीं। मैंने फिर पूछा—तुम्हारी गुज़र किस तरह होती है?

वह बोली—मैं कोठे पर बैठती हूँ।

मैं उसकी बात नहीं समझा, इसलिए एक बार फिर पूछा—तुम अपनी गुज़र के लिए क्या करती हो? उसने कोई जवाब न दिया, केवल हँसती रही। चौथे कमरे से भी कुछ स्त्रियों के हँसने की आवाज़ आ रही थी।

गृहस्वामी अपने घर से निकलकर हमारे पास आया। उसने मेरे प्रश्न और उस स्त्री के उत्तर, मालूम पडता है, सुन लिये थे। उसने तीव्रता से उसकी ओर देखा और मेरी ओर घूमकर कहा—'यह वेश्या है!' उस के ढंग से मालूम पड़ता था कि वह इस बात से खुश था कि वह इस सरकारी शब्द से वाकिफ है और उसका शुद्ध उच्चारण कर सकता है। यह कहकर और सन्तोषपूर्ण मुस्कान के साथ मेरी ओर देखकर वह औरत की तरफ फिरा और उसकी तरफ मुँह फिरते ही उसके चेहरे का भाव बदल गया। अत्यन्त घृणासूचक और तेज़ स्वर में, जैसे कि कोई कुत्ते को दुतकारता है, उसकी ओर बिना देखे ही कहा—क्यों मूर्खों की-सी बातें करती है? सीधी तरह यह क्यों नहीं कहती कि मैं वेश्या हूँ? क्या तुझे अपना नाम भी मालूम नहीं?

उसके बात करने के ढंग से मुझे चोट लगी।

मैंने कहा—उसे लज्जित करना हमें शोभा नहीं देता। यदि हम सब

ईश्वर की आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करते, तो इस प्रकार का कोई व्यक्ति ही न होता।

गृहस्वामी से बनावटी हँसी के साथ कहा—हाँ, बात तो ठीक है।

इसीलिए उनकी भर्त्सना न करके हमें उनपर दया करनी चाहिए। इसमें उनका क्या अपराध है ?

मुझे यह ठीक याद नहीं कि मैंने उस समय क्या कहा, पर यह याद है कि उसकी तिरस्कारपूर्ण बातें सुनकर मुझे बड़ी अरुचि हुई। जिस घर में वे स्त्रियाँ थीं, उसीमे खड़े होकर वह उन्हें वेश्या कह रहा था। मुझे उस स्त्री पर भी दया आयी और अपने मन के ये दोनों भाव मैंने उस समय प्रकट कर दिये।

ज्योंही मैंने ये बातें कहीं, त्योंही उस कमरे में, जिसमें से औरतों के हँसने की आवाज़ आ रही थी, चारपाई की चरचराहट सुनायी दी और पर्दे के ऊपर, जो छत तक न लगा था, एक बिखरे हुए बालोंवाली का सिर दिखायी दिया। उसकी आँखें छोटी और सूजी हुई थीं, चेहरा लाल अंगारा था। उसके बाद दूसरा और फिर तीसरा सिर दिखायी दिया। वे अपनी चारपाइयों पर खड़ी हुई थीं और तीनों जनीं गर्दन उचकाये, साँस रोके, चुपचाप ध्यानपूर्वक मेरी ओर देख रही थीं।

इसके बाद थोड़ी देर तक दुःखजनक शान्ति रही। विद्यार्थी जो अभी तक हँस रहा था, इस घटना के बाद गम्भीर हो गया, गृहस्वामी गड़बड़ा गया और अपनी आँखें नीची कर लीं और स्त्रियाँ इस आशा से मेरी ओर देख रही थीं कि देखें अब यह क्या कहता है ?

किन्तु मैं सबसे अधिक घबराया हुआ था। मुझे ज़रा भी खयाल न था कि साधारण बोल-चाल में आये हुए शब्द का इतना प्रभाव पड़ेगा। मेरा वह कहना क्या था, क़ब्रिस्तान में मानों किसी देवता ने अमृत सींच दिया हो, जिससे मुर्दा हड्डियाँ फिर से जाग्रत होने लगीं। मैंने तो योंही प्रेम और करुणा से पूर्ण एक शब्द कह दिया था, जिसका इन सब पर ऐसा असर पड़ा, मानों फिर से सजीव हो उठने के लिए वे इसी शब्द की

इन्तज़ार कर रही थीं। वे बराबर मेरी ओर देख रही थीं, मानो सोच रही थी कि देखें अब मेरे मुहँ से क्या निकलता है। मानों वे इस बात की प्रतीक्षा कर रही थीं कि मैं उन शब्दों को कहूँ और उन कामों को करूँ कि जिनसे ये हड्डीयाँ इकट्ठी होनी शुरू हो जायँगी—मांस भी भर जायगा और ये फिर जीती-जागती हो जायँगी।

किन्तु, हाय, मेरे पास अब न तो ऐसे शब्द थे और न ऐसे काम, और न मैं बातचीत के उस ढंग को ही कायम रखने में समर्थ था। मुझे अन्दर ही अन्दर ऐसा भास होने लगा कि मैंने झूठ बोला है, मैं खुद भी उन्हीं की तरह हूँ, मुझे अधिक कुछ कहने का अधिकार भी नहीं, और इसलिए मैं कागज़ पर वहाँ के रहनेवालों का नाम और पेशा लिखने लगा।

इस घटना ने मुझे एक दूसरी ही ग़लती में ला फँसाया। मैं यह सोचने लगा कि इन अभागे जीवों को भी सहायता पहुँचायी जा सकती है। अपने गुमान में मैंने समझा था कि यह काम हो भी बड़ी आसानी से जायगा। मैंने दिल में सोचा, अभी तो हम इन स्त्रियों के नाम लिख लेते हैं और पीछे-से जब हम सब-कुछ लिख लेंगे, तब इन लोगों के लिए कोशिश करेंगे। लेकिन उस समय मैंने यह न सोचा कि ये 'हम' हैं कौन? मैंने सोचा कि हम लोग अर्थात् वही आदमी कि जो पुश्त-दर-पुश्त से ऐसी स्त्रियों को इस दुर्दशा में लाते रहे और अब भी ऐसा करते हैं, एक दिन शुभ मुहूर्त में अचानक, अपनी इस मोह-निद्रा से जाग्रत होकर सारी स्थिति को सुधार डालेंगे। किन्तु यदि मैं उस वार्तालाप का स्मरण करता कि जो उस पतित स्त्री के साथ हुआ था, जो बीमार माँ के बच्चे की शुश्रूषा कर रही थी, तो मैं समझ जाता कि मेरी यह कल्पना कितनी मूर्खतापूर्ण है।

हमने पहले-पहल जब उस स्त्री को बच्चे की सेवा करते देखा तो समझा कि यह लड़का उसीका है, लेकिन जब हमने उसके विषय में पूछा तो उसने साफ-साफ कह दिया कि मैं बाज़ार में बैठनेवाली औरत

हूँ। उसने 'वेश्या' शब्द नहीं कहा। उस भयंकर शब्द का प्रयोग करना तो उस मकान के मालिक के हिस्से में था।

यह औरत बच्चेवाली है, इस कल्पना से उसकी वर्तमान स्थिति से उद्धार करने का विचार मेरे दिल में पैदा हुआ।

मैंने पूछा—क्या यह तुम्हारा बच्चा है ?

उसने उत्तर दिया—'नहीं, यह उस स्त्री का है।'

'तो, तुम क्यों उसकी शुश्रूषा कर रही हो ?'

'उसने मुझसे कहा है। वह मर रही है।'

यद्यपि मेरी धारणा ठीक न निकली, फिर भी मैं उसी ढङ्ग से बात-चीत करता रहा। मैंने उससे पूछा कि वह कौन है और वह इस दशा को कैसे प्राप्त हुई ? उसने खुशी से और साफ-साफ़ अपनी कहानी मुझे सुना दी। वह मास्को में रहनेवाली किसी कारखाने के मालिक की लडकी थी। उसको अकेली छोडकर उसके माता-पिता मर गये। उसकी चाची ने अपने घर ले जाकर उसे पाला-पोसा। चाची के घर से वह अक्सर बाज़ार में आने-जाने लगी। वह चाची भी अब मर गयी थी।

मैंने पूछा—'अपने इस जीवन को बदल डलने की क्या तुम्हारी इच्छा नहीं होती ?' मालूम होता था, मेरे इस प्रश्न ने उसके मन पर ज़रा भी असर नहीं किया। यदि कोई बिलकुल ही असम्भव-सी बात कहे तो उसकी ओर किसी का ध्यान क्योंकर आकर्षित हो ?

ज़रा मुँह बनाकर उसने कहा—लेकिन इस पीले टिकट* वाली को, रक्खेगा कौन ?

मैंने कहा—किन्तु यदि मैं तुम्हारे लिए रसोई बनाने का या कोई ऐसा ही दूसरा काम तलाश कर दूँ तो कैसा रहे ?

यह बात मैंने इसलिए कही थी कि उसका शरीर रसोई बनानेवाली स्त्रियों की तरह ही मोटा-ताज़ा था और चेहरा गोल तथा भोला था।

---

* पीला टिकट वेश्याओं की रजिस्ट्री का सार्टिफ़िकेट होता था।

मेरी यह बात उसे अच्छी नहीं मालूम पडी। उसने कहा—'रसोई बनाना! किन्तु मुझे रोटी पकाना तो आता ही नही।'

उसने कुछ हँसी के साथ यह बात कही थी, किन्तु उसके चेहरे के भाव से स्पष्ट प्रकट होता था कि इस बात के लिए वह राज़ी नहीं है, इतना ही नहीं, रसोई का काम वह अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझती है।

यह स्त्री, जो बाइबिल की विधवा की तरह उपर्युक्त बीमार स्त्री की सेवा में अपना सर्वस्व लगा रही थी, वही अपनी हम-पेशा दूसरी स्त्रियों की भाँति मेहनत-मजदूरी के काम को नीच, तुच्छ तथा तिरस्कार-योग्य समझती थी। काम किये ही बिना निर्वाह करती हुई वह छोटी से बडी हुई थी। और उसका यह जीवन उसके आस-पास रहनेवाले सभी लोगों की दृष्टि में बिलकुल ही स्वाभाविक था। यही उसका दुर्भाग्य था। इसी दुर्भाग्य के कारण वह इस दुर्दशा को प्राप्त हुई थी और अब भी उसी में पडी हुई थी। इसी के कारण वह बाजारों में घूमी-फिरी। हममें ऐसा कौन-सा पुरुष अथवा स्त्री है कि जो जीवन-सम्बन्धी उसकी यह भावना को बदल सके? क्या हममें ऐसे कोई आदमी हैं कि जिनका विश्वास हो कि आलसी जीवन की अपेक्षा मेहनत-मज़दूरी का जीवन अधिक सम्मान-पूर्ण है और जो अपने इस विश्वास के अनुसार ही अपने जीवन का निर्वाह करते है।

यदि मैंने इस विषय में सोचा होता तो मैं समझ जाता कि न तो मैं और न मेरी जान में कोई दूसरा ही आदमी ऐसा है कि जो किसी मनुष्य को इस रोग से मुक्त कर सके।

मैं समझ गया होता कि पर्दे के ऊपर उन स्त्रियों के जो आश्चर्य-चकित उत्सुक मुख दिखायी पडे थे उनमें आश्चर्य के सिवा कोई और भाव न था। अपने जीवन को सुधारने की उनमें कोई इच्छा न थी। यह उनकी समझ में ही नही आता था कि इसमें पाप की कौन-सी बात है। यह तो वे देखती थीं कि लोग उन्हें धिक्कारते हैं, उनसे घृणा करते हैं, पर लोग क्यो उनका तिरस्कार करते हैं, यह तो उनकी समझ में न आता।

इस प्रकार की स्त्रियों ने बचपन में ही इसी तरह अपना जीवन व्यतीत किया है और वे जानती हैं कि इस प्रकार की स्त्रियाँ सदा रही हैं, अब भी हैं और वे समाज के लिए आवश्यक हैं। इतना ही नहीं सरकार की तरफ से इस बात के लिए कर्मचारी नियत हैं कि वे इस बात की देख-रेख रखें कि ऐसी स्त्रियाँ सरकार के नियमों का पालन करें।

इसके सिवा वे यह भी जानती हैं कि अन्य स्त्रियों की अपेक्षा उनका मनुष्यों पर अधिक प्रभाव है और वे उन्हें अपने वश में भी अधिक रख सकती हैं। वे यह देखती है कि यद्यपि वे बुरी समझी जाती हैं फिर भी समाज के स्त्री-पुरुष और खुद सरकार भी समाज में उनके स्थान को स्वीकार करती है। इसलिए वे समझ भी नहीं सकतीं कि वे किस बात के लिए पश्चात्ताप करें और सुधार किस बात का करें।

एक रोज़ जब हम काम के लिए निकले तो एक विद्यार्थी ने मुझे ख़बर दी कि कोठरी में कोई स्त्री रहती है, जो अपनी तेरह वर्ष की लड़की को बाज़ार में बैठने के लिए भेजती है। उस लड़की को बचाने की इच्छा से मैं जान बूझकर उसके घर गया।

माँ-बेटी बड़ी ग़रीबी से रहती थीं। माँ ४० वर्ष की ठिगनी काले रंग की वेश्या थी, जो केवल बदसूरत ही नहीं, बल्कि बड़ी भद्दी शक्ल की थी। बेटी भी देखने में लगभग वैसी ही थी ! मैंने घुमा-फिराकर उनके जीवन के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये, पर माँ ने उन सबके बात उड़ाने के ढंग के जवाब दिये। उसके चेहरे से स्पष्ट प्रकट होता था कि वह यह समझती है कि हम लोग वैर-भाव से उन्हें हानि पहुँचाने आये हैं। लड़की तो माँ की ओर देखे बिना कोई उत्तर ही नहीं देती थी, उसे तो अपनी माँ के ऊपर पूर्ण विश्वास था। इन लोगों को देखकर मेरे हृदय में दया नहीं, उलटे घृणा पैदा हुई, किन्तु मैंने निश्चय किया कि इस लड़की की रक्षा करना आवश्यक है और इसके लिए ऐसी महिलाओं को ढूँढकर इनके पास भेजना चाहिए कि जिनके हृदय में इनकी शोचनीय दशा के प्रति दया तथा सहानुभूति हो।

किन्तु यदि मैंने इस बात पर विचार किया होता कि इस लड़की की माँ का पूर्व-जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ, उसने लड़की को जन्म किस प्रकार दिया और किस प्रकार बिना किसी बाह्य सहायता के बड़े भारी आत्म-त्याग के साथ उसने लडकी को पाला-पोसा और बडा किया, यदि मैंने सोचा होता कि जीवन-सम्बन्धी किस प्रकार की धारणा उसके मन मे धीरे-धीरे बन गयी है, तो मैं समझ गया होता कि माता के इस व्यवहार से किसी प्रकार की कोई बुराई अथवा पाप नही है; क्योकि वह बेचारी तो अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छा-से-अच्छा जो-कुछ अपनी लड़की के लिए कर सकती थी वही कर रही थी।

लडकी को ज़बरदस्ती माँ के पास से छीन ले जाना तो सम्भव था, किन्तु लडकी के धर्म और शील को इस प्रकार बेचने मे कोई बुराई है, यह बात लडकी की माँ को समझा देना एकदम नामुमकिन था। सबसे पहली और ज़रूरी बात तो यह प्रतीत हुई कि इस माँ की रक्षा की जाय, उसे जीवन की दूषित भावना की लहर से बचाया जाय।

यदि मैंने इस स्थिति पर विचार किया होता तो मैं आसानी से समझ गया होता कि मै जिन महिलाओं को इस लडकी की रक्षा के लिए भेजना चाहता हूँ उनमें से अधिकांश न केवल स्वयं ही गार्हस्थ्य कर्तव्यो से बचती रहने की चेष्टा करती है और आलसी तथा विषयी जीवन व्यतीत करती हैं, बल्कि जान-बूझकर वे अपनी लड़कियो को भी इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देती हैं। यदि वह माँ अपनी लड़की को बाज़ार मे भेजती है तो दूसरी बाल अर्थात् नाच मे तथा विलासी समाज मे अपनी लडकियो को जाने के लिए उत्साहित करती है। इन दोनो ही का दृष्टिकोण एक है; दोनों ही यह समझती है कि स्त्री इसीलिए बनी है कि वह पुरुषो की विषय-वासना को तृप्त करे; और इसके बदले स्त्री के लिए अन्न-वस्त्र की योजना करनी चाहिए और उसकी देख-भाल रखनी चाहिए। जब स्थिति ऐसी है, तब फिर भला हमारे घर की महिलायें किस प्रकार उस स्त्री का तथा उसकी कन्या का सुधार कर सकेंगी?

: ६ :

मैंने बालकों के लिए जो-कुछ किया, वह और भी विचित्र था। परोपकारी की हैसियत से मैंने बालकों की ओर भी ध्यान दिया। इस पाप-गुहा में निर्दोष बालकों को नष्ट होने से बचाने की मेरे मन मे इच्छा हुई। इन बालकों मे १२ वर्ष के शीरोज़ा नामक बालक की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। यह चतुर और बुद्धिमान बालक एक मोची के पास रहता था, किन्तु उसके जेल चले जाने के कारण अब वह बिलकुल निस्सहाय हो गया था। मुझे उसपर बड़ी दया आयी और उसका कुछ भला करने की इच्छा उत्पन्न हुई।

इस बालक का उद्धार करने की मेरी चेष्टा का क्या फल हुआ, यह बात अब मैं कहूँगा; क्योंकि इस बालक की गाथा से मेरे परोपकारीपने की जितनी पोल खुलेगी, उतनी और किसी तरह नहीं। मैं इस बालक को अपने घर ले आया और उसे बवर्चीखाने में रखा। उस पाप-गुहा से लाये हुए एक मैले-कुचैले बालक को मैं अपने बच्चों के साथ भला कैसे रख सकता था? अपने नौकरों के पास लाकर रखने मात्र से मैंने मान लिया कि मैंने उस बालक पर बड़ी दया की। मैंने सोचा कि मैं बड़ा परोपकारी सद्‌गृहस्थ हूँ, क्योंकि मैंने उसे पहनने के लिए अपने कुछ पुराने कपड़े दे दिये थे और खाने के लिए भोजन—हालाँकि यह सब किया मेरे बवर्ची ने ही, स्वयं मैंने कुछ नहीं किया। बालक लगभग एक सप्ताह मेरे घर रहा। बीच मे दो-चार मैं उससे मिला और उसके पास से गुज़रते हुए दो-चार शब्द भी उससे कहे और घूमने निकला तो

एक जाने-पहचाने मोची के पास जाकर उस लड़के को उम्मेदवार की तरह अपने पास रख लेने का प्रस्ताव किया। एक किसान ने, जो घर पर मिलने आया था, उस लडके से उसके गाँव मे जाकर एक परिवार मे काम करने के लिए कहा; किन्तु उसने यह भी न माना और उसी सप्ताह वह कहीं भाग गया।

उसे खोजने के लिए मैं जिनोफ-गृह गया। वह वहीं लौट गया था, किन्तु जिस समय मैं वहाँ गया, उस समय वह वहाँ नहीं था। किसी सरकस मे नौकरी करते उसे दो दिन हो गये थे। वहाँ एक हाथी को लेकर रंग-बिरंगे कपडे पहनकर उसे जुलूस के साथ चलना होता था। उन दिनों कोई तमाशा हो रहा था। मैं उससे मिलने फिर गया, किन्तु वह ऐसा कृतघ्न था कि जान-बूझकर मेरे पास न आया। यदि मैने उस बालक के और स्वयं अपने जीवन पर विचार किया होता, तो मै समझ गया होता कि सुखी और आलसी जीवन का मजा चखने के कारण उसकी आदत बिगड़ गयी है और वह काम करने का अभ्यास खो बैठा है। मैं उसका उपकार तथा सुधार करने के लिए उसे अपने घर ले गया। पर मेरे घर जाकर उसने क्या देखा? उसने मेरे बच्चों को देखा, जिनमे कुछ उससे बडे थे, कुछ छोटे थे, और कुछ उसके बराबर थे। सिर्फ इतना ही नहीं कि ये सब बालक स्वयं कुछ काम न करते थे, बल्कि दूसरों से जितना अधिक हो सकता था काम लेते थे। उनके आस-पास जो कुछ होता, उसे वे नष्ट-भ्रष्ट कर देते। सब प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ उड़ाते और रकाबियों को तोड-फोड डालते और जो चीज़े उस बालक के लिए नियामत-जैसी मालूम होतीं उन्हें इधर-उधर बखेर देते अथवा कुत्तो को डाल देते। एक गन्दे स्थान से लाकर उसे एक अच्छे प्रतिष्ठित घर मे जब रखा, तब यह बिलकुल स्वाभाविक था कि उस घर मे जीवन-सम्बन्धी जो ख़याल लोगो के थे उन्हे वह भी ग्रहण करे और इनके अनुसार उसने यही समझा कि सम्मानित गृह में रहने का अर्थ है काम न करना, खाना-पीना और मौज उड़ाना।

यह सच है कि वह यह नहीं जानता था कि मेरे बच्चों को लैटिन और ग्रीक भाषाओं के व्याकरण सीखने मे बहुत श्रम करना पडता है और न वह इस कार्य की उपयोगिता को ही समझ सकता था। किन्तु यह निश्चित है कि यदि उपयोगिता को वह समझ भी गया होता तो मेरे बालको के उदाहरण से उसपर और भी अधिक उलटा प्रभाव पड़ता। तब वह यह समझ गया होता कि उनको शिक्षा ही इस प्रकार की दी जाती है कि अभी काम न करें और पीछे भी वे यथासम्भव कम-से-कम काम करे और अपनी उपाधियो के बल पर जीवन का मज़ा उडावें।

लेकिन वह जो-कुछ समझा उससे वह उस किसान के घर जाकर चराने और आलू खाकर तथा क्वास* पीकर गुज़ारा करने पर राज़ी न हुआ बल्कि सरकस मे जङ्गली आदमी की पोशाक पहनकर ६ पेंस रोज़ पर हाथी दौड़ाना उसने अधिक पसन्द किया। मुझे समझ जाना चाहिए था कि जो आदमी अपने बच्चो को आलस्य और विलास के वातावरण मे शिक्षा दे, उसके लिए यह कितनी बडी मूर्खता की बात है कि वह दूसरे आदमियो तथा उनके बच्चों को सुधारने का दम भरे और ज़िनोफ़-गृह मे, जिसे मैं निकृष्ट स्थानों में गिनता हूँ, उन्हें पतन और आलस्य से सुरक्षित रखने की चेष्टा करे, हालाँकि उस स्थान के तीन-चौथाई मनुष्य अपने लिए तथा दूसरों के लिए काम करते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं।

ज़िनोफ़-गृह मे अनेक बालक बड़ी बुरी दशा में थे। उनमें वेश्याओ के बच्चे थे, अनाथ बालक थे और कुछ ऐसे लडके थे, जिन्हे भिखारी साथ लेकर सड़क पर घूमते थे। उन सभी की बडी दुर्दशा थी। किन्तु शीरोज़ा के अनुभव ने मुझे यह बता दिया था कि स्वयं आलस्य और विलास-पूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए उनकी सच्ची सहायता करना मेरे लिए असम्भव है।

---

*एक प्रकार की पीने की चीज़।

मुझे याद है कि वह लडका जबतक हमारे पास रहा मैंने इस बात की बडी चेष्टा की कि वह हमारी और ख़ासकर हमारे बच्चो का रहन-सहन जान न पाये। मुझे ऐसा महसूस होता था कि मेरे और मेरे बच्चो के जीवन को देखकर उस बालक को अच्छे और उद्योगी जीवन की शिक्षा देने की मेरी सारी चेष्टाये विफल हो रही है। किसी वेश्या या भिखारी से बालक को छीन ले जाना सरल है। यदि किसी के पास धन हो तो उसे नहलाना-धुलाना, अच्छे कपडे पहनाना, अच्छा खाना खिलाना और भॉति-भॉति की विद्याये आदि पढ़ाना भी बहुत ही सरल है; किन्तु ऐसी शिक्षा देना कि वह खुद अपनी मेहनत से रोज़ी कमाये—यह हम लोगो के लिए, जो खुद ऐसा नही करते हैं बल्कि जिनका आचरण बिलकुल इसके विपरीत है, केवल कठिन ही नहीं, असम्भव है।

किसी कुत्ते को लेकर उसे पुचकारना, खिलाना-पिलाना और चीज़े उठाकर ले चलने की शिक्षा देना और उसके करतबो को देख-देखकर प्रसन्न होना ठीक हो सकता है, पर मनुष्य के सम्बन्ध मे ठीक वैसी ही बात नही है—उसे पाल-पोसकर बडा करना और ग्रीक भाषा सिखा देना ही काफ़ी नही है। उसे तो सिखाना होगा कि वास्तव मे जिया किस तरह जाता है, अर्थात् किस तरह दूसरो से कम-से-कम लेकर बदले मे उन्हे अधिक दिया जाय। किन्तु हम अपनी जीवन-शैली से तो उसे बिल्कुल उलटी ही बाते सिखाते है। उसे चाहे हम घर मे रखे अथवा किसी संस्था मे, हमारे जीवन से वह यही सीखेगा कि किस तरह कम-से-कम सेवा करके दूसरो से अधिक सेवा करायी जाय।

: १८ :

ल्यापिन-गृह में मनुष्यो के प्रति करुणा और अपने प्रति घृणा का जो भाव मेरे मन में उदय हुआ था, वैसा तीव्र अनुभव फिर नहीं हुआ। अपनी योजना पूर्ण करने और दीन-दुखी लोगों का उपकार करने की मुझे धुन लग गयी।

साधारणतः ऐसा समझा जाता है कि किसी का भला करना और आर्थिक सहायता देना अच्छा काम है और इससे मनुष्यों मे विश्व-प्रेम की भावना उत्पन्न होनी चाहिए; किन्तु कहते आश्चर्य होता है कि मेरे ऊपर बिलकुल उलटा असर पडा, मेरे मन में तो उससे लोगो के प्रति कटुता और उन्हे बुरा-भला कहने की इच्छा उत्पन्न हुई। पहले ही दिन के भ्रमण मे ल्यापिन-गृह की तरह का-सा एक दृश्य देखने मे आया; किन्तु उस समय जो प्रभाव मेरे दिल पर पडा, वह पहले-जैसा नहीं बल्कि उससे बिलकुल भिन्न था।

एक कोठरी में दो दिन की भूखी कोई दुखिया स्त्री पडी हुई थी उसे उसी क्षण सहायता की आवश्यकता थी।

इस बात का पता मुझे इस प्रकार चला—एक बडे से प्राय: खाली अनाथावास मे एक बुढ़िया से मैंने पूछा कि यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति भी है, जिसे खाने को कुछ न मिला हो? थोड़ी देर तक वह झिझकी और उसके बाद उसने दो नाम बताये, किन्तु फिर एकाएक जैसे उसे अचानक याद आ गयी हो। वह बोली—'हाँ, उनमें एक तो यहीं पडी हुई है।' 'इसके पास तो सचमुच ही खाने को कुछ भी नहीं है।'

"अच्छा, यह है कौन ?"

"वह भ्रष्ट स्त्री रही है और चूँकि अब उसके पास कोई नहीं आता, इसलिए वह कुछ पैदा नहीं कर सकती । घर की मालकिन ने अबतक तो दया करके उसे रहने दिया, किन्तु अब वह उसे निकाल बाहर करना चाहती है।" बुढ़िया ने चिल्लाकर पुकारा; 'अगाफ़िया, ओ अगाफ़िया !'

हम लोग कुछ आगे बढ़े और चारपाई पर से कुछ उठता हुआ दिखायी पडा। यह सफेद बिखरे बालोंवाली स्त्री क्या थी, फटी हुई मैली कमीज पहने मानों हड्डियो का एक ढाँचा था । उसकी निश्चल आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक थी । उसने आँखे फाडकर हमारी ओर देखा, नीचे खिसकी हुई जाकेट को खींचकर उसने अस्थि-शेष छाती को ढकने की चेष्टा की, और उसके बाद कुत्ते की तरह गुर्राकर बोली—क्या है ? है, क्या है ?

मैने पूछा—तुम्हारी गुज़र कैसे होती है ?

कुछ देर तक तो वह मेरा मतलब ही न समझ सकी, अन्त मे बोली—मुझे खुद नहीं मालूम । वह मुझे निकाल देना चाहते है ।

मैंने फिर पूछा—और यह लिखते मुझे कितनी लज्जा मालूम होती है—कि क्या यह सच है कि तुम भूखो मर रही हो ?

उसी उत्तेजित स्वर में वह बोली—मुझे कल भी कुछ खाने को नहीं मिला, और न आज कुछ खाने को मिला है।

इस स्त्री की बुरी हालत देखकर मेरे दिल पर गहरा असर हुआ, किंतु ल्यापिन-गृह के दृश्य को देखकर जो असर मुझपर पड़ा था, उससे यह बिलकुल दूसरा था । ल्यापिन-गृह में तो लोगो पर दया करके मै स्वयं लज्जित और कुण्ठित हो रहा था, किन्तु यहाँ मुझे इस बात की खुशी थी कि जिस बात की खोज थी वह चीज अर्थात् एक भूखा जीव आख़िरकार मुझे मिल गया ।

मैंने उसे एक रुबल दिया और मुझे याद है कि इन लोगों ने वह रुबल देते हुए मुझे देखा, इससे मुझे खुशी हुई । तुरन्त ही उस बूढ़ी स्त्री ने भी

मुझसे पैसा माँगा। उस समय दान करना इतना अच्छा मालूम होता था कि मैंने बिना इस बात का विचार किये कि उसे देना ज़रूरी है कि नहीं, उसे भी कुछ दे ही दिया। वह द्वार तक मुझे पहुँचाने आयी और जो लोग दालान में खडे थे, उन्होंने यह सुन लिया कि वह मुझे खूब आशीर्वाद दे रही है। मैंने दरिद्र आदमियों के लिए पूछा था, इससे शायद इन लोगो के दिलो मे कुछ आशा पैदा हो गयी थी, क्योकि कुछ निवासी जहाँ-जहाँ हम जाते हमारे पीछे-पीछे घूमते थे।

माँगनेवाले लोगो मे मैंने देखा कि शराब पीनेवाले लोग हैं, इससे मेरे दिल पर बड़ा ही बुरा असर पड़ा; किन्तु उस वृद्धा को एक बार देखने के बाद मैंने समझा कि इन्हे मना करने का मुझे कोई अधिकार नही है, और इसलिए मैं उन लोगो को भी देने लगा। इससे तो माँगनेवालो की संख्या और भी बढ़ गयी और तमाम अनाथावास मे धूम-सी मच गयी। सीढ़ियो पर तथा छज्जो मे लोग मेरे पीछे आते दिखायी दिये।

जब मै सहन के बाहर निकला, एक लड़का जल्दी-जल्दी सीढ़ी पर से उतरता और लोगों को ढकेलता हुआ वहाँ आया। उसने मुझे देखा नहीं और चिल्लाकर कहने लगा —

'अगाफ़िया को उसने एक रूबल दिया है!'

फ़र्श पर पहुँचकर वह भी मेरे पीछे चलनेवाली भीड मे मिल गया। इतने मे, मैं बाहर सड़क पर आया। हर तरह के आदमी इकट्ठे होकर पैसे माँगने लगे। मेरे पास जितने फुटकर पैसे थे, वे जब समाप्त हो गये तो मैं एक दूकान मे गया और उसके मालिक से दस रूबल की रेज़गारी माँगी।

ल्यापिन-गृह मे जैसा दृश्य देखने मे आया था, वैसा ही दृश्य यहाँ उपस्थित हुआ। भयानक गड़बड़ मच गयी। बूढ़ी स्त्रियाँ, कंगाल, सद्-गृहस्थ, किसान और बच्चे आकर दूकान के पास जमा होगये और पैसे माँगने के लिए हाथ फैलाने लगे। मैंने उन्हें दान दिया और कुछ लोगों से मैंने उनका नाम आदि पूछकर नोटबुक में दर्ज कर लिया। दूकानदार

अपने कोट के बालोंवाले कालर को ऊपर की ओर लौटाकर बुत की तरह खामोश बैठा था। कभी वह भीड की ओर देख लेता था और कभी दूर किसी चीज पर नजर डालता। अन्य सभी लोगो की भाँति वह भी सोच रहा था कि यह सब कितनी बडी बेवकूफी है, किन्तु ऐसा कहने की उसे हिम्मत न होती थी।

ल्यापिन-गृह मे लोगों की दरिद्रता और दुर्दशा देखकर मेरे दिल को गहरी चोट पहुँची। मैंने समझा कि इनकी इस अवस्था के लिए मैं अपराधी हूँ और इसीलिए मेरे हृदय में यह भावना पैदा हुई थी कि मैं अच्छा आदमी बन सकता हूँ। यहाँ पर भी दृश्य यद्यपि वैसा ही था, किन्तु उसका बिलकुल विभिन्न प्रभाव मेरे ऊपर पडा। एक तो मुझे उन लोगों पर क्रोध आया कि जो मुझे घेरकर तंग कर रहे थे और दूसरे मुझे इस बात की चिन्ता थी कि ये दूकानदार और दरबान अपने मन में क्या कहते होंगे।

जब मैं उस दिन घर लौटकर आया तो मेरे चित्त पर एक बोझ-सा था। मैं जानता था कि मैंने जो-कुछ आज किया है वह मूर्खतापूर्ण और मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध है, किन्तु जब मेरा अन्तरात्मा प्रताड़ित होने लगा तो सदा की भाँति मैं और भी जोर के साथ अपनी योजना के विषय में बातें करने लगा, मानो उसकी सफलता में मुझे जरा भी सन्देह न था।

दूसरे दिन मैं अकेला उन लोगों के पास गया कि जिनके नाम मैंने अधिक दुखी समझकर लिख लिये थे और जिन्हें मैं समझता था कि सरलतापूर्वक सहायता पहुँचा सकूँगा। किन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं इनमें से किसी को भी कोई वास्तविक सहायता न पहुँचा सका। मैंने देखा कि जैसा मैंने समझा था, उससे यह काम कहीं अधिक कठिन है। सारांश यह है कि इन लोगों के पास जाकर मैंने इन्हे केवल दुखी ही किया, सहायता किसी को भी न पहुँचा सका।

गणना का काम समाप्त होने से पहले मैं कई बार जिनोफ-गृह में गया और हर बार वही बात हुई। स्त्री और पुरुषों की भीड़ आकर मुझे चारों

ओर से घेर लेती थी और मैं परेशान हो जाता था । मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि इन माँगनेवालों की संख्या इतनी बडी है कि मुझसे कुछ करते-धरते न बन पडेगा । और यदि मैं उनमे से एक-एक को लूँ तो मेरे हृदय में उनके लिए कोई सहानुभूति न थी । मैंने देखा कि हर-एक आदमी झूठ बोलता था । या कम-से-कम बिलकुल सच्ची बात तो नहीं ही कहता था । हरएक मुझे रुपयों की थैली समझता था और उसमें से अधिक-से-अधिक रुपया निकाल लेने के लिए उत्सुक था । प्रायः मुझे ऐसा भी भास हुआ कि जो रुपया वे मुझसे ले जाते थे उससे उनकी दशा सुधरती नहीं, उलटी बिगड़ती थी । इस काम मे मैं जितना ही अधिक आने-जाने लगा, यहाँ के लोगों से जितना अधिक मेरा परिचय हुआ, उतना ही मुझे विश्वास होने लगा कि यह काम बनने का नहीं है । किन्तु मनुष्य-गणना की अन्तिम रात्रि के भ्रमण से पहले तक मैंने अपने निश्चित किये हुए कार्य को छोडा नही ।

उस अन्तिम दिन के भ्रमण को स्मरण करके मुझे विशेष लज्जा मालूम होती है । इससे पहले मैं अकेला ही जाता था; किन्तु आज हम २० जने इकट्ठे होकर गये । उस दिन जो लोग मेरे साथ जानेवाले थे वे सात बजते ही मेरे घर आ गये । उनमें से बहुत-से अपरिचित थे—कुछ विद्यार्थी थे, एक कर्मचारी, दो परिचित ।

मेरे दो परिचित सज्जन शिकारी जाकेट और ऊँचे सफरी बूट पहने हुए थे । ऐसी पोशाक शिकार के वक्त ही पहनने का रिवाज है । ग़रीबों के यहाँ जाते समय ऐसी ही पोशाक पहनना उन्होंने उचित समझा होगा । वे अपने साथ सुन्दर नोटबुक और मोटी-मोटी रंग-बिरंगी पेंसिल लेते आये थे । शिकार, कुश्ती अथवा युद्ध के लिए जाते समय जिस प्रकार का उत्साह लोगो में होता है उसी प्रकार का उत्साह ये लोग अनुभव कर रहे थे । इन लोगों को देखकर मैं अच्छी तरह समझ सका कि हमारा यह काम कितना व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण है । किन्तु बाकी के हम लोग भी क्या वैसे ही न थे ?

घूमने के लिए निकलने से पहले शुद्ध-परिषद् के समान एक सभा की ओर किस तरह काम किया जाय और किस तरह काम बाँट लिया जाय आदि बातों का निश्चय किया। ऐसी परिषदो तथा सभा-समितियो मे जैसी चर्चा होती है ठीक वैसी ही चर्चा हम लोगों ने भी की। हममें से हरएक मनुष्य को कुछ-न-कुछ बोलना ही चाहिए। इसलिए नहीं कि कोई नयी बात कहनी अथवा पूछनी है, बल्कि सिर्फ इसलिए कि दूसरे बोलते है और हम उनसे पीछे न रह जायें। मैंने जो अभी तक बार-बार परोपकार की बात कही थी, इस चर्चा में किसी ने उसका ज़िक्र तक नही किया। मुझे कहते लज्जा मालूम हुई, फिर भी सबको इस बात की याद दिलाना मैने अपना कर्तव्य समझा कि गणना के काम के साथ ही साथ हमें परोपकार का काम भी करना है—अर्थात् जितने लोग दीन दशा में दिखायी पड़ें उनके नाम नोट कर लिये जायँ।

सभी ने मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुना और मालूम पडता है, उनके दिलों पर असर भी पडा और मुख से सभी ने अपनी सहमति और सहानुभूति भी प्रकट की। किन्तु यह स्पष्ट ही मालूम पडता था कि उनमें से प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि ये सब बाते मूर्खतापूर्ण हैं, इनसे कुछ होगा नहीं, और शायद इसलिए वे तुरन्त ही दूसरी बातें करने लगे।

हम लोग उस अँधेरे मकान में पहुँचे, नौकरो को जगाया और अपने काग़ज़ो को छाँटने लगे। हमने जब सुना कि हमारे आने की ख़बर पाकर लोग बाहर चले जा रहे है, तो हमने गृह-स्वामी से कहकर दरवाज़े में ताला लगवा दिया और फिर सहन में जाकर उन लोगों से ठहरने के लिए कहा कि जो भाग जाना चाहते थे। हमने उन्हे विश्वास दिलाया कि हम लोगों में से कोई भी तुम्हारे पासपोर्ट न माँगेगा। उन घबराये हुए किरायेदार लोगो की मूर्तियों को देखकर मेरे हृदय मे जो विचित्र दुःखप्रद भावना जाग्रत हुई, वह मुझे याद है। अर्ध-नग्न और मैले-कुचैले तथा फटे-पुराने कपडे पहने हुए वे लोग उस अन्धकारपूर्ण सहन में, लालटेन की रोशनी में, बहुत लम्बे मालूम पडते थे। भय से भीत

तथा भीषण बने हुए वे सब दुर्गन्धपूर्ण टट्टी के पास खड़े हुए हम लोगों की बात सुन रहे थे; पर उन्हें उसपर विश्वास न होता था। स्पष्ट प्रतीत होता था कि शिकार के लिए घेरे हुए जानवरों की तरह अपनी जान बचाने के लिए वे सब-कुछ कर गुज़रने पर उतारू हैं।

हर तरह के सद्गृहस्थ, पुलिसमैन, सरकारी कर्मचारी तथा न्यायाधीश उन्हें अपनी जिन्दगी-भर नगरों तथा ग्रामों में, सड़कों तथा गलियों में, सरायों तथा अनाथालयों में ही नहीं बल्कि हर तरह सताते रहे हैं और आज रात को एकाएक यह महानुभाव आकर दरवाज़ा बन्द कर देते हैं, सो भी क्यों ? सिर्फ उनको गिनने के लिए ! उन्हें इस बात पर विश्वास करना उतना ही कठिन प्रतीत होता था, जितना ख़रगोशों को इस बात पर विश्वास करना मुश्किल मालूम होगा कि कुत्ते उन्हें पकड़ने के लिए नहीं केवल उन्हें गिनने के लिए आये हैं। हमने तो दरवाज़े बन्द करा दिये थे। इसलिए बेचारे डरे हुए लोग अपनी-अपनी जगह चले गये। हम लोगों ने टोलियाँ बनाकर काम शुरू कर दिया।

हम उन कमरों के अन्दर गये, जिनसे मैं भली-भाँति परिचित था। मैं वहाँ के कुछ लोगों को भी जानता था, किन्तु अधिकांश लोग मुझे अपरिचित मालूम पड़े और वह दृश्य भी नया और भयानक था—ल्यापिन-गृह में जो दृश्य देखने में आया था उससे भी अधिक भयानक। सब कमरे तथा खाटें भरी हुई थीं और उन सबमें प्रायः दो-दो मनुष्य थे। मनुष्यों की भीड़ तथा स्त्री-पुरुषों के अनियमित एकीकरण के कारण दृश्य भयानक मालूम होता था। जो स्त्रियाँ शराब के नशे में एकदम बदहोश न थीं वे सब पुरुषों के साथ सो रही थीं। बहुत-सी स्त्रियाँ तो बच्चों को साथ लेकर तंग खाटों पर अजनबी आदमियों के साथ सो रही थीं।

इन लोगों की दीनता, मलीनता, अर्धनग्नता तथा भीति से एक बड़ा ही भयानक दृश्य पैदा हो गया था और ख़ासकर इसलिए कि इन विचित्र डरावने जीवों का एक बड़ा भारी जमघट वहाँ पर था !

एक कोठरी, फिर दूसरी, फिर तीसरी, दसवीं, बीसवीं—इस प्रकार की अनन्त कोठरियाँ थीं। सभी में वही दुर्गन्ध, वही मलिन वातावरण, वही भीड़; शराब पीकर बेहोश पड़े हुए तथा परस्पर घुले-मिले स्त्री-पुरुषों का वैसा ही गड़बड़ाध्याय, सबके चेहरों पर वैसा ही भय, वैसी ही दीनता तथा अपराध की छाया थी। यह सब देखकर ल्यापिन-गृह की भाँति यहाँ भी मेरे मन में ग्लानि, दुःख और लज्जा पैदा हुई; और आख़िरकार अब मैं समझा कि मैं जो-कुछ करने जा रहा हूँ, वह बड़ा ही अरुचिकर, मूर्खतापूर्ण तथा एक दम असम्भव है। यह समझकर कि मेरी ये सब चेष्टायें व्यर्थ हैं, मैंने लोगों के नाम लिखना तथा उनसे प्रश्नादि पूछना छोड़ दिया।

इससे मेरे हृदय को बड़ी चोट पहुँची। ल्यापिन-गृह में तो सिर्फ़ इतनी ही बात थी कि जैसे किसी ने किसी दूसरे मनुष्य के शरीर पर कोई वीभत्स घाव देखा हो। उसे देख उस मनुष्य को दुःख होता है, उसे अभी तक सहायता न पहुँचायी इसके लिए लज्जा मालूम होती है, किन्तु उसे फिर भी यह आशा रहती है कि वह उस दुखी मनुष्य की अब कुछ सहायता अवश्य कर सकेगा। किन्तु आज तो मेरी स्थिति उस डाक्टर की भाँति थी कि जो अपनी औषधियाँ लेकर मरीज़ के पास जाता है, ज़ख़्म को खोलता है, दवा लगाता है, किन्तु अन्त में देखता है कि उसने अभी तक जो कुछ किया, वह सब व्यर्थ है—उसकी दवा से रोगी को कोई लाभ न पहुँच सकेगा!

: ११ :

इस भ्रमण ने मेरी कल्पनाओं की एक दम कलई खोल दी। अब यह साफ़ हो गया कि मैं जो-कुछ करने जा रहा हूँ वह केवल व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण ही नहीं, हानिकारक भी है। किन्तु यह सब कुछ समझने पर भी मुझे ऐसा मालूम हुआ कि अभी इसको जारी रखना ही मेरा कर्तव्य है। इसके कई कारण थे। अपने लेख से तथा मुलाकातों से जहाँ मैंने ग़रीब लोगों के दिलों में आशा उत्पन्न कर दी थी, वहाँ कुछ परोपकारी तथा दानी महाशयों की सहानुभूति भी इस काम के लिए प्राप्त कर ली थी; और उनमें से कई लोगों ने स्वयं सहायता करने तथा धन देने का वचन भी दिया था। मैं आशा कर रहा था कि दोनों ही पक्ष विनती करते हुए मेरे पास आयेंगे और मुझे दोनों ही को यथाशक्ति सन्तुष्ट करना चाहिए।

ग़रीब आदमियों की अर्ज़ियों की जो मैं राह देख रहा था उसका ब्योरा इस प्रकार है- मुझे १०० से ऊपर प्रार्थना-पत्र मिले और यदि मैं एक विचित्र शब्द का प्रयोग करूँ तो कह सकता हूँ कि वे सब 'धनिक दरिद्रों' की ओर से आये थे। उनमें से कुछ लोगों से तो मैं जाकर मिला और कुछ का जवाब नहीं दिया। किन्तु मैं किसी के लिए भी कुछ न कर सका। सभी अर्ज़ियाँ ऐसे लोगों की तरफ़ से आई थीं कि जो एक समय अच्छी स्थिति में थे (अच्छी अथवा भाग्यशाली स्थिति से मेरा मतलब उस स्थिति से है कि जिसमें मनुष्य दूसरों से लेता अधिक है और उन्हें देता है कम), किन्तु अब उनकी हालत बिगड़ गयी है और फिर वे अपनी पहली दशा में आना चाहते हैं।

एक को अपना व्यापार नष्ट होने से बचाने के लिए तथा बच्चों की शिक्षा के लिए दो-सौ रुबल की जरूरत थी । दूसरे को फोटोग्राफी के लिए दुकान चाहिए थी । तीसरे को कर्जा चुकाने तथा अपने अच्छे कपड़े गिरवी से छुड़ाने के लिए धन की आवश्यकता थी । चौथे को कुछ पियानो बजाना आता था, उसे पूरी तरह सीखकर उसके द्वारा कुटुम्ब का भरण-पोषण करने के लिए एक पियानो चाहिए था । अधिकांश प्रार्थियों ने कितनी रक़म चाहिए, इसका ज़िक्र न किया था, केवल सहायता माँगी थी, किन्तु जब मैंने इसका अन्दाज़ा लगाना चाहा कि उन्हें कितने रुपये की ज़रूरत है, तो मैंने देखा कि सहायता के अनुसार उनकी ज़रूरतें भी बढ़ती जाती हैं । मैं जो-कुछ देता था, उससे वे सन्तुष्ट न होते और हो भी नहीं सकते । मैं यह फिर कह देना चाहता हूँ कि यह सम्भव है कि दोष मेरी समझ का हो, किन्तु बहरहाल मैं किसी की सहायता न कर सका, हालाँकि उन्हें सहायता पहुँचाने की मैंने पूरी कोशिश की ।

अब उन परोपकारी सज्जनों का हाल सुनिए कि जिनके सहयोग की मैं आशा कर रहा था । उनका विचित्र हाल हुआ—ऐसा कि जिसकी मुझे बिलकुल ही आशा न थी । आर्थिक सहायता के जो वचन मुझे मिले थे वे लगभग ३ हज़ार रुबल के थे । किन्तु इन लोगो में से किसी ने एक कोपक भी मुझे न दिया । हाँ; केवल विद्यार्थियों ने लगभग १२ रुबल मुझे दिये थे, जो मनुष्य-गणना का कार्य करने पर उन्हें मिले थे । मेरी जिस योजना के अनुसार धनी लोगों में से लाखों रुबल एकत्र करके सैकड़ों तथा हज़ारों मनुष्यों का दारिद्र्य तथा पाप से उद्धार करना था, उसका यह अन्त हुआ कि विद्यार्थी लोगों ने जो-कुछ रुबल दिए थे और सिटी कौन्सिल के प्रबन्ध की हैसियत से काम करने के बदले में जो २५ रुबल मेरे पास भेजे थे, उन सबको मिलाकर योंही फुटकर ग़रीब लोगों में तकसीम कर दिया । मैं समझ ही न सका कि उन रुबलों से मैं और क्या करूँ ?

इस प्रकार इस कार्य का अन्त हुआ । मास्को छोड़कर गाँव जाने

से पहले, मेरे पास जो ३७ रुबल जमा थे, उन्हें ग़रीबों में बाँट देने के विचार से एक दिन रविवार को मैं ज़िनोफ़-गृह गया। मैं परिचित स्थानों में सभी जगह घूम आया, किन्तु मुझे एक ही अपाहिज आदमी मिला। उसे मैंने ५ रुबल दिये। मुझे ऐसा और कोई नहीं मिला कि जिसे मैं कुछ देता। इसमें सन्देह नहीं कि मुझसे माँगा, तो कई लोगों ने, किन्तु चूँकि मैं उन्हें जानता नहीं था इसलिए मैंने यह उचित समझा कि बाकी ३२ रुबल बाँटने के सम्बन्ध में होटल के मालिक आइवन फिडोटिच से सलाह ले लूँ।

वह त्योहार का दिन था। सभी लोग अच्छे कपड़े पहने हुए थे। खाने को भी खूब था और कुछ लोग तो पीकर मस्त हो रहे थे। मैदान में घर के कोने के पास पुराने कपडे ख़रीदनेवाला एक बुड्ढा आदमी खड़ा था, जो किसानों का-सा फटा हुआ कोट और छाल के जूते पहनने हुए था। वह हृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त था। अपने कपडों को छाँटकर, लोहे की तथा चमडे आदि की चीज़ों की अलहदा-अलहदा ढेरी बना रहा था और प्रसन्न होकर ऊँचे स्वर से एक गीत गा रहा था। मैं उससे बातें करने लगा। उसकी अवस्था ७० वर्ष की थी। उसके कोई बन्धु-बान्धव न थे। पुराने कपड़ों का व्यापार करके रोज़ी कमाता था। उसे किसी प्रकार की शिकायत तो थी ही नहीं, उलटे उसका कहना था कि ईश्वर की कृपा से उसके पास खाने-पीने को काफी है—बल्कि कुछ बच रहता है। मैंने उससे पूछा कि यहाँ कोई ग़रीब आदमी भी है ? वह कुछ बिगडा और बोला—काहिल और शराबी आदमियों के सिवा ग़रीब और कौन होगा ? किन्तु जब उसने मेरे पूछने का मतलब जान पाया, तब तो वह भी प्याली चढाने के लिए पाँच कोपक माँगने लगा और उन्हे पाते ही होटल की तरफ़ दौड़ गया।

होटल खूब भरा हुआ था, लडकियों का झुंड-का झुंड बन ठनकर इधर-उधर घूम रहा था, सारी मेज़ें भरी हुई थीं। कई लोग तो शराब पीकर मस्त हो रहे थे और छोटे-से कमरे में कोई हारमोनियम बजा रहा

था और दो जने नाच रहे थे। मेरे पहुँचने पर आइवन फिडोटिच ने मेरे सम्मान मे नाच-गान बन्द कर देने का हुक्म दिया और एक खाली मेज़ के पास मेरे साथ बैठ गया। मैंने कहा कि तुम सभी किरायेदारों को जानते हो; इसलिए तुम बता सकते हो कि उनमे सबसे ज्यादा ग़रीब कौन है? ग़रीबों में बाँट देने के लिए मुझे एक छोटी-सी रकम मिली है। वह बडे ध्यान से इस विषय में सोचने लगा और उसकी मुद्रा से स्पष्ट होता था कि बड़ा परेशान है। एक पुराने नौकर ने हमारी बात-चीत सुन ली थी, इसलिए वह भी इस चर्चा में शरीक हो गया। वह एक-एक करके अपने यहाँ रहनेवालों का नाम ले गये, जिनमे से कुछ से मैं भी परिचित था, किन्तु कोई जँचा नहीं।

'परम नौवना' नौकर ने याद दिलायी।

'हाँ, ठीक है। कभी-कभी उसे भूखा पड़ा रहना पड़ता है। किन्तु वह शराब बहुत पीती है।'

'तो क्या हुआ?'

'लेकिन हाँ, स्विडन आइवनोविच? उसके बच्चे भी हैं।'

किन्तु आइवन फिडोटिच को वह शायद पसन्द न था।

'अकुलीना? किन्तु उसे तो पेन्शन मिलती है। किन्तु हाँ, याद आया, वह बुड्ढा आदमी!

किन्तु उसके लिए खुद मैंने आपत्ति की। मैंने उसे अभी हाल में देखा था। वह बुड्ढा अस्सी वर्ष का था, सगा-सम्बन्धी उसके कोई न था। इससे अधिक दीन अवस्था की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु मैंने उसे अभी देखा था। परों के बिछौने पर वह शराब पिये हुए पडा था और अपेक्षाकृत छोटी उम्र की स्त्री उसके पास थी। उसे वह गन्दी वाहियात गालियाँ दे रहा था। तब उन्होंने एक हाथवाले बालक और उसकी माँ का जिक्र किया। मैंने देखा कि आइवन फिडोटिच अपनी ईमानदारी के कारण बड़ी मुश्किल में पड़ गया है, क्योंकि वह जानता था कि जो-कुछ दिया जायगा, वह अन्त में जाकर उसके होटल

में ही आयेगा। किन्तु मुझे तो ३२ रुबल बाँटने थे, इसलिए मैने ज़ोर देकर जिस किसी तरह उनके लिए आदमी खोज लिये। जिन लोगों को वे रुपये दिये गये, वे प्रायः अच्छे कपडे पहने हुए थे, और उन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें दूर भी नहीं जाना पड़ा। वे सब वहीं होटल मे मौजूद थे। बिना हाथवाला लडका जब आया तो वह बढ़िया बूट, लाल कमीज़ और एक वास्कट पहने हुए था।

इस प्रकार मेरी यह परोपकार-वृत्ति समाप्त हुई। सभी से नाराज़ होकर, तथा दूसरो पर अपने दिल का गुबार निकालते हुए, मै गॉव चला गया। जब कभी कोई आदमी मूर्खतापूर्ण तथा हानिकारक कार्य करता है तो सदा ही ऐसा होता है कि दूसरो को भला-बुरा कहकर जी का गुबार निकालता है। मेरे इस कार्य का कोई भी फल न निकला। किन्तु मेरे दिल मे इस कार्य से जो भाव तथा विचार पैदा हो गये थे वे बन्द न हुए, बल्कि दुगुने वेग से वे मेरे मन को आन्दोलित करने लगे।

: १२ :

किन्तु इस सबका अर्थ क्या है ?

मैं गाँव में रहता था, इसलिए गरीबो के साथ मेरा सम्बन्ध हो गया था। झूठी नम्रता के लिए नहीं, प्रत्युत अपनी भावनाओं तथा कल्पनाओं को ठीक-ठीक समझाने के लिए यह कहना आवश्यक है कि गाँव में गरीबों के लिए मैंने बहुत ही थोड़ा काम किया और गरीब लोग मुझसे जो सहायता चाहते थे वह भी वास्तव में बहुत थोडी थी। किन्तु मैंने जो बहुत थोड़ी न कुछ-सी सेवा की थी, वह भी उपयोगी सिद्ध हुई। उसके द्वारा मेरे व मेरे पड़ोसियों के बीच में प्रेम और सहानुभूति का वातावरण पैदा हो गया था। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि अनुचित विलासी जीवन से हृदय में जो एक प्रकार की वेदना-सी उठती थी, उसको भी इन लोगों में रहकर शान्त कर देना बहुत-कुछ सम्भव है।

मैंने सोचा था कि शहर के ग़रीब लोगों से भी मेरा वैसा ही सुन्दर सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। किन्तु वहाँ की तो परिस्थिति ही बिलकुल भिन्न थी। शहर की ग़रीबी में सत्य का अंश तो कम था, किन्तु ग्राम्य दरिद्रता की अपेक्षा वह अधिक कठिन तथा करुणापूर्ण थी। नागरिक दरिद्रता का जो भयानक असर मेरे दिल पर पडा; उसका खास कारण यह था कि ढेर की ढेर दरिद्रता एक ही जगह एकत्र हो गयी थी। ल्यापिन-गृह में जो-कुछ मैंने देखा उससे मुझे मालूम पड़ने लगा कि मेरा यह विलासी जीवन एक भयानक बुराई है। किन्तु यह समझते हुए भी मैं अपने जीवन में वह परिवर्तन करने में सर्वथा असमर्थ था। इस परिवर्तन का

विचार करके ही मैं भयभीत हो उठता था। इसलिए मैंने समझौते का रास्ता पकड़ा। लोगों ने मुझे जो सलाह दी, और वास्तव में आदि काल से जो लोग कहते चले आये, मैंने उसी बात को मान लिया। मैंने इस बात पर विश्वास कर लिया कि धन, वैभव तथा सुखपूर्ण जीवन में कोई बुराई नहीं है, ये तो ईश्वर की दी हुई चीजें हैं, और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी ग़रीबों को सहायता पहुँचाना सम्भव है। एक लेख लिखकर ग़रीबों की सहायता करने के लिए मैंने धनिकों से प्रार्थना की। सभी धनिकों ने इस बात को तो स्वीकार किया कि ग़रीबों को सहायता देना उनका नैतिक कर्तव्य है, किन्तु आगे बढ़कर कुछ काम करने अथवा दान देने की शायद उनकी इच्छा न थी; अथवा ऐसा करने की उनकी शक्ति न थी।

मैं ग़रीब लोगों से मिलने के लिए उनके घर जाने लगा, और वहाँ जो-कुछ मैंने देखा उसके देखने की तो मुझे आशा ही न थी। जिन घरों को अँधेरी कोठरी कहता था उनमें मैंने ऐसे लोगों को देखा कि जिन्हें सहायता पहुँचाना मेरे लिए असम्भव था; क्योंकि वे मेहनत-मज़दूरी करने वाले लोग थे, जो परिश्रम करने और भूख-प्यास सहने के आदी होते हैं। और इसलिए मेरी अपेक्षा उनका जीवन अधिक मज़बूत नींव पर स्थित था। वहाँ एक दूसरे प्रकार के लोग भी थे, जो बहुत ही दुःखी थे, उनको भी मैं कोई सहायता न पहुँचा सकता था क्योंकि वे भी बिलकुल मेरी ही जैसी स्थिति में थे। अधिकांश ग़रीबों की जो दुर्दशा मैंने देखी, उसका कारण सिर्फ़ यह था कि वे अपनी रोज़ी कमाने की शक्ति, इच्छा और आदत को खो बैठे थे। अर्थात् जैसा मैं आलसी और अकर्मण्य हूँ वैसे ही वे भी बन गये थे, और इसलिए उनकी ऐसी दीन दशा भी थी।

भूखों मरती अगाफ़िया के सिवा ऐसा तो एक भी आदमी नहीं मिला कि जो रोग, शीत अथवा भूख से नितान्त पीड़ित हो, और जिसे तत्क्षण सहायता पहुँचाई जा सके और मुझे तो निश्चय हो गया कि मैं जिन

लोगो को सहायता पहुँचाना चाहता हूँ उनके जीवन से जबतक मैं अलग-अलग रहता हूँ, तबतक उनके दुःखो को दूर कर देना मेरे लिए लगभग असम्भव है। इनपर जब कोई दुःख या आपत्ति आती है, तब ये दुःखी जीव आपस मे हीं एक दूसरे के दुःखो का निवारण करने का यत्न करते हैं। और अब तो यह मेरा सिद्धान्त-सा बन गया था कि इन लोगो का दुःखमय पतित जीवन पैसा देकर तो कभी सुधारा ही नहीं जा सकता।

इन सब बातो का मुझे विश्वास तो हो गया था, किन्तु शुरू किये हुए काम को ही अधूरा छोड़ने मे झूठी लज्जा और अपनी परोपकार-वृत्ति के सम्बन्ध में धोखे के कारण मैंने अपनी उस योजना को जारी ही रखा, जबतक कि वह खुद ही स्वाभाविक मौत न मर गयी। इस तरह बड़ी मुश्किल से और आइवन फ़िडोटिच की सहायता से मैं उन्हीं रूबलों को, जिन्हें मैं अपना समझता था, ज़िनोफ-गृह के होटल में लोगों को बाँटने मे समर्थ हुआ था।

यदि मैं चाहता तो इसे धार्मिक कार्य का रूप देकर आगे चला सकता था। चाहता तो जिन लोगों ने चन्दा देने का वचन दिया था, उनसे उतना रुपया वसूल कर लेता और कुछ और भी धन एकत्र करके बाँट सकता था, और इस प्रकार अपने मन को यह समझाकर कि मैंने भले आदमी की तरह भला काम किया है; अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेता। किन्तु मुझे विश्वास हो गया कि हम धनिक लोगों में अपने धन का थोडा-सा भाग भी ग़रीबों को बाँट देने की इच्छा तथा प्रवृत्ति ही नहीं, और शायद ऐसा करने की शक्ति भी नहीं है। (क्योंकि हमारी अपनी ही आवश्यकतायें बहुत बढ़ी हुई हैं) और दूसरे, यदि हम लोगों का सचमुच ही भला करना चाहते हैं, तो ज़िनोफ़-गृह में जिस तरह हमने इधर-उधर पैसे वितरण कर दिये थे, उस तरह किसी को न देना चाहिए। इसलिए मैंने उस कार्य को बिलकुल ही बन्द कर दिया, और निराश तथा दुःखित होकर गाँव चला गया।

मैंने सोचा, गाँव जाकर एक लेख लिखूँगा, जिसमें और अनुभवों का उल्लेख करते हुए यह दिखलाऊँगा कि मेरी योजना असफल क्यों हुई ? मनुष्य-गणना-सम्बन्धी लेख पर लोगों ने जो अनेक आक्षेप किये थे, उनका जवाब दूँगा और इसके साथ ही मेरा विचार था कि इस सम्बन्ध में समाज की जो हृदय-हीन लापरवाही है उसपर भी कटाक्ष करूँगा। शहर की दरिद्रता के कारणों और उसके दूर करने के उपायों का भी वर्णन करने की मेरी इच्छा थी। इस लेख को मैंने लिखना प्रारम्भ भी कर दिया। मैं समझता था कि मुझे कई महत्त्वपूर्ण बातें प्रकाशित करनी हैं। किन्तु जब मैं लिखने लगा, तो मुझसे लिखा ही न न गया। मैंने अपने दिमाग़ पर बहुत ज़ोर दिया और मेरे पास सामग्री भी बहुत काफी थी। किन्तु मेरी मनःस्थिति क्षुब्ध होने के कारण थे, और इस समस्या को ठीक तरह समझने की अनुभव-जन्य शक्ति का अभाव भी था। और ख़ासकर इसलिए कि इस दीन अवस्था का कारण सरल और स्पष्ट होते हुए भी अभी तक मेरे दिल में पूरी तरह बैठा न था। मैं उस लेख को आगे न चला सका। फलतः इस वर्ष (१८८५-८६) तक भी वह लेख समाप्त न हो सका।

धार्मिक तथा नैतिक बातों के सम्बन्ध में एक अजीब बात दिखाई पड़ती है, जिसपर लोग कम ध्यान नहीं देते हैं। यदि मैं किसी अशिक्षित मनुष्य से भू-गर्भ-विद्या, ज्योतिष, इतिहास, पदार्थ-विद्या तथा गणित के सम्बन्ध में बातें करूँ, तो वह उन्हें बिलकुल नवीन समझता है और कभी यह नहीं कहता—"यह तो पुरानी बात है, इसमें नवीनता क्या है ?" किन्तु यदि किसी उच्च-से-उच्च नैतिक सिद्धान्त की अत्यन्त सुन्दर और अपूर्व व्याख्या भी की जाय, तब प्रत्येक साधारण मनुष्य, जो कि नैतिक बातों मे कोई रस नही लेता, और ख़ासकर वह मनुष्य जो उन्हें पसन्द नही करता, तुरन्त ही कहने लगेगा—अजी, यह कौन नहीं जानता ? आदि काल से सभी ऐसा कहते आये हैं। और मज़ा तो यह है कि वह वास्तव में ऐसा ही विश्वास करता है। नैतिक सिद्धान्तों

की जिन्हें परख है, जो उनकी क़ीमत जानते है, वही समझ सकते हैं कि वे कितने महँगे और बहुमूल्य हैं। कितने परिश्रम और अध्यवसाय के बाद कोई मनुष्य किसी नैतिक सिद्धान्त को विशद तथा स्पष्ट रूप मे प्राप्त करने में समर्थ होता है। और वास्तव में वही अनुभव कर सकते है कि किस प्रकार किसी धुँधले अनुमान तथा अनिश्चित कल्पना और इच्छा में से धीरे-धीरे विकसित होते हुए कोई तत्व अन्त में सुस्पष्ट, स्थिर, अविचल सिद्धान्त के रूप को प्राप्त होता है और तदनुसार मनुष्य को अपने आचरण मे परिवर्तन करने के लिए विवश करता है।

मुझे याद है कि एक बार जब मैं मास्को की एक गली में जा रहा था मैंने देखा कि एक आदमी दूकान से उतरा और पत्थरों को ग़ौर से देखने लगा, फिर उनमें से एक को चुनकर उसपर बैठ गया और उसे खूब ज़ोर-ज़ोर से घिसने तथा खुरचने लगा। मैंने दिल ही दिल में कहा—यह आदमी इस पत्थर का क्या कर रहा है? किन्तु जब मैं नज़दीक आया तो देखा कि वह आदमी क़साई की दूकान से उतरा है और सड़क के पत्थर पर छुरी को पैना कर रहा है। माँस काटने के लिए उसका छुरी पैनाना ज़रूरी था, किन्तु मुझे ऐसा मालूम पडा कि वह पत्थर का कुछ कर रहा है।

इसी तरह मनुष्य-जाति व्यापार, युद्ध, सुलह, विज्ञान, कला आदि में व्यस्त दिखाई पड़ती है, किन्तु फिर भी इन सबमें केवल एक ही बात महत्वपूर्ण है, और लोग वही कार्य करते हैं, जिन नैतिक नियमों द्वारा यह संसार चल रहा है, उन्हींका पता वे अपनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों द्वारा लगाते हैं। नैतिक सिद्धान्त सदा से हैं, मानव-जाति उनका आविष्कार नहीं करती—केवल अपने अनुभव और मेहनत से उन्हें ढूँढ निकालती है और नये रूप से उनकी व्याख्या करती है। यह व्याख्या उस मनुष्य को महत्व-पूर्ण मालूम नहीं पडती जिसे नैतिक सिद्धान्तों की ज़रूरत नहीं है और जो उसके अनुसार जीवन नहीं चलाना चाहता। किन्तु समस्त मनुष्य-जाति का यह मुख्य कर्म ही नहीं, बल्कि एकमात्र यही उसका काम है। भोंटी तथा पैनी छुरी के भेद की तरह नैतिक सिद्धान्तों की

विस्फूर्ति भी नहीं दीखती। छुरी तो सदा ही छुरी है। जिसे उससे कुछ काटना नहीं है, उसके लिए भोंटी तथा पैनी छुरी एक-सी है। वह उस भेद को जान नहीं सकता। किन्तु जो समझता है कि छुरी के भोंटी अथवा पैनी होने पर ही उसका जीवन अवलम्बित है, उसके लिए उसका प्रत्येक घर्षण महत्त्वपूर्ण है। वह जानता है कि छुरी को इस तरह पैनाने का अन्त ही नहीं हो सकता और छुरी उसी हालत में छुरी है कि जब वह पैनी है और जिस चीज़ को काटना है, उसे वह काटती है।

मैं जब लेख लिखने बैठा, तो मेरी भी यह दशा हुई। ल्यापिन-गृह के दृश्य से जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा, और उससे जो प्रश्न पैदा हुए, उनके सम्बन्ध मे मैंने समझा कि मैं सब-कुछ जानता हूँ। किन्तु जब मैंने मन ही मन उन प्रश्नों का स्पष्टीकरण करना चाहा तो मालूम पड़ा कि छुरी भोंटी है, उसे पैनाना होगा। आज दो-तीन वर्ष के बाद मुझे कुछ ऐसा भास होता है कि अब मेरी छुरी में इतनी धार है कि मुझे जो काटना है उसे वह काट सकती है। मैने कोई नया ज्ञान प्राप्त किया हो, सो बात नहीं है। मेरे सारे विचार जैसे थे वैसे ही हैं, पर पहले वे धुँधले और अस्पष्ट थे, उन्हें एक जगह इकट्ठा करना कठिन था, वे तुरन्त ही इधर-उधर बहक जाते थे, उनमें दम नहीं था, और आज जिस प्रकार सरल निश्छल निश्चय को पहुँचा हूँ, वैसा पहले असम्भव-सा प्रतीत होता था।

: १३ :

मुझे याद है कि नगर के दरिद्र लोगों की सहायता करने के निष्फल आयोजन के समय मुझे सदा ही ऐसा मालूम होता था कि जिसे मैं स्वयं दलदली ज़मीन पर खडा होकर दलदल में फँसे हुए मनुष्य को खींचकर बाहर निकालने की चेष्टा कर रहा हूँ। उसके निकालने के प्रत्येक प्रयत्न पर मुझे यह अनुभव होता कि जिस ज़मीन पर मैं खडा हूँ वह स्वयं कितनी अस्थिर है। मुझे ऐसा भास तो हुआ कि मैं खुद दलदल पर खडा हूँ, किन्तु फिर भी मैंने अपने पैरों तले की जमीन की जाँच-पड़ताल नहीं की, बल्कि यह समझकर कि सारे दुःखों का कारण मेरे से बाहर है; मैं दुःखों के दूर करने के लिए किसी बाहरी साधन की ही खोज में सारे समय लगा रहा।

मुझे ऐसा लगता था कि मेरा जीवन खराब है, लोगों का इस प्रकार जीवन व्यतीत करना ठीक नहीं। किन्तु फिर भी इस धारणा से तो सरल और प्रत्यक्ष सिद्धान्त निकलता है कि दूसरों के जीवन का सुधार किस तरह किया जाय, यह समझने के लिए पहले अपने जीवन को सुधारना आवश्यक है। इस सरल स्वाभाविक सिद्धान्त को मैंने नहीं पहचाना। और इसीलिए मैंने जो काम शुरू किया, उसका ढङ्ग कुछ उलटा-सा था। मैं नगर में रहता था और वहाँ के निवासियों के जीवन को सुधारना चाहता था। किन्तु शीघ्र ही मुझे यकीन हो गया कि यह काम करने की शक्ति मुझमें नहीं है और तब मैं नागरिक-जीवन और नगर की दरिद्रता की ख़ासियत पर विचार करने लगा।

"यह नागरिक जीवन तथा नागरिक दरिद्रता क्या चीज़ है ? शहर में रहते हुए भी क्या मैं शहर के ग़रीब लोगों की मदद नहीं कर सकता?" —मैंने मन में यह प्रश्न किया। मेरे मन ने उत्तर दिया कि नहीं मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इसका एक कारण तो यह है कि एक ही जगह ऐसे लोग ढेर के ढेर इकट्ठे हो गये हैं, और दूसरी बात यह है कि इस शहर के ग़रीब गाँव के ग़रीबों से कुछ और प्रकार के हैं। ये लोग इकट्ठे कैसे हुए होंगे ? और गाँव के ग़रीबों से विभिन्न ये किस बात में होंगे ? इन दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है । यहाँ जो ये लोग इतनी बडी संख्या में एकत्र हुए हैं, इसका कारण यह है कि गाँव में जिन लोगों की गुज़र का कोई साधन न रहा, वे सब यहाँ आकर नगर के धनिकों के चारों ओर इकट्ठे हो गये। इनकी विशेषता यह है कि ये सब के सब गाँव छोड-छोड कर गुजर-बसर के लिए शहर में एकत्र हुए हैं। ऐसे भी ग़रीब हैं, जिनका जन्म शहर में ही हुआ है और जिसके बाप-दादा भी शहर में ही पैदा हुए, उनके पूर्वज आजीविका के लिए शहर में आये होंगे।

'शहर में रोज़ी कमाना'—इसका क्या अर्थ है ? इस वाक्य में कुछ विचित्रता-सी मालूम पडती है और जब हम उसपर गहरा विचार करते हैं; तो यह बात एक मज़ाक-सी मालूम पडती है। ये लोग गाँव छोडकर जहाँ जङ्गल हैं, खेत हैं, अनाज है, पशु हैं, जहाँ भूमि की उर्वरता से उपार्जित समस्त वैभव है, उस स्थान को छोड़कर, रोज़ी कमाने के लिए शहर में जाते हैं कि जहाँ इस प्रकार की कोई भी सुविधा नहीं है, केवल धूल और पत्थर भरे हैं। फिर भला शहर में रोज़ी कमाने का क्या मतलब हो सकता है ? 'रोज़ी कमाना' यह वाक्य नौकर और मालिक दोनों सदा ही व्यवहार में लाते हैं, जैसे कि यह बिलकुल स्पष्ट हो । सैकडों और हजारों मनुष्यों से, जो सुख से या तंगी से रहते थे, मैंने शहर में आने के सम्बन्ध में चर्चा चलायी और मुझे याद है कि बिना किसी अपवाद के सभी कहा कि रोज़ी कमाने के लिए गाँव से यहाँ आये हैं। मास्को में

खेती-बाड़ी न होते हुए भी बहुत धन है, और यहाँ वह धन मिल सकता है कि जिसकी गाँव में अनाज, मकान, घोडे और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक सामग्री ख़रीदने में ज़रूरत पडती है।

किन्तु समस्त सम्पत्ति का मूल तो ग्राम ही है। अनाज, लकडी, घोडे और अन्य आवश्यक चीज़ें सभी गाँव में ही होती हैं। फिर जो गाँव में है, उसे लेने के लिए शहर में क्यों आया जाये ? और सबसे बडा सवाल तो यह है कि जिन चीज़ों की ग्रामों में आवश्यकता है, उनको ग्रामों में से ले जाकर शहरों में क्यों इकट्ठा किया जाये—जैसे आटा, जौ, घोडे और पशु ?

शहर में रहने वाले किसानों से मैंने सैकडों बार इस विषय पर बातचीत की है और उनकी बातचीत से तथा विचार करने से मुझे ज्ञात हो गया कि गाँव के लोग शहरों में आकर रहें, यह कुछ हद तक ज़रूरी है; क्योंकि इसके बिना उनकी गुज़र नहीं हो सकती, कुछ अपनी इच्छा से भी नागरिक-जीवन के प्रलोभनों मे फँसकर वहाँ आते हैं। ग्रामवासियों तथा किसानों के सिर पर जो ख़र्च आ पड़ते हैं उनकी वजह से अपना अनाज तथा बैल आदि, (यह समझते हुए भी कि उनके बिना काम चल नहीं सकता) उन्हें बेचने ही पडते हैं; और इसके बाद फिर अन्न और बैल आदि ख़रीदने के लिए इच्छा न होते हुए भी उन्हें नगर की ओर जाना पडता है। ग्रामवासियों की ऐसी स्थिति है, यह सच है। किन्तु यह भी सच है कि गाँव की अपेक्षा कम मेहनत की कमाई तथा भोग-विलास के जीवन से वे शहरों की ओर आकर्षित होते हैं और रोज़ी कमाने के बहाने वे शहरों में इसलिए जाते हैं कि वहाँ मेहनत कम करनी पड़ती है, अच्छा खाने को मिलता है, दिन में तीन बार चाय पीने को मिलती है, अच्छे कपड़े पहने जाते हैं और शराब पीने व मौज उड़ाने अवसर मिलता है।

इस हालत का कारण यह है कि पैदा करनेवाले किसानों के हाथ से निकलकर धन दूसरों के हाथ में चला जाता है और नगरों में जाकर

एकत्र होता है। जब सर्दी का मौसम आता है तो गाँव धन से छलकते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु तुरन्त ही तरह-तरह के ख़र्चे सामने आ खड़े होते हैं—लगान, किराया, फ़ौजी-कर, उसके बाद मदिरा, विवाह, भोज, बिसाती आदि तरह-तरह के मोह-जाल आ उपस्थित होते हैं। इस प्रकार एक-न-एक द्वार से यह सारा धन—भेड़, बकरी, बछड़े, गाय, घोड़े, मुर्गे, मुर्गी, मक्खन, सन, कपास, जौ, गेहूँ तथा कपास के सब बीज किन्हीं अनजान आदमियों के हाथ में चले जाते हैं, जो उन्हें शहरों में और शहरों से राजधानी में ले जाकर इकट्ठा करते हैं। ग्रामवासी को अपना ख़र्चा चलाने के लिए और शहर के प्रलोभनों के लिए यह सब-कुछ बेच देना पड़ता है और फिर जब ज़रूरत पड़ती है तो उसे उस शहर में जाना पड़ता है; जहाँ उसका सारा धन खींचकर ले जाया गया है। वहाँ वह गाँव की खास-खास ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पैसा इकट्ठा करने का प्रयत्न करता है, और इस तरह नगर के प्रलोभनों में फँसकर अपने दूसरे साथियों के साथ एकत्र हुए धन का उपभोग करता है।

सारे रूस में, और मैं समझता हूँ कि केवल रूस में ही नहीं बल्कि संसार-भर में, ऐसा ही होता है। गाँववालों का धन व्यापारियों, ज़मींदारों, सरकारी अफ़सर और कारख़ानेवालों के हाथ में चला जाता है। जो लोग इस धन को प्राप्त करते हैं, वे उसका उपभोग भी करना चाहते हैं; और उसका ठीक-ठीक उपभोग करने के लिए उन्हें शहर में ही बसना चाहिए।

एक बात तो यह है कि गाँव छोटे होने के कारण अमीर अपनी सारी इच्छायें तृप्त नहीं कर सकते; क्योंकि वहाँ न तो बड़ी दुकानें होती हैं, न बैंक, न होटल, थियेटर, और न तरह-तरह के मनोरंजन के सामान ही होते हैं। दूसरी बात यह है कि धन से मिलनेवाला ख़ास सुख जो अभिमान है, दूसरों से बढ़कर रहने की, दूसरों को अपनी शान-शौकत से चकित कर देने की जो तृष्णा होती है, वह थोड़ी बस्ती होने के कारण गाँव में पूरी नहीं की जा सकती। गाँव में भोग-विलास का रस लेने वाले तथा

उसे देखकर चकित तथा प्रसन्न होनेवाले लोग नहीं होते। गाँव में रह कर कोई कितना ही अपने घर को सजाये, कितने ही चित्र तथा मूर्तियाँ लाकर रखे, कितने ही गाड़ी-घोड़े ख़रीदें, और चाहे कितनी ही शौक़ीनी से रहे, वहाँ उन्हें देखकर प्रसन्न होनेवाले तथा ईर्ष्या से जलनेवाले कोई ही मिलेंगे, क्योंकि ग्रामवासी इन बातों से नावाकिफ़ होते हैं। तीसरी बात यह है कि गाँव में विलासिता सहृदय मनुष्य को पसन्द भी नहीं आती। और कच्चे दिल वाले के लिए तो चिन्ता का कारण हो उठती है। पड़ोसी के बच्चों को तो पीने के लिए भी दूध नसीब न हो और हम दूध मे नहायें और कुत्तों को पिलायें, यह बड़ा ही भद्दा और शर्मनाक प्रतीत होता है। इसी तरह ग़रीब आदमियों के पास रहकर कि जिनके पास रहने के लिए टूटे-फूटे झोंपड़ों के सिवाय और कुछ नहीं होता और लकड़ी न मिलने के कारण जाड़े से ठिठुरते रहते हैं, और हमें ऊँचे-ऊँचे महल तथा बग़ीचे बनाना भी अच्छा नहीं लगता। यदि कोई मूर्ख अशिक्षित गँवार आदमी हमारे शौक की चीजों को आकर तोड़-फोड़ डाले तो उसे गाँव में रोकनेवाला कौन है?

इसी कारण सारे धनिक शहरों में जाकर बस जाते हैं, और अपनी ही जैसी वासनाओंवाले धनाढ्यों के पास, जहाँ तरह-तरह के भोग-विलास स्वच्छन्दतापूर्वक निर्द्वंद्व होकर भोगे जा सकते हैं, रहना पसन्द करते हैं। क्योंकि वहाँ इन लोगों की रक्षा के लिए बहुत-सी पुलिस नियत होती है, शहर में ख़ासतौर पर रहनेवाले सरकारी कर्मचारी होते हैं, और उनके चारों ओर धनी-मानी, व्यापारी तथा कला-कौशल वाले लोग इकट्ठे हो जाते हैं। शहर में किसी चीज़ की इच्छा करने भर की देर है और वह धनी पुरुष के लिए तैयार है। धनी पुरुष को इसलिए भी शहर में रहना अच्छा लगता है कि वहाँ उसके अभिमान को पोषण मिलता है, क्योंकि वहाँ मौज उड़ाने में दूसरों के साथ दौड़ की जा सकती है, अपने वैभव से उन्हें चकित और पराजित भी किया जा सकता है। अमीर लोगों के शहर में रहने का एक ख़ास कारण यह भी है कि गांव में उनका जीवन

इतना सुखी नहीं हो सकता; अपने वैभव के कारण उन्हें भय भी लगा रहता है; पर अब यहाँ भय तो दरकिनार, आसपास के दूसरे लोग जिस प्रकार शान के साथ रहते हैं, उसी प्रकार यदि न रहा जाय तो उलटा बुरा लगे। गाँव में जो भयजनक और भद्दा सा मालूम पड़ता था, वही यहाँ आवश्यक और अनिवार्य दिखाई पड़ता है।

अमीर लोग शहरों में एकत्र होते हैं, और सरकारी अफ़सरों के संरक्षण में रहकर गाँव से जो कुछ आता है, मौज से उसका उपभोग करते हैं। गाँववाले नगर के धनिकों के उत्सवों और भोजों से आकर्षित होकर कुछ बचा-खुचा मिल जाने की आशा से वहाँ जाते हैं, और धनिकों का चिन्ता रहित, बिना मेहनत का आनन्दमय जीवन जब वे देखते हैं, और देखते हैं कि प्रायः सभी उसे अच्छा समझते हैं, तो कभी-कभी उनके मन में भी यह इच्छा पैदा होना स्वाभाविक ही है कि हम भी कम-से-कम परिमाण में काम करके दूसरों की मेहनत से अधिक-से-अधिक लाभ जिस प्रकार उठाया जा सके, वैसा जीवन व्यतीत करें। आख़िरकार वह धनी लोगों के पास ही ठहरने का निश्चय कर लेता है। और अपनी आवश्यक चीज़ों को उनसे प्राप्त करने की हर तरह चेष्टा करता है। और उसके बदले में अमीर लोग जो-जो शर्तें पेश करते हैं उन्हें मानकर वह उनका आश्रित बन जाता है। उनकी सब प्रकार की विषय-वासनाओं को तृप्त करने में मदद देता है, स्नान-गृहों में, होटलों में, कोचवान और वेश्या के रूप में ये गाँव के स्त्री-पुरुष इनकी सेवा करते हैं। ये लोग गाड़ियाँ, खिलौने और कपड़े आदि बनाते हैं और धीरे-धीरे अपने धनी पड़ोसियों की भाँति रहना सीख जाते हैं, जिनमें वास्तविक मेहनत तो नहीं करनी पड़ती किन्तु तरह-तरह की चालाकियों से दूसरों का इकट्ठा किया हुआ धन उन्हें फुसलाकर हरण कर लेते हैं और इस प्रकार वे भ्रष्ट चरित्र हो कर नष्ट हो जाते हैं। शहर के धन से बिगड़े हुए यही लोग हैं कि जो शहर की दरिद्रता का कारण हैं; और जिन्हें सुधारने के लिए ही मैंने यह आयोजन रचा था, पर सफल न हुआ।

गाँव के लोग जो अन्न खरीदने के लिए अथवा कर चुकाने के वास्ते शहर में पैसा कमाने की दृष्टि से आते हैं, उनकी स्थिति पर ज़रा विचार कर लें। वे देखते हैं कि हज़ारों रुपया बड़ी ही बेपर्वाही से लोग उड़ा देते हैं, और सैकड़ों रुपया आसानी से कमाया भी जा सकता है, जब कि गाँव में सख्त-से-सख्त मेहनत करने पर कहीं जाकर एक पैसा मिलता है। यह सब देखते हुए हैरानी की बात प्रतीत होती है कि अब भी बहुत से लोग ऐसे है, जो मेहनत-मज़दूरी करके रोजी कमाते हैं और व्यापार करके, भीख माँगकर, व्यभिचार और बदमाशी द्वारा तथा चोरी और लूट-मार करके आसानी से धन कमाने की ओर नहीं झुक गये हैं।

नगरों में आनन्द-प्रमोद की जो लगातार रेल-पेल मची हुई है; उसमें भाग लेने के कारण ही हमारी वृत्ति अजीब बन जाती है। हमें इसमें कोई विचित्र वात मालूम नहीं होती है कि एक मनुष्य अपने लिए बड़े-बड़े पाँच कमरे रक्खे, और उनको गरम रखने के लिए इतनी लकड़ी जलाये कि जिसमें २० परिवारों का भोजन बन सके और उनके घर गरमाये जा सकें। हमें यदि आध मील जाना हो तो दो घोड़ों की बढ़िया गाड़ी चाहिए, और उसके साथ दो साईस भी होने चाहिएँ। अपने बेल-बूटेदार फ़र्श को ग़लीचों से ढकते हैं और नाच-गान की एक-एक मजलिस में पाँच से दस हज़ार रुपया तक लगा देते हैं। बड़े दिन के पेड के लिए २५ रूबल ख़र्च कर डालते हैं; और इसी प्रकार के दूसरे अन्धाधुन्ध खर्च करते हैं। हमें ये बातें भले ही अस्वाभाविक न मालूम होती हों, किन्तु जिस आदमी को अपने कुटुम्ब का पेट भरने के लिए १० रुपये की ज़रूरत है, या लगान के लिए बहुत मेहनत करके भी ७ रुपये न बचा सकने के कारण जिसकी अन्तिम भेड भी छीन ली गई हो, वह आदमी तो इस भयंकर फजूल ख़र्ची को कभी समझ ही नहीं सकता।

हम लोग समझते हैं कि ग़रीब लोगों को ये बातें बिलकुल स्वाभाविक मालूम होती होंगी। और कुछ तो ऐसे हज़रत हैं कि जो यह कहते हुए भी नहीं हिचकते कि हमारे राग-रंग से ग़रीबों का भला होता है—

उन्हें इससे रोज़ी मिलती है। किन्तु ग़रीब होने से उन्हें बुद्धि न हो, यह बात तो नहीं है। वे भी ठीक हमारी ही तरह विचार करते हैं। जब हम सुनते हैं कि किसी ने जुए में अपनी सम्पत्ति नष्ट करदी या दस-बीस हज़ार रुपये गँवा दिये, तो तुरन्त हमारे मन मे ख़याल आता है कि यह आदमी कैसा मूर्ख है, मुफ्त में इतने सारे रुपये बरबाद कर दिये! यदि मेरे पास इतनी रक़म होती तो उसका कितना सदुपयोग करता! मैं मकान बनवाता या जायदाद की तरक्की में उसे खर्च करता। हमें व्यर्थ ही अपनी दौलत को नष्ट करते हुए देखकर ग़रीब लोगों के दिल में भी उसी प्रकार का विचार उठता है, बल्कि उनके मन में यह विचार और भी जोर के साथ उठता है; क्योंकि आमोद-प्रमोद के लिए नहीं, किन्तु जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताओं को जुटाने के लिए उन्हें इस धन की ज़रूरत है।

यह बात तो इन्होंने कभी स्वीकार ही नहीं की, और स्वीकार कर भी नहीं सकते, कि एक वर्ग तो मज़े उड़ाये और दूसरा वर्ग भरपूर मेहनत करने हुए भी भूखों मरे। यह स्थिति इनको अच्छी लग ही नहीं सकती। पहले तो यह सब देखकर इन लोगों को आश्चर्य होता है, और बुरा भी मालूम होता है; किन्तु अधिक संसर्ग में आने से वे समझते हैं कि यह व्यवस्था तो उचित समझी जाती है तब वे भी मेहनत-मज़दूरी से पिंड छुड़ाकर इस राग-रंग में भाग लेने का प्रयत्न करते हैं। उनमें से कितने ही सफल हो जाते हैं और मज़े उड़ाने में मग्न हो जाते हैं। कितनों को यह स्थिति प्राप्त करने मे देर लगती है, और कितने ही इच्छित स्थिति को प्राप्त करने से पहले ही थक जाते है, किन्तु मेहनत-मज़दूरी का अभ्यास छूट जाने से वे बदमाशी तथा वेश्या-वृत्ति का आश्रय लेते हैं।

दो वर्ष पहले एक किसान के बालक को अस्तबल में काम करने के लिए हम लाये। अस्तबल के दारोग़ा के साथ झगड़ा होने पर उसे अलहदा कर दिया गया। वह एक व्यापारी के यहाँ नौकर होगया और उसका कृपा-पात्र बनकर आज सुन्दर कोट पहनता है, सोने की चेनवाली

घड़ी रखता है और चमकते हुए बूट पहनता है। इसी लड़के की जगह हमने दूसरे किसान को नौकर रक्खा। वह विवाहित था। वह शराब पीने गया और रुपया गँवा आया। हमने तीसरा आदमी नौकर रखा। उसको पहले से ही शराब पीने की लत थी और उसके पास जो-कुछ था वह सब उडा देने के बाद वह बहुत दिनो तक एक अनाथावास में पडा रहा। हमारा पुराना रसोई बनानेवाला शहर में आकर शराब पीने लगा और बीमार पड गया। हमारा साईस पहले बहुत शराब पीता था, किन्तु पाँच वर्ष तक गाँव में रहकर उसने शराब को छुआ भी नहीं; मगर जब वह अपनी स्त्री को छोडकर, जो उसकी देखभाल रखती थी, मास्को में आया, तब वह फिर पीने लगा और उसने अपना जीवन दुःखमय बना लिया। हमारे गाँव का एक छोटा लड़का मेरे भाई के यहाँ है। उसका अन्धा और बुड्ढा दादा, जब मैं गाँव में रहता था, तब, मेरे पास आया और कहने लगा कि किसी तरह मेरे पोते को समझा दो कि वह लगान अदा करने के लिए दस रूबल भेज दे। अगर ऐसा न हुआ तो गाय बेचनी पडेगी।

उस वृद्ध ने यह भी कहा, 'वह लड़का कहा करता है कि उसे भले आदमियों के-से कपडे पहनने पडते हैं, जिसमें बहुत ख़र्ज हो जाता है। उसने बडे बूट ख़रीद लिये हैं। इतना ही बहुत है, किन्तु मैं तो समझता हूँ कि वह अब घडी ख़रीदने की धुन में है।'

वृद्ध ने ये बातें इस ढंग से कहीं कि जिससे मालूम पड़ता था कि उसकी दृष्टि में घडी ख़रीदने से बढ़कर फ़ज़ूलख़र्ची तथा मूर्खतापूर्ण बात कोई हो ही नहीं सकती, और उस बेचारे का ख़याल ठीक भी था। इस वृद्ध को शीत-काल भर ज़रा भी घी या तेल खाने को नहीं मिला, और अब उसका सारा ईंधन नष्ट हुआ जा रहा है, क्योंकि, उसे कटाने के लिए सवा रूबल की ज़रूरत है, जो उसके पास नहीं है। वृद्ध ने जो बात व्यंग के रूप में कही थी, वह निकली भी सच। लड़का एक सुन्दर काला ओवरकोट और आठ रुपयेवाला बूट पहनकर मेरे पास आया। कल ही

मेरे भाई से दस रुपये लेकर उसने बूटों पर ख़र्च कर दिये। मेरे बच्चे इस लडके को बचपन से जानते थे। उन्होने मुझसे कहा—इस लड़के को घड़ी की तो बड़ी ज़रूरत है। यह है बड़ा अच्छा, पर यह समझता है कि यदि मेरे पास घड़ी न होगी तो लोग मुझपर हँसेंगे। इसलिए घड़ी तो इसे चाहिए ही।

इस वर्ष १८ वर्ष की एक दासी का कोचमैन के साथ अनुचित सम्बन्ध होगया और उसे छुट्टी दे दी गई। जब मैंने अपनी बूढ़ी धाय से यह बात कही तो उसने मुझे एक दूसरी लडकी की याद दिलाई, जिसे मैं भूल गया था। दस वर्ष पहले जब हम मास्को मे रहते थे, यह लड़की हमारे यहाँ नौकर थी। वहीं वह साईस की मुँहब्बत मे फँस गई। उसे भी विदा कर दिया गया था और आख़िरकार वह वेश्या-वृत्ति करने लगी। बीस वर्ष की भी वह होने न पाई कि घृणित रोग से पीडित होकर वह अस्पताल में मर गई। हमारे भोग-विलास के लिए जो मिल और कार-खाने खुले हैं, उनमें जो हो रहा है, उसे एक ओर छोडकर हम अपने चारों ओर स्वतः अपनी विलासिता के कारण जो अनीति की भयंकर बला फैला रहे हैं, उसे यदि हम आँख उठाकर देखें तो हमारा हृदय दहले विना न रहे।

इस प्रकार जिस नागरिक दरिद्रता को दूर करने में मैं असमर्थ रहा, उसका मूल कारण मुझे मिल गया। हम लोग गाँववालों के पास से उनकी ज़रूरत की चीज़ों को ला-लाकर जो शहरों में भरते हैं, यह इस दुर्दशा का पहला कारण है; और दूसरा कारण यह है कि इन नगरों में अपने भोग-विलास की ख़ातिर इन एकत्र की हुई चीज़ों का अन्धा-धुन्ध ख़र्च करके हम उन गाँववाले किसानों को वैभव के प्रलोभनों में फँसाकर उनका जीवन नष्ट करते हैं, जो अपना-अपना घर छोडकर शहर में उन चीज़ों के कुछ अंशों को ले जाने के लिए आते हैं, जिन्हें हम गाँव से उनसे छीनकर ले आये हैं।

: १४ :

एक दूसरे दृष्टि-कोण से विचार करने पर भी मैं उसी नतीजे पर पहुँचा। शहर के ग़रीबों के साथ के अनेक प्रसंग स्मरण करने पर मुझे मालूम हुआ कि ग़रीब लोगों की मदद न कर सकने का एक कारण यह भी था कि इन लोगों ने मुझे अपनी सच्ची स्थिति न बताकर झूठी बातें कही। ये लोग मुझे मनुष्य नहीं, एक प्रकार का साधन समझते थे। मैंने देखा कि मैं उनके साथ गहरा हार्दिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता, और शायद ऐसा करना जानता भी न था। किन्तु सचाई के बिना तो सहायता करना असम्भव था। भला किसी आदमी को सहायता किस प्रकार पहुँचाई जा सकती है, जबतक कि वह अपनी सारी स्थिति बता नहीं देता? पहले-पहल तो मैं इस बात का दोष ग़रीबों पर ही रखने लगा; क्योकि दूसरों के मत्थे दोष मढ़ना सरल और स्वाभाविक है। किन्तु सुटेफ़ नाम के एक समझदार मनुष्य ने, जो उन दिनो मुझसे मिलने आया था और मेरे घर रहता था, एक ऐसी बात मुझसे कही कि जिससे मेरा सारा संशय मिट गया और मैं यह भी समझ गया कि मेरे असफलता का सच्चा कारण क्या है।

मुझे याद है कि सुटेफ़ ने जब वे बातें कही थीं तब भी उनका मेरे दिल पर गहरा असर पड़ा था। किन्तु उन बातों का ठीक-ठीक और पूरा अर्थ तो मेरी समझ में कुछ दिनों बाद आया। उन दिनों जब मैं आत्म-वञ्चना के चक्कर में पूरे तौर पर पड़ा हुआ था, मैं अपनी बहन के घर

गया। सुटेफ़ भी वहीं था। मेरी बहन मेरी योजना के सम्बन्ध मे मुझसे प्रश्न करने लगी।

मैं सब बातें उसे बता रहा था; और जैसा कि अक्सर होता है, जब किसी आदमी को अपने काम में पूरा विश्वास नहीं होता तो वह ख़ूब बना-बना करके उसका ज़िक्र करता है, ठीक वैसा ही मैं भी बडे जोश, उत्साह के साथ, विस्तार के साथ और अपने काम का और उससे होने-वाले परिणामों का वर्णन करने लगा। मैं उसे बता रहा था कि मास्को में ग़रीबों की जो दशा हो रही है, उसका हमे किस प्रकार ख़याल रखना चाहिए और अनाथो तथा वृद्धों की किस तरह ख़बरगीरी रखनी चाहिए तथा गाँव के कंगाल लोगों को घर वापस भेजने तथा बिगडे लोगो को सुधारने के साधन किस प्रकार जुटाने चाहिएँ। मैंने अपनी बहन को समझाया कि यदि हम अपने कार्य में सफल हुए तो मास्को में एक भी ऐसा ग़रीब आदमी न होगा कि जिसे हम सहायता न पहुँचा सकें।

मेरी बहन ने मेरे विचारों से सहानुभूति प्रकट की। किन्तु मैं जब बातें कर रहा था तो कभी-कभी सुटेफ़ की ओर देखता जाता था। मैं उसके धार्मिक जीवन से परिचित था और जानता था कि वह दान-सम्बन्धी बातों को बहुत महत्व देता है। मुझे उससे सहानुभूति की आशा थी, और इसलिए मैं इस ढंग से बातें कर रहा था कि जिससे वह मेरी बातें समझ जाय। देखने को तो मैं अपनी बहन से बातें कर रहा था, पर वास्तव में मेरी बातों का ज़्यादा झुकाव उसी की ओर था।

वह काली भेड की खाल का कोट – जिसे किसान लोग घर मे तथा बाहर पहना करते हैं—पहने हुए अचल और स्थित भाव से बैठा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमारी बातें सुन रहा है बल्कि किसी और ही बात के ध्यान में है। उसकी छोटी-छोटी आँखों मे चमक बिल-कुल ही न थी, बल्कि ऐसा मालूम होता था कि उसकी दृष्टि किसी अन्तर प्रदेश में विचरण कर रही है। जी भरकर बातें कर चुकने के बाद मैंने उससे पूछा कि इस विषय में उसका क्या विचार है ?

उसने कहा—यह सब व्यर्थ है !

मैंने कहा—क्यों ?

विश्वासपूर्ण स्वर मे वह बोला—यह सारी योजना खोखली है, इससे कोई लाभ न होगा ।

'लाभ होगा क्यो नहीं ? यदि हम सैंकडों-हजारों दुखी मनुष्यों को सहायता पहुँचाएँ, तो इसे व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है ? नंगे को कपडा देना और भूखे को भोजन कराना क्या बाइबिल मे नही लिखा ?'

सुटेफ ने कहा—यह सब मैं समझता हूँ, किन्तु तुम जो-कुछ कर रहे हो वह वैसा नहीं है। क्या इस प्रकार सहायता देना सम्भव है ? सडक पर जाते हुए तुमसे कोई पैसा माँगता है, तुम उसे दे देते हो। क्या यह दान है ? उसकी आत्मा के कल्याण के लिए कुछ करो, उसे कुछ सिखाओ ! कुछ पैसे फेंककर तुम अपने सिर से बला टालते हो। क्या यह भी दान में दान है ?

मैंने कहा—नहीं, हम यह नहीं कहते। हम पहले तो उनकी ज़रूरतो को मालूम करेंगे और फिर धन अथवा काम देकर उनकी सहायता करेंगे ।

सुटेफ ने कहा—इस प्रकार उनकी कुछ भी सहायता न होगी ।

'क्या उन्हें भूखों मरने दें और शीत से ठिठुरने दें ?'

'मरने क्यों दें ? ऐसे कुल कितने आदमी होंगे ?'

'कितने आदमी होंगे ? आप शायद जानते नहीं कि अकेले मास्को में बीस हज़ार आदमी हैं, जो शीत और भूख की बीमारी से पीड़ित हैं, और फिर सेन्टपीटर्सबर्ग तथा अन्य नगरों में कितने होंगे ?'

वह मुस्कराया—सिर्फ़ बीस हजार ! और रूस में कुल घर कितने होंगे ? लगभग दस लाख तो होंगे ही।

'लेकिन इससे मतलब क्या है ?'

'मतलब क्या है ?' अबकी बार कुछ जोश से उसने कहा, और

उसकी आँखे जोश से चमक उठीं, 'हमें इन लोगों को अपने साथ मिला लेना चाहिए। मैं खुद अमीर आदमी नही हूँ। लेकिन दो आदमी अभी अपने पास रख लूंगा। तुमने अपने बबरचीखाने में जो आदमी अभी रखा है मैंने उससे अपने साथ चलने को कहा, किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। यदि इससे दसगुने भी होते, तब भी हम सबको अपने परिवार मे शामिल कर लेते। हम सब साथ मिलकर काम करेंगे। ये हम लोगो को काम करते हुए देखेंगे और जीवन-निर्वाह करने का ढंग सीखेंगे। हम लोग साथ बैठकर एक-सा भोजन करेंगे। कभी मुझ से और कभी तुमसे दो अच्छे शब्द इन्हे सुनने को मिलेंगे। यह दान है, यह उपकार है। आपकी योजना से कोई लाभ नहीं।'

इन सीधे-सादे शब्दों का मुझ पर असर पड़ा। उसकी बात सच है, यह तो मानना ही पडा। पर उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उसका कहना सच होने पर भी सम्भव है कि मेरी योजना से भी कुछ लाभ पहुँच सके, किन्तु ज्यो ज्यों मेरा काम आगे बढ़ा और गरीब लोगों के ज्यादा समीप आया, त्यों-त्यों मुझे इन शब्दों की याद बहुत आने लगी और वे अधिक अर्थ-पूर्ण मालूम होने लगे।

मैं रोयेंदार क़ीमती कोट पहनकर निकलता हूँ, अथवा गाड़ी में बैठ कर ऐसे आदमी के पास जाता हूँ, जिसके पास पहनने के लिए जूते भी नही हैं। वह देखता है कि मेरे घर की सजावट में हजारों रुपये खर्च होते हैं या बिना सोचे विचारे मैं किसी को पांच रुपये केवल मन की लहर के कारण दे डालता हूँ। इन बातो को वह देखता है और इनका उसके दिल पर असर पडे बिना नही रह सकता। वह सोचता है और समझ जाता है कि मैं जो इतना खर्च करता हूँ या इस प्रकार लोगों को रुपये दे डालता हूँ, इसका कारण यह है कि मैंने बहुत-सा रुपया इकट्ठा कर लिया है, जो मैं किसी को देना नहीं चाहता और जो मैंने उससे या उस जैसे दूसरों से बेदर्दी से छीन लिया है। और मेरे प्रति इसके सिवा उसका और ख़याल हो ही क्या सकता है कि मैंने उससे तथा दूसरे लोगों से जो रुपये ले लिये

हैं, उनमे से जितने और जिस प्रकार हो सकें, वह वापस लेने की इच्छा करे ?

मैं उसके साथ गहरा सम्बन्ध रखना चाहता हूँ पर शिकायत भी करता हूँ कि उसका व्यवहार उतना सच्चा नहीं है। किन्तु साथ ही मैं उसके बिछौने पर बैठने से डरता हूँ कि कहीं कोई छूत का रोग न लग जाय, और उसे अपने कमरे में भी आने देना नही चाहता। यदि वह बेचारा अर्धनग्न अवस्था में मुझसे मिलने आता है, तो उसे घण्टो इन्तज़ार करना पडता है, और उस समय यदि उसे ड्योढ़ी में स्थान मिल गया तो यह उसका सौभाग्य है, नहीं तो बाहर सर्दी मे खड़ा-खड़ा ठिठुरा करे ! और फिर मैं कहता हूँ कि यह सब उसका दोष है कि मैं उसके साथ अपनापन स्थापित नहीं कर पाता, उसका हृदय साफ़ नहीं है।

मैंने निष्पक्ष होकर अपने जीवन और रहन-सहन पर विचार किया तो मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि ग़रीब लोगों के साथ हमारे सम्बन्ध का घनिष्ट होना जो असम्भव-सा हो रहा है, यह केवल इत्तिफ़ाक की बात नहीं है, बल्कि हम खुद अपने जीवन को ऐसे ढङ्ग पर ढाल रहे हैं कि जिससे हमारा उनका मेल नामुमकिन हो रहा है। इतना ही नहीं, अपने जीवन को तथा धनी लोगो के जीवन को बाहर से देखने पर मैंने तो समझा कि हम लोग जिसे आनन्द या सुख समझते हैं, वह जहांतक हो सके इन ग़रीब लोगों से पृथक होकर दूर रहने में ही है। सच्ची बात यह है कि भोजन, पोशाक, मकान और सफाई से लेकर शिक्षा तक हमारी जीवन-सम्बन्धी सभी बातों का उद्देश्य ही यह मालूम पडता है कि हमारे और ग़रीबों के बीच में दीवार खडी करदी जाय और भेदभाव तथा पृथक्करण की इस बहुत ऊँची दीवार को खड़ी करने में हम अपने धन का नब्बे फ़ी सदी हिस्सा खर्च करते हैं।

जब कोई आदमी धनवान हो जाता है तो सबसे पहला काम वह यह करता है कि दूसरों के साथ खाना छोड़ देता है। वह अपने तथा परिवार के लिए खास भोजन बनवाता है, और अलहदा थालियां लगवाता है। वह अपने नौकरों को तो अच्छी तरह भोजन कराता है, ताकि उनके मुँह

मे पानी भर आये, पर स्वयं अलहदा बैठकर भोजन करता है। लेकिन अकेले खाना अच्छा नहीं लगता, इसलिए भोजन में यथासम्भव सुधार होता है और मेज़ को भी खूब सजाया जाता है। खुद खाने की पद्धति ही अभिमान और गौरव की बात हो जाती है, जैसा कि डिनर-पार्टियो मे देखने मे आता है। उसके भोजन करने की पद्धति मानों उसे दूसरे लोगों से अलहदा करने का एक साधन है। किसी ग़रीब आदमी को भोज मे निमन्त्रण करना तो धनी आदमी के लिए बिलकुल अनहोनी बात है। भोज मे शामिल होने के लिए महिला को मेज़ तक पहुँचने की, सलाम करने की, बैठने की, खाने की, हाथ-मुँह धोने की तमीज़ तो होनी ही चाहिए, और इन बातों को सिर्फ अमीर लोग ही ठीक तरह से करना जानते हैं।

पोशाक के बारे में भी यही बात है। यदि कोई अमीर आदमी सादी पोशाक पहने तो शरीर ढकने तथा शीत से सुरक्षित रखने के लिए उसे बहुत थोडे कपडों की जरूरत हो, और यदि उसके पास दो कोट हों तो जिसके पास एक भी न हो उसे एक कोट दिये बिना उससे रहा ही न जाय। किन्तु अमीर आदमी ऐसी पोशाक पहनना शुरू करता है कि जिसमें बहुत-सी चीज़ें होती हैं, जो विशिष्ट समय पर या विशिष्ट कपडो के साथ पहनी जा सकती हैं, और इसलिए वह गरीब आदमी के मतलब की नहीं होतीं। फैशनेबल आदमी के लिए शाम के पहनने के कोट, वेस्ट-कोट, फ्राककोट, पेटेन्ट लेदर बूट होने ही चाहिएँ। और उसकी स्त्री के पास भी ऊँची एडी के जूते, शिकारी और सफरी जाकेट, बॉडिस और फ़ैशन के मुताबिक तरह-तरह की कई हिस्सों की बनी हुई पोशाकें अवश्य चाहिए। ये सब चीज़ें केवल अमीरों के काम आ सकतीं हैं। हमारा पहरावा भी हमें जुदा करने का एक साधन हो जाता है, और फैशन का तो उद्देश्य ही अमीरों को ग़रीबों से दूर रखना है।

यही बात हमारे मकानों से और भी स्पष्ट रूप से साबित होती है। एक आदमी दस कमरों का उपयोग कर सके, इसके लिए हमें ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है कि वह ऐसे लोगों की दृष्टि से दूर रहे कि जो दस-

दस की संख्या में एक कमरे में रहते है। जितना ही अधिक कोई आदमी धनवान् होता है, उसतक पहुँचाना भी उतना ही कठिन होता है। उतने ही अधिक दरबान ग़रीब आदमियों को उसके पास न पहुँचने देने के लिए तैनात होते हैं, और किसी ग़रीब आदमी का आतिथ्य-सत्कार करना, उसे अपनी क़ालीनों पर चलने-फिरने तथा मख़मली कुर्सियों पर बैठने देना भी उसके लिए उतना ही अधिक असम्भव हो जाता है।

सफर में भी यही बात होती है। बैलगाडी मे बैठकर जाने वाला वह किसान बडा ही कठोर-हृदय होगा कि जो राह चलते थके हुए बटोही को अपनी गाडी में बैठाने से इन्कार कर दे। उसकी गाडी मे काफी जगह होती है और वह आराम से उसे बैठा सकता है। किन्तु गाडी जितनी ही अधिक ठाठदार और अमीराना होगी, मालिक के सिवा किसी दूसरे आदमी को उसमें स्थान देना उतना ही अधिक असम्भव होगा।

स्वच्छता शब्द से हम जिस प्रकार रहन-सहन की ओर इशारा करते है, उस स्वच्छता का भी यही हाल है।

स्वच्छता की दुहाई देने वाले उन मनुष्यों और ख़ासकर स्त्रियों को कौन नहीं जानता? स्वच्छता के इन विभिन्न रूपों को भी कौन नही जानता? इनकी कोई सीमा ही नहीं है, जबतक कि ये दूसरों की मेहनत से प्राप्त होते हैं। स्वयं-निर्मित धनिकों में ऐसी कौन है, जिसने अपने को उस स्वच्छता का आदी बनाने में बेहद परेशानी और तकलीफ अनुभव न की हो। यह स्वच्छता तो इस कहावत को चरितार्थ करती है—'उजले हाथों को दूसरों की मेहनत अच्छी लगती है।'

आज स्वच्छता इसमें है कि रोज़ कुर्ता बदला जाय, कल दिन में दो बार कुर्ते बदलने होंगे। पहले तो हाथ और मुँह धोना प्रतिदिन आवश्यक होता है, फिर पैर भी रोजाना धोने होते है; और फिर सारा शरीर, और वह भी ख़ास-ख़ास तरीक़ों से। एक साफ मेज़पोश दो दिन तक काम देता है, फिर वह रोज़ बदला जाता है, और उसके बाद दिन में दो-दो मेज़पोश बदले जाते है। आज तो इतना ही काफी समझा

जाता है कि अर्दली के हाथ साफ़ हों, पर कल उसे दस्ताने पहनने चाहिएँ और एक साफ़ तश्तरी में रखकर पत्र पेश करने चाहिएँ। जब तक हमें इसके लिए दूसरो की मेहनत पर निर्भर रहना पडता है, जब तक इस स्वच्छता की भी कोई हद न होगी। इसके सिवा इससे कोई लाभ भी नहीं है कि यह हमें दूसरे लोगों से जुदा कर दे।

इतना ही नहीं, मैंने जब इस बात पर गहरा विचार किया तो, मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि हम जिसे शिक्षा कहते हैं वह भी एक ऐसी ही चीज़ है। भाषा धोखा नहीं दे सकती, वह हरएक चीज़ को ठीक नाम से पुकारती है। फ़ैशनेबिल पोशाक, चटपटी बातचीत, उजले हाथ और स्वच्छता की कुछ मात्रा—बस, इसी को साधारण लोग शिक्षा कहते हैं। दूसरों से मुकाबिला करते हुए जब वे उसकी विशेषता दिखाना चाहते हैं, तो कहते हैं कि वह शिक्षित मनुष्य है। उच्च श्रेणी के लोगो में भी शिक्षा का यही अर्थ समझा जाता है। किन्तु उनमे ये बातें और जोड दी जाती हैं—पियानो बजाना, फ्रान्सीसी भाषा का ज्ञान, रूसी भाषा का शुद्ध लेख और स्वच्छता की कुछ अधिक मात्रा। इससे भी ऊँची श्रेणी में शिक्षा के अन्दर ये सब बातें होती ही हैं और इनके अलावा अँग्रेज़ी शिक्षा-सम्बन्धी किसी ऊँची संस्था का सर्टीफिकेट और स्वच्छता की और भी अधिक मात्रा, इन सब बातों का भी समावेश समझा जाता है। वस्तुतः तीनों ही श्रेणियों में शिक्षा का स्वरूप एक-सा है।

शिक्षा से मतलब है वह आचार और तरह-तरह का ज्ञान, जो मनुष्य को दूसरे मानव-बन्धुओं से अलग करता है। इसका भी वही उद्देश्य है कि जो स्वच्छता का है। अर्थात् हमें सर्व-साधारण लोगों से पृथक् करना, जिससे भूखों मरते और शीत से ठिठुरते हुए लोग देख न सकें कि हम किस प्रकार मौज उड़ाते हैं। किन्तु हमारी ये बातें छिपी नहीं रह सकतीं, भेद खुल ही जाता है।

इस प्रकार मैं यह समझ गया कि हम अमीर लोग ग़रीबों की मदद

इसलिए नहीं कर सकते कि हमारा उनके साथ गहरा ताल्लुक़ स्थापित होना मुमकिन नहीं है, और यह बाधा हम स्वयं अपने धन तथा समस्त जीवन-चर्या के द्वारा खडी करते हैं। मुझे विश्वास हो गया कि हम अमीरों और ग़रीबों के बीच में हमारे ही द्वारा उठाई हुई शिक्षा और स्वच्छता की एक दीवार खडी हुई है और उसका जन्म हमारे धन के द्वारा हुआ है। ग़रीबों को सहायता पहुँचाने के योग्य होने के लिए हमें सबसे पहले इस दीवार को ही तोड़ना पडेगा और ऐसी परिस्थिति पैदा करनी होगी कि जिससे सुटेफ़ के बताये हुए प्रस्तावों को अमली जामा पहनाया जा सके। अर्थात् ग़रीबों को हम अपने-अपने घरों मे लेलें। जनता की दरिद्रता के सम्बन्ध में अपनी विचार-सरणि के द्वारा मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा, एक दूसरे दृष्टिकोण से भी मैं उसी परिणाम पर आया—अर्थात् दरिद्रता का कारण हमारी सम्पत्ति है।

: १५ :

फिर तीसरी बार और अबकी बिलकुल अपने ख़याल से मैंने इस विषय पर विचार करना शुरू किया। मेरी उस परोपकारी-प्रवृत्ति के समय एक विचित्र बात ने मेरे दिल पर बड़ा असर किया, किन्तु बहुत दिनों तक मैं उसका मतलब नहीं समझ सका। घर पर या बाहर जब कभी मैंने किसी ग़रीब आदमी को उससे बातचीत किये बिना ही दो-चार पैसे दिये तो मुझे ऐसा मालूम पड़ा, कि उसके मुख पर प्रसन्नता और कृतज्ञता के भाव झलक रहे हैं और इस प्रकार के दान से खुद मुझे भी एक प्रकार का आनन्द होता था। किन्तु जब कभी मैंने उसके साथ बातचीत का सिलसिला शुरू किया, और उसके भूत तथा वर्तमान जीवन के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत जानने की चेष्टा की, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसको दो-चार या दस-बीस पैसे देकर चलता करना असम्भव है; तब मैं थैली में हाथ डालकर और यह न समझकर कि कितना देना ठीक होगा, सदा ही अधिक दिया करता था। किन्तु फिर भी मैं देखता कि वह ग़रीब नाराज़ होकर मेरे पास से गया है। यदि मैं अधिक अपनेपन से उससे बातें करने लग जाता तो कितना दान दूँ, इस विषय में मेरा सन्देह और भी बढ़ जाता; और फिर ऐसी हालत में मैं चाहे कितना ही क्यों न दूँ, उपकृत व्यक्ति और भी अधिक निराश और असन्तुष्ट दिखाई पड़ता था। यह एक साधारण नियम-सा था कि जब कभी मैंने किसी ग़रीब आदमी से अच्छी तरह बातचीत करके उसे तीन रुपये या इससे भी कुछ अधिक दिया, तो मैंने सदा ही उसके चेहरे पर

निराश, असन्तोष और कभी-कभी क्रोध के भाव देखे; और कुछ अवसरों पर तो मुझसे १० रुपये पाने के बाद भी मुझे धन्यवाद दिये बिना ही वह इस प्रकार मेरे पास से उठकर गया कि जैसे मैंने उसका अपमान किया हो !

ऐसे अवसरों पर मुझे सदा ही लज्जा और दुःख का अनुभव होता और ऐसा मालूम होता, जैसे मैंने पाप किया हो। जब मैंने किसी ग़रीब आदमी की कुछ हफ्तों, महीनों या वर्षों तक देखभाल की, बातें कीं, अपने विचार उसके सामने प्रकट किये, और इस प्रकार कुछ घनिष्टता हो गई, तो कुछ दिनों में हमारा सम्बन्ध बड़ा दुःखदायी-सा होजाता और मैं देखता कि वह आदमी मुझसे घृणा करने लगा है और मुझे भी ऐसा लगता कि उसका घृणा करना ठीक है। सड़क पर जाते हुए कोई भिखारी मुझसे एक पैसा माँगे और मैं उसे दे दूँ, तो उसकी दृष्टि में भी उन दयालु, नेक मनुष्यों में आ जाता हूँ, जो अन्य मनुष्यों की तरह एक-एक धागा देकर उसके लिए कुर्ता बनवा देते हैं। उस समय वह मुझसे अधिक की आशा नहीं रखता, सिर्फ एक धागा माँगता है—और वह जब मैं उसे देता हूँ, तो वह हृदय से आशीस देता है। किन्तु यदि मैं उसके पास ठहर कर मनुष्य के नाते भाई समझकर उससे बातें करूँ और उसे यह मालूम हो कि मैं योंही रस्ते चलनेवाला साधारण दाता नहीं हूँ, और यदि जैसा कि अक्सर होता है अपने दुख की कहानी वर्णन करते हुए वह रो उठे, तब वह मुझे इत्तफ़ाकिया दान देने वाला आदमी नही समझता बल्कि जैसा कि मैं चाहता हूँ वह मुझे एक दयालु सद्-गृहस्थ समझता है; और जब मैं दयालु हूँ तो मेरी दयालुता २० पैसे या दस रुपये या दस हज़ार रुपये देकर भी ख़त्म नहीं हो सकती। दयालुता की कोई सीमा नहीं।

कल्पना कीजिये कि मैं उसे बहुत-सा धन दे देता हूँ, उसके लिए स्थान और वस्त्र का प्रबन्ध कर देता हूँ, और उसे इस योग्य बना देता हूँ कि वह आप अपने पैरों खड़ा हो सके – बिना किसी की सहायता के

खुद अपनी रोज़ी कमा सके। किन्तु किसी न किसी कारण से, दैवी आपत्ति से अथवा अपनी दुर्बलता के कारण मैंने उसे जो कुछ दिया, वह सब गँवा बैठता है। न उसके पास रुपया रहता है, और न पहनने को कपड़ा। वह भूखों मरता तथा शीत से ठिठुरता है, और ऐसी हालत में वह फिर मेरे पास आता है; तो मैं सहायता देने से इनकार कैसे करूँ! हाँ, यदि मेरी दयालुता का उद्देश्य यह होता कि मैं उसे कुछ रुपये दे दूँ और एक कोट बना दूँ तो इतना कर चुकने के बाद मैं निश्चित हो कर बैठ सकता हूँ। किन्तु मेरे कार्य का लक्ष्य तो यह न था। मेरी इच्छा तो यह थी कि मैं दयालु पुरुष बनूँ, अर्थात् सब अपने आपको अनुभव करूँ। दयालुता का अर्थ सभी ऐसा ही समझते हैं, और कुछ नहीं।

इसलिए ऐसा आदमी यदि शराब पीने में सब कुछ उड़ादे, तुम उसे बीस बार दो और बीसों बार वह सब स्वाहा कर डाले और फिर भूखा का भूखा और नंगा का नंगा रह जाय तो यदि तुम दयालु पुरुष हो तो उसे फिर रुपया दिये बिना नहीं रह सकते—और तुम अपना हाथ उस समय तक नहीं खींच सकते, जबतक कि तुम्हारे पास उससे अधिक सामग्री है। किन्तु यदि तुम हाथ खींच लेते हो, तो तुम यह सिद्ध करते हो कि अभी तक तुमने दयालु होने के कारण सहायता नहीं दी बल्कि इसलिए दी कि दूसरे लोग तथा वह आदमी तुम्हें दयालु समझे। और चूँकि ऐसे अवसरों पर मैं हाथ खींच लेता था, सहायता देना बन्द कर देता था, और इस प्रकार अपने करे-धरे पर पानी फेर देता था, इसीलिए मेरे हृदय में पीड़ाजनक लज्जा की भावना पैदा हो जाती थी।

पर यह भावना थी क्या? ल्यापिन-गृह तथा गाँव में जब ग़रीबों को रुपया या कोई दूसरी चीज़ मैं देता था, तब मैं इस अनुभूति का अनुभव करता था। शहर के ग़रीबों को देखने के लिए मैं जब जाता था, तब भी मुझे इस का अनुभव होता था। हाल ही में एक घटना हुई, जिसने इस लज्जा की भावना को ज़ोरों के साथ मेरे सामने ला रक्खा।

यह घटना गाँव में हुई। एक यात्री को देने के लिए मुझे २० कोपकों

(रूसी सिक्क) की ज़रूरत थी। किसीसे माँग लाने के लिए मैंने अपने पुत्र को भेजा। वह रसोइये से उधार ले आया। कुछ दिनों बाद दूसरे यात्री आये। मुझे फिर २० कोपक की ज़रूरत हुई। मेरे पास एक रूबल था। मुझे याद आया कि रसोइये को २० कोपक देना है। यह सोचकर कि उसके पास और कोपक होंगे, मैं भोजन-गृह में गया और उससे कहा-

"मुझे २० कोपक तुमको देने है। पहले यह लो एक रूबल।"

मैंने बोलना समाप्त भी न किया कि रसोइये ने अपनी स्त्री को पास के कमरे से बुलाकर कहा—पाशा यह रूबल ले लो।

यह सोचकर कि मेरा मतलब यह समझ गई है, मैंने उसे रूबल दे दिया। यहाँ यह कह देना जरूरी है कि रसोइये को हमारे यहाँ रहते हुए एक हफ़्ता हो गया था, मैंने उसकी स्त्री को देखा था, पर उससे कभी बात नहीं की थी। बाकी वापस देने के लिए मैं उससे कहना ही चाहता था कि वह यह समझकर कि मैं यह रूबल उसे इनाम दे रहा हूँ, कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए वह मेरे हाथ को चूमने को झुकी। मैं कुछ गडबडा कर रसोई-गृह से निकल भागा। मुझे बड़ी ही लज्जा मालूम हुई। ऐसी लज्जा मैंने बहुत दिनों से अनुभव नहीं की थी। मेरा शरीर उस समय काँप रहा था और मुँह सूख गया था। मानों लज्जा से कराहते हुए मैं वहाँ से भाग आया।

इस घटना से मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मैंने अपनी स्त्री तथा अपने मित्रों से इसका ज़िक्र किया, और सभी ने कहा कि यदि यह घटना उनके साथ होती तो उनका भी ऐसा ही हाल होता। मैं सोचने लगा— आख़िर ऐसा हुआ क्यों?

इसका उत्तर मास्को की एक घटना से मिला, जो कुछ दिन पहले मास्को में मेरे सभी हुई थी। मैंने इसके ऊपर विचार किया और रसोइये की स्त्री वाली बात पर जो लज्जा मुझे प्रतीत हुई उसका अर्थ मैं समझा। मैं समझा कि मास्को में परोपकार का कार्य करते हुए अथवा जब कभी मैं फ़क़ीरों तथा यात्रियों को उस साधारण दान से कुछ अधिक

देता हूँ कि जिसके देने की मुझे आदत है और जिसे मैं दान नहीं कहता, केवल सभ्यता और कुलीनता समझता हूँ, लज्जा की लहरें मेरे हृदय में दौड़ जाती हैं। कोई आदमी दिया जलाने के लिए दीयासलाई माँगे और दियासलाई तुम्हारे पास हो, तो तुम्हें अवश्य ही देनी चाहिए। यदि कोई आदमी २० या २५ कोपक या कुछ रुपये माँगता है और यदि तुम्हारे पास हैं, तो तुम्हें देना ही चाहिये। यह दान-पुण्य नहीं है। यह तो सभ्यता की बात . शराफ़त का तक़ाज़ा है।

वह घटना यह थी। एक दिन, शनिवार की सायंकाल के झुटपुटे में मैं दो किसानों के साथ शहर वापस आ रहा था। एक पुल पार करने के बाद हमें एक बूढ़ा भिखारी मिला। मैंने उसे २० कोपक दिये। मैंने ये कोपक यह सोचकर दिये थे कि साइमन पर; जिसके साथ मैं धार्मिक प्रश्नों पर बातें कर रहा था, इसका कितना अच्छा असर पड़ेगा।

साइमन वाल्डमीर का रहनेवाला किसान था। उसके एक स्त्री और दो बच्चे मास्को में रहते थे। वह भी ठहरा और अँगरखे का बन्द खोल का जेब में से अपनी थैली उसने निकाली और उसपर नज़र डालने के बाद तीन कोपक का एक सिक्का बाहर निकालकर उसे बुड्ढे को दिया और दो कोपक वापस माँगने लगा। उस बुड्ढे आदमी ने अपना हाथ पसार दिया, जिसमें दो-तीन कोपक के सिक्के थे और अकेला एक कोपक। साइमन ने उनकी ओर देखा और उनमें से एक कोपक उठाना चाहा, किन्तु फिर विचार बदलकर अपनी टोपी उतारकर बुड्ढे को सलाम किया और फिर प्रार्थना के रूप में हाथ से क्रास का चिन्ह बनाकर दो कोपक बूढे से लिये बिना ही वह चल दिया। साइमन की आर्थिक अवस्था से मैं खूब परिचित था। उसके पास न तो घर था और न कोई दूसरी जायदाद। जब उसने बुड्ढे को तीन कोपक दिये थे तब उसके पास पाँच रुबल और पचास कोपक थे और यही उसकी सारी पूँजी थी।

मेरी सम्पत्ति लगभग साठ लाख रुबल के होगी। मेरे एक स्त्री और दो बच्चे थे, सो साइमन के भी थे। वह मुझसे छोटा था। इसलिए

उसके बच्चे संख्या में मुझसे कम थे, किन्तु उसके बच्चे छोटे थे और मेरे बच्चों से दो काफ़ी बड़े थे, काम करने लायक़ थे, और इस प्रकार सम्पत्ति के प्रश्न को छोड़ देने पर हमारी परिस्थितियाँ एक-सी थीं, हालाँकि इस तरह भी मैं उससे अच्छा था। उसने तीन कोपक दिये और मैंने बीस। अब देखिए कि हम दोनों के दान में क्या अन्तर था। जितना दान उसने किया था उतना दान करने के लिए मुझे कितना देना चाहिए था? उसके पास ६०० कोपक थे, इनमें से उसने एक कोपक दिया और फिर दो, और मेरे पास ६०,००,०० रूबल थे। साइमन के बराबर दान करने के लिए मुझे तीन हज़ार रूबल देने चाहिएँ थे, और उस आदमी से दो हज़ार रूबल वापस देने के लिए कहना था। यदि उसके पास फुटकर न होता तो यह दो हज़ार भी उसके पास छोड़कर क्रास बनाकर शान्तिपूर्वक बिना दिल मे कोई विचार लाये वहाँ से चल देता।

इस विषय पर उस समय मैंने गौर किया, किन्तु इस घटना से जो ज़रूरी परिणाम निकलता है, वह बहुत देर बाद मेरी समझ में आया। यह परिणाम गणित की तरह बिलकुल शुद्ध होते हुए भी इतना असाधारण और विचित्र है कि उसको समझने में समय लगता है। आदमी के हृदय में यह भावना उठती है कि शायद इसमें कहीं कुछ ग़लती है, पर वास्तव में उसमें ग़लती है नहीं। ग़लती का ख़याल हमें इसलिए आता है, कि हम लोग भ्रम के भयंकर अन्धकार में रहते हैं।

जब मैं उस परिणाम पर पहुँचा तब उस लज्जा का कारण मेरी समझ मे आया जो रसोइये की स्त्री के सामने तथा दूसरे ग़रीबों को दान देते समय मुझे मालूम हुआ करती थी और अब भी होती है—जब कभी मैं उस प्रकार का दान देता हूँ। वास्तव में यह रुपया है क्या जो मै ग़रीबों को देता हूँ और जिसे रसोइये की स्त्री ने समझा था कि मैं उसे दे रहा हूँ? मैं जो दान देता हूँ, वह प्रायः मेरी जायदाद का इतना छोटा हिस्सा होता है कि साइमन तथा रसोइये की स्त्री नहीं समझ सकती कि वह मेरी सम्पत्ति का कितना अंश है—बहुधा लाखवाँ हिस्सा

होता होगा। मैं जो देता हूँ वह इतना थोड़ा होता है कि मेरा दान, दान या त्याग नहीं कहला सकता। यह तो गोया एक प्रकार का दिल-बहलाव है, और सच पूछिए तो रसोइये की स्त्री ने ऐसा ही समझा भी था। यदि राह-चलते किसी अजनबी को मैं एक रूबल या २० कोपक दे देता हूँ तो उसे भी एक रूबल क्यों नहीं दे सकता ? उसके लिए रुपये का यह वितरण ऐसा ही है, जैसे कोई सद्गृहस्थ लोगों में रेवड़ियाँ बँटवावे। यह तो उन लोगों का मनोरंजन है कि जिनके पास बहुत-सा मुफ़्त का पैसा है। रसोइये की स्त्री की भूल ने मुझे यह बात स्पष्ट रूप से बतला दी कि उसका तथा और ग़रीब लोगों का मेरे विषय मे कैसा ख़याल है—यही कि मैं मुफ़्त का पैसा लोगों में बाँटता फिरता हूँ, अर्थात् वह पैसा जो मैंने मेहनत करके नहीं कमाया है। इसलिए उस दिन मुझे लज्जा मालूम हुई थी।

वास्तव में यह रुपया है क्या और, मुझे कैसे मिला ? उसका एक हिस्सा तो मैंने लगान के रूप में जमा किया जिसे अदा करने के लिए बेचारे किसानों को अपनी गायें या भेड़ें बेचनी पड़ीं। मेरे धन का दूसरा हिस्सा मेरी लिखी हुई पुस्तकों के द्वारा मुझे मिला। यदि मेरी पुस्तके हानिकारक हैं और फिर भी बिक जाती हैं तो इसका कारण यही हो सकता है कि उनके अन्दर कोई दूषित प्रलोभन है; और इसलिए उन पुस्तकों से जो रुपया मुझे मिलता है वह बुरे रूप से पैदा किया हुआ है। किन्तु यदि मेरी पुस्तकें लाभकारी हैं तब तो और भी बुरी बात है। मैं अपनी पुस्तकें लिखकर वह ज्ञान लोगों को दान तो कर नहीं देता, बल्कि कहता हूँ—मुझे इतने रुपये दो तो मैं इसे तुम्हारे हाथ बेचदूंगा।

लगान के लिए, जैसे किसान को अपनी भेड़-बकरी बेचनी पड़ती है, किताब के लिए ग़रीब विद्यार्थी तथा शिक्षक को भी वैसा ही करना पड़ता है। प्रत्येक ग़रीब आदमी को, जो किताब ख़रीदता है, मुझे रुपया देने के लिए कोई न कोई आवश्यक चीज़ छोड़ देनी पड़ती है। अब, जबकि मैंने इतना रुपया कमा लिया है, तो मैं इसका क्या करूँ ? मैं उसे शहर

में ले जाता हूँ और ग़रीब आदमियों को देता हूँ। लेकिन तभी, जब वे मेरी इच्छाओं की पूर्ति करते है। इन रुपयों के द्वारा जो मैं उन्हें देता हूँ—मुझे उनसे जो-कुछ मिलता है सब ले लेता हूँ। मेरी कोशिश रहती है कि मैं उन्हें दूँ तो कम से-कम, किन्तु ले लूँ वह सब, जितना कि लिया जा सकता हो।

ऐसा करने के बाद अब अचानक ही मैं यह रुपया मुफ्त में ही ग़रीबों को देना शुरू करता हूँ, किन्तु, मैं सबको नहीं जिसकी इच्छा होती है उसी को देता हूँ। तब फिर क्यों न प्रत्येक ग़रीब आदमी यह आशा करे कि सम्भव है आज मेरी भी बारी आ जाय और मेरी भी उन लोगों में गिनती हो कि जिनमें अपना 'मुफ़्त का रुपया' बाँटकर मैं अपना दिल बहलाता हूँ ?

बस, हरएक आदमी मुझे ऐसा ही समझता है कि जैसा रसोइये की स्त्री ने समझा था। किन्तु मैं तो यह समझ रहा था कि मैं जो एक हाथ से हज़ारो रुपये छीनकर दूसरे हाथ से अपनी पसन्द के लोगों के आगे कुछ कोपक फेंकता रहता हूँ यह दान है—पुण्य है। तब इसमें क्या आश्चर्य कि मुझे लज्जा मालूम हुई ? किन्तु पेश्तर इसके कि मैं परोप-कार करने के योग्य बनूँ मुझे इस बुराई को छोड़ देना होगा।

थोडा-सा भी उपकार कर सकने के योग्य मैं तभी होऊँगा, जबकि मैं अपने पास कुछ भी न रक्खूँगा। उदाहरण के लिए उस ग़रीब वेश्या को लीजिए कि जिसने तीन दिन तक एक बीमार स्त्री और उसके बच्चे की सेवा की थी। किन्तु उस समय उसका वह काम मुझे कितना छोटा मालूम पड़ा ? और मैं परोपकार की योजनायें गढ़ रहा था। उस समय की बस एक बात सत्य निकली, जिसका अनुभव पहले-पहल ल्यापिन-गृह के बाहर भूखे और शीत से ठिठुरते हुए लोगों को देखकर मुझे हुआ था—अर्थात् मैं ही इस पाप का भागी हूँ, और जिस प्रकार का जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ वह असम्भव, बिलकुल असम्भव है। तब फिर हम क्या करें ? अब ईश्वर की आज्ञा से विस्तारपूर्वक मैं उसका उत्तर दूँगा।

: १६ :

पहले तो इस बात को स्वीकार करना मुझे बड़ा कठिन मालूम हो रहा था, किन्तु जब इस सत्य का मुझे विश्वास होगया तब यह सोच-कर मैं भयभीत हो उठा कि अभी तक मैं कैसे भयंकर भ्रम मे पड़ा हुआ था। मैं खुद सिर से लेकर पाँव तक दलदल में फँसा हुआ था, किन्तु फिर भी मैं दूसरों को दलदल से निकालने की चेष्टा कर रहा था! वास्तव में मैं चाहता क्या हूँ? मैं परोपकार करना चाहता हूँ। मैं ऐसा उपाय ढूँढ निकालना चाहता हूँ कि कोई मनुष्य भूखा-नंगा न रहे, सब मनुष्य की तरह अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

मैं चाहता तो यह हूँ, देखता हूँ कि जुल्म और जबरदस्ती तथा तरह-तरह की तरकीबों द्वारा, जिनमें मैं भी भाग लेता हूँ, ग़रीब मज़दूरों से अत्यन्त आवश्यकता की चीजें भी छीन ली जा रही हैं, और श्रम न करने वाले अमीर लोग, जिनमें मेरी भी गणना है, दूसरों की मेहनत पर मौज उड़ाते हैं।

मैं देखता हूँ कि दूसरे लोगों की मेहनत पर मौज उड़ाने का ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि जो मनुष्य जितना अधिक चालाक है, और उसके द्वारा अथवा उसके पूर्वजों के द्वारा कि जिनसे विरासत से उसे जायदाद मिली है, जितने ही अधिक छल-प्रपंच रचे जायँ, उतना ही अधिक वह दूसरों के श्रम से लाभ उठा सकता है और उसी परिणाम में वह खुद मेहनत करने से बच जाता है।

अमीर-उमरा-धनी-सराफ, व्यापारी, बड़े-बड़े ज़मींदार, सरकारी अफ़सर पहले वर्ग में हैं। उनके बाद कुछ कम धनवाले बैंकर, व्यापारी और मेरे जैसे ज़मीदारो का नम्बर आता है। इनके बाद छोटे-छोटे दूका-नदार, होटलवालों, सूदख़ोरो, पुलिस-सारजण्टों, इन्स्पेक्टरों, शिक्षको, पुरोहितों और लेखकों का नम्बर है। फिर दरबान, साईस, कोचमैन, भिश्ती, गाडी-हॉकनेवाला तथा फेरी लगानेवाले विसाती हैं; और तब कहीं सबसे अन्त में जाकर बारी आती है—मज़दूरों, कारख़ाने के काम करनेवालों और किसानों की, हालाँकि इस वर्ग की संख्या अन्य वर्गों की अपेक्षा दस-गुनी अधिक है।

नब्बे फ़ीसदी श्रमजीवियों का जीवन ही ऐसा है कि जिसमे खूब मेहनत और मजदूरी करनी पडती है। कोई भी स्वाभाविक 'जीवन ऐसा ही होता है—यह सच है। पर जिन तरकीबों से इन लोगो के पास से जीवन की ख़ास जरूरतो की सामग्री छीन ली जाती है, उनके कारण इन बेचारो का जीवन प्रतिवर्ष अधिक कठिन और कष्टमय बनता जा रहा है। इसके साथ ही हम आलसी लोगों का जीवन कला और विज्ञान के सहयोग से प्रतिवर्ष अधिक आनन्दमय, आकर्षक और निश्चिन्त होता जा रहा है।

धनी लोगों के जीवन की निश्चिन्तता तो अब उस अवस्था को पहुँच गई है कि जिसका स्वप्न पुराने ज़माने मे लोग देव और परियों की कहानियों में देखा करते थे। उन्हें ऐसी जादू की थैली मिल गई दीखती है कि जिसमे धन कभी घटता ही नहीं। जीवन-रक्षा के निमित्त प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रम करने का जो स्वाभाविक नियम है, उससे वे एकदम मुक्त ही नहीं हो गये, बल्कि बिना श्रम किये जीवन के समस्त सुखों का उपयोग करने मे वे समर्थ हो गये हैं और अन्त में अपने बच्चों को अथवा जिस किसी को भी चाहें वे 'अक्षय-निधि' वाली यह जादू की थैली विरासत में भी दे जा सकते हैं।

मैं और मेरे-जैसे धनी लोग इस अक्षय-निधि को प्राप्त करने के लिए

तरह-तरह की तरक़ीबें करते हैं, और उसका उपभोग करने के लिए हम लोग शहरों में आ बसते हैं, जहाँ पैदा कुछ नहीं होता किन्तु सफ़ाया सब चीज़ों का अवश्य हो जाता है। अमीर लोगों को यह जादू की थैली मिल सके, इसके लिए गाँव का ग़रीब आदमी लूटा जाता है और वह ग़रीब निरुपाय होकर उनके पीछे दौड़ा हुआ शहर को आता है, और वह भी वैसी ही चालाकियों से काम लेता है, और ऐसा प्रबन्ध करता है, जिससे वह काम थोड़ा करता है और मज़े खूब उड़ाता है। (और इस प्रकार अन्य काम करनेवालों पर काम का और भी अधिक बोझ आ पडता है) या इस स्थिति को प्राप्त करने से पहले ही बरबाद होकर क्षेत्रों मे रहनेवाले नंगे और भूखे लोगों की लगातार तेज़ी बढ़नेवाली संख्या में और एक आदमी की वृद्धि करता है।

मैं उन लोगों में से हूँ, जो तरह-तरह की तरकीबों से मेहनत करने वालों की जीवनोपयोगी चीज़ें छीन लेते हैं और इस प्रकार अपने लिए जादू की अक्षय-निधि तैयार करते हैं। आज भी मैं लोगों का शोषण कर रहा हूँ। मैंने अपनी स्थिति ऐसी बना ली है कि किसी प्रकार का श्रम किये बिना ही मैं सैकड़ो-हजारों मनुष्यों को अपना काम करने के लिए मजबूर कर सकता हूँ, और सच पूछिए तो अपने इस विचित्र अधिकार का मैं उपभोग भी कर रहा हूँ, किन्तु फिर भी मैं सदा यह समझता हूँ कि मैं इन दीन-लोगों पर दया कर रहा हूँ और उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए उत्सुक हूँ।

मैं एक आदमी की पीठ पर सवार हो गया हूँ और उसे असहाय तथा निर्बल बनाकर मजबूर करता हूँ, कि वह मुझे आगे ले चले। मैं उसके कन्धों पर बराबर सवार हूँ, फिर भी मैं अपने को तथा दूसरों को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस आदमी की दुर्दशा से मैं बहुत दुःखी हूँ और उसका दुःख दूर करने में उसकी पीठ पर से उतरने के सिवाय मैं और कुछ उठा न रखूँगा।

बात बिलकुल साफ़ है। यदि मैं ग़रीबों की मदद करना चाहता हूँ,

अर्थात् उनकी ग़रीबी ख़तम करना चाहता हूँ, तो मुझे लोगों को ग़रीब न बनाना चाहिए। फिर भी मैं बिगड़े हुए लोगों को बिना विचारे रुपया दे देता हूँ और जो लोग अभी बिगड़े नहीं हैं, उनसे बीसों रुपया छीन लेता हूँ – इस प्रकार मैं लोगों को ग़रीब तो बनाता ही हूँ, साथ-ही-साथ उन्हें भ्रष्ट भी करता हूँ।

लोगों की सहायता की इच्छा रखनेवाला मैं हूँ कौन ? मैं दूसरों को सुधारना चाहता हूँ, फिर भी रात-भर रोशनी से जगमगाते हुए कमरे मे ताश खेलता हूँ, और फिर दोपहर तक पडा सोता रहता हूँ। मैं, एक दुर्बल, पौरुषहीन मनुष्य—जिसको खुद अपनी सेवा के लिए सैकड़ो आदमियों की सहायता की ज़रूरत होती है—वही मैं, दूसरों को सहायता देने निकलता हूँ, और सहायता भी उन लोगों को, जो सवेरे पॉच बजे उठते हैं, ज़मीन पर सोते हैं, रूखी-सूखी रोटियाँ खाकर रह जाते है और जो जोतना, बोना, लकड़ी काटना, कुल्हाड़ी मे डंडा डालना, घोड़ों को जोतना और कपड़ा सीना आदि कार्य करना जानते हैं और जो शक्ति में, दृढ़ता में, कार्य-कुशलता और आत्म-संयम मे मुझसे सैकड़ो दर्जे बढ़-चढकर हैं। ऐसे लोगों को सुधारने का भार लिया था मैंने !

ऐसे लोगों के संसर्ग में आकर मैं लज्जित न होता तो और क्या होता ? उनमें सबसे अधिक दुर्बल एक शराबी है, जो ज़िनोफ-गृह मे रहता है और जिसे सब लोग 'आलसी' कहते हैं। वह भी तो मेरी अपेक्षा कहीं अधिक मेहनती है। मैं लोगों से कितना लेता हूँ और बदले में कितना देता हूँ और वह दूसरों से कितना लेकर उन्हें कितना देता है, इस बात की यदि तुलना की जाय तो वह मुझसे हजारो दर्जे अच्छा निकलेगा।

ऐसा होने पर भी मैं ग़रीबों का सुधार करने का दम भरता हूँ। मगर हम दोनों में अधिक दीन कौन है ? मुझसे अधिक दीन और कोई न होगा। मैं एक अशक्त, परोपजीवी और बिलकुल निकम्मा जीव हूँ, और ख़ास-ख़ास हालतों में ही जीवित रह सकता हूँ। जब हज़ारों

आदमी मेहनत करें तभी मेरा यह निरुपयोगी जीवन टिक सकता है। वृक्ष के पत्तों को खा डालने वाला मैं एक कीडा हूँ। फिर भी मैं चाहता हूँ कि मेरे हाथों उस वृक्ष का रोग दूर हो और वह खूब फूले-फले !

मैं अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता हूँ ? मैं खाता हूँ, बातें करता हूँ, बाते सुनता हूँ। मैं फिर खाता हूँ, लिखता हूँ या पढ़ता हूँ, जो बातें करने तथा सुनने का ही दूसरा तरीक़ा है। मैं फिर भोजन करने बैठता हूँ और खेलता हूँ। फिर खता हूँ, बाते करता हूँ, सुनता हूँ और अन्त में खाकर सो जाता हूँ। इसी प्रकार मेरे सारे दिन बीतते हैं। मैं और न तो कुछ करता ही हुँ और न करना जानता हूँ। मैं इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकूँ, इसके लिए दरवान, चौकीदारों, किसानो सईसों, कौचमैनों, भोजन बनाने वाले स्त्री-पुरुषों और धोबी-धोबिनो को सुबह से लेकर रात तक काम करना पडता है। और इनको काम के लिए जिन औजारों की ज़रूरत होती है उन्हें बनाने तथा कुल्हाडी, पीपे ब्रश, तश्तरियाँ, लकड़ी तथा काँच का सामान, जूतो की पालिश, मिट्टी का तेल, घास लकड़ी और भोजन आदि सामान तैयार करने में जो मेहनत होती है उसका हिसाब ही अलहदा है। इन सब स्त्री-पुरुषों को रात-दिन कडी मेहनत इसलिए करनी पडती है कि मै मज़े से खाऊँ, बातें करूँ और सोऊँ ! और मैं एक बडा निकम्मा आदमी, यह सोच रहा था कि जो लोग मेरी सेवा कर रहे हैं मैं उनका उपकार कर रहा हुँ ! मैं किसी का कोई भला नहीं कर सका और मुझे लज्जित होना पड़ा, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी मूर्ख धारणा मेरे मन में बँध कैसे गई कि मैं दूसरे लोगों का उपकार कर रहा हूँ और कर भी सकता हूँ।

उस अपरिचित बूढ़े और बीमार आदमी की सेवा करती हुई वह स्त्री वास्तव में वृद्ध रोगी की सहायता कर रही थी। किसान की स्त्री जो अपने हाथ से पैदा किये हुए नाज की रोटी मे से एक टुकडा काटकर भूखे को देती है, सच्ची सहायक है। और साइमन ने अपनी मेहनत से कमाये हुए

तीन कोपक जो यात्री को दिये थे, वह उसका सच्चा दान था, क्योंकि इन कामों के अन्दर पवित्र परिश्रम और त्याग की स्वर्गीय भावना है किन्तु मैंने न तो किसी की सेवा की और न किसी के लिए कोई काम किया। और मैं जानता हूँ कि जो रुपया मेरे पास है और जिसमें से कुछ मैं दूसरों को दे दिया करता हूँ, वह मेरे परिश्रम को नहीं बताता।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि रुपये में अथवा रुपये के मूल्य में और उसके इकट्ठा करने में ही कोई दोष है, कोई बुराई है, और मैंने समझा कि मैंने जो बुराइयाँ देखी हैं उनका मूल कारण यह रुपया ही है और मैं उसी रुपये का मालिक हूँ। तब मेरे मन में प्रश्न उठा—यह रुपया है क्या?

: १७ :

रुपया ! यह रुपया क्या है ?

कहा जाता है, रुपया मेहनत का इनाम है। मैं ऐसे शिक्षित लोगों से मिला हूँ, जो ज़ोर देकर कहते हैं कि रुपया जिन लोगों के पास है वह उनके किये हुए परिश्रम का प्रतिकूल है। मैं स्वीकार करता हूँ कि पहले भी ऐसी ही धारणा थी, भले ही वह बहुत स्पष्ट न थी। किन्तु अब मुझे यह जानना था कि दरअसल यह रुपया क्या चीज़ है, और ऐसा करने के लिए मैं अर्थ-शास्त्र की ओर झुका।

अर्थ-शास्त्र कहता है कि पैसे में अन्याय या दोष की कोई बात नहीं है। सामाजिक-जीवन का वह एक कुदरती नतीजा और एक तो विनिमय की सुगमता के लिए, दूसरे चीज़ों का मूल्य निश्चित करनेवाले साधन के रूप में, तीसरे संचय के लिए, और चौथे लेन-देन के लिए रुपया आवश्यक है।

यदि मेरी जेब में मेरी आवश्यकता से अधिक तीन रूबल पड़े हों, तो किसी भी सभ्य नगर में जाकर ज़रा-सा इशारा करने भर की देर है कि ऐसे सैंकड़ों आदमी मुझे मिल जायेंगे कि जो तीन रूबलों के बदले में चाहूँ जैसा भद्दे से भद्दा, महाघृणित और अपमानजनक काम करने को तैयार हो जायेंगे। कहा जाता है कि इस विचित्र स्थिति का कारण रुपया नहीं है, समाज के आर्थिक जीवन की विषम अवस्था ही इसका कारण है। एक आदमी का दूसरे आदमी के ऊपर अधिकार-पैसे के कारण नहीं

होता, बल्कि इसका कारण यह है कि काम करने वाले को अपनी मेहनत का पूरा मुआवज़ा नहीं मिलता है। परिश्रम का पूरा प्रतिफल न मिलने का कारण पूँजी, सूद, किराया, मज़दूरी और धन की उत्पत्ति तथा खपत की बड़ी ही टेढ़ी और गूढ़ व्यवस्था है।

सीधी भाषा में यह कहा जा सकता है कि पैसा, बिना पैसे वालों को अपनी अंगुली पर नचा सकता है। किन्तु अर्थ-शास्त्र कहता है कि यह भ्रम है। प्रत्येक प्रकार की पैदावार मे तीन बातें काम में आती हैं--ज़मीन, संचित श्रम अर्थात् पूँजी, और श्रम। थोड़े आदमी बहुतों के ऊपर शासन करें, यह बात पैदावार के इन तीनों साधनों के विभिन्न सम्बन्धों से पैदा होती है। क्योंकि पहले दो साधन, ज़मीन और पूँजी, काम करने वाले मज़दूरों के हाथ में नहीं है। इस स्थिति और इस स्थिति के कारण जो विभिन्न संयोग उपथित होते हैं, उनकी वजह से बहुत-से लोगों को कुछ ख़ास लोगों की तावेदारी करनी पड़ती है।

ऐसा कहा जाता है कि वस्तु की उत्पत्ति में तीन साधन काम में आते हैं—ज़मीन, पूँजी और मज़दूरी। जो-कुछ पैदा होती है वह द्रव्यों के रूप में—उसका मूल्य इन्ही तीनों साधनों के मालिकों में विभक्त हो जाता है। और वह होता है इस प्रकार—भाड़ा अर्थात् ज़मीन की क़ीमत ज़मींदार को, सूद पूँजीपति को, और मज़दूरी काम करने वाले को मिलती है।

किन्तु क्या यह बात सच है? पहले तो हमें यही देखना है कि क्या उत्पत्ति के सदा तीन ही ज़रिये होते हैं?

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए सूर्य की गरमी ज़मीन के समान ही उपयोगी, बल्कि उससे भी ज्यादा ज़रूरी है। कल्पना कीजिये कि शहर में किसी वर्ग के लोग दीवाल अथवा वृक्षों के द्वारा दूसरे लोगों को सूर्य के प्रकाश से वञ्चित रक्खें तो उनकी कैसी स्थिति होगी? फिर इसको उत्पत्ति के अंगों में क्यों नहीं गिनते? पानी भी ज़मीन के ही समान महत्वपूर्ण साधन है। हवा का भी यही हाल है। एक वर्ग के लोग यदि हवा

और पानी पर पूरा कब्ज़ा लें, तो दूसरे वर्ग के लोगों की हवा-पानी के बिना कैसी हालत होगी, इसकी भी कल्पना की जा सकती है। सामाजिक व्यवस्था द्वारा संरक्षण भी एक स्वतंत्र अङ्ग है, मज़दूरों के लिए ख़ुराक और कपड़ा भी उत्पत्ति के महत्व-पूर्ण साधन हैं—और कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकार भी किया है। शिक्षा अर्थात् बोलने और समझने की शक्ति, जिससे एक काम में से निकलकर दूसरे काम में पड़ने की समझ पैदा होती है, यह भी उत्पत्ति का साधन है।

इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों की यदि मैं गणना करने बैठूँ तो एक पूरी पुस्तक भर जाय। तब फिर शास्त्रज्ञों ने ये तीन ही साधन क्यों पसन्द किये? और अर्थशास्त्र की नीव के रूप में इनको ही स्वीकार करने का क्या कारण हो सकता है? सूर्य के प्रकाश, जल, मज़दूरों की ख़ुराक और कपड़े, ज्ञान और बोलने की शक्ति—ये सभी उत्पत्ति के स्वतन्त्र साधन माने जा सकते हैं। पर इन्हें न मानने का कारण यही है कि सूर्य की किरणों, वर्षा, भोजन, भाषा और बोलने की शक्ति के उपभोग करने का जो मनुष्या का अधिकार है, उसमें बहुत कम हस्तक्षेप करने का अवसर आता है और ज़मीन तथा औज़ारों के लिए समाज में प्रायः झगड़ा होता रहता है।

इस वर्गीकरण का यही एक आधार है। उत्पत्ति के साधनों का केवल तीन विभागों में वर्गीकरण भी अनियमित और स्वेच्छा प्रेरित है और वस्तुस्थिति पर अवलम्बित नहीं है। लेकिन कहा जा सकता है कि यह वर्गीकरण इतना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जहाँ कहीं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित होता है, वहाँ तुरन्त ही ये तीनों बातें सामने आ खड़ी होती हैं। हमें देखना चाहिए कि क्या यह बात वास्तव में सच है?

हमारे बिल्कुल पास रहने वाले रूसी उपनिवेशकों को ही लीजिये। वे कई लाख हैं। वे किसी स्थान को जाते हैं, वहाँ बसते हैं, और काम करना प्रारम्भ कर देते हैं। उस समय यह बात उनके ख़याल में भी नहीं आती कि एक आदमी जिस ज़मीन का उपयोग नहीं करता वह उसका

मालिक बन सकता है और ज़मीन तो यह कहती ही नहीं कि मुझपर अमुक का अधिकार है। बल्कि औपनिवेशिक विवेकतः यह समझते हैं कि ज़मीन पर सारे समाज का समान अधिकार है और जो कोई जहाँ कहीं भी चाहे जोते और बोये।

खेती-बारी के लिए और मकान आदि बनाने के लिए औपनिवेशिक तरह-तरह के आवश्यक औज़ारों को इकट्ठा करते हैं, पर वे यह कभी नहीं सोचते कि ये औज़ार स्वतः ही मुनाफा देनेवाले हो सकते हैं। ये औजार (अर्थात् पूँजी) कभी ये दावा नहीं करते कि हमारा भी कोई अधिकार है। इसके प्रतिकूल औपनिवेशिक तो विवेकपूर्वक ऐसा मानते हैं कि आपस में एक-दूसरे से औज़ार, अनाज अथवा जो रुपया (अर्थ-शास्त्र की भाषा में पूँजी) उधार लिया जाता है, उसके लिए सूद या लाभ लेना अनुचित है।

ये लोग स्वतन्त्र ज़मीन पर अपने निजी औज़ारों से अथवा बिना सूद माँगे हुए औज़ारों से काम करते है। ये लोग या तो अपना-अपना अलहदा काम करते हैं, या सब मिलकर सामान्य हित के लिए उद्योग प्रारम्भ करते है। ऐसे समाज में लगान या भाड़ा, सूद और मज़दूरी का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसे समाज का उल्लेख करते समय मैं काल्पनिक बातें नहीं कहता बल्कि उस वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराता हूँ कि जो न केवल रूसी औपनिवेशिकों में बल्कि सभी जगह सभी लोगों में मौजूद रहती हैं, जबतक कि 'मानवी स्वभाव की मौलिक पवित्रता को बिगाड़ नहीं दिया जाता। मैं वह बात कह रहा हूँ कि जो प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक तथा बुद्धिगम्य मालूम होती है। मनुष्य जब किसी जगह बसते हैं तो उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काम पसन्द कर लेता और आवश्यक साधनों को प्राप्त करके अपना-अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है।

यदि इन लोगों को साथ मिलकर काम करने में आसानी मालूम होती है तो ये काम करनेवालों का एक मण्डल बना लेते है। किन्तु न तो

कौटुम्बिक प्रथा में और न सम्मिलित संस्थाओं में ही उत्पत्ति के ये साधन अलग-अलग प्रकट होंगे। उस समय केवल मेहनत और उससे सम्बन्ध रखनेवाली आवश्यक चीज़ों की ही ज़रूरत होती है—गरमी और प्रकाश के लिए सूरज की, साँस लेने के लिए हवा की, पीने के लिए पानी की, जोतने-बोने के लिए ज़मीन की, पहनने के लिए कपड़े की और खाने के लिए भोजन की तथा काम करने के लिए हल-कुदाली आदि औज़ारों की आवश्यकता होती है। यह स्पष्ट है कि न तो सूर्य की किरणें, न तन के कपड़े, न हल-कुदाली और फावड़े जिनसे हर एक आदमी काम करता है, और न वे मशीनें जिनसे कि संघ में मिलकर काम किया जाता है उन लोगों के सिवा किसी और की हो सकती हैं कि जो सूर्य की किरणों का उपभोग करते हैं, हवा में साँस लेते हैं, शरीर को कपड़ों से ढकते हैं और हल तथा मशीन आदि से काम करते हैं। इन चीज़ों की केवल उन्हीं को ज़रूरत होती है कि जो इनका उपयोग करते हैं।

कोई कह सकता है कि शायद आदिम मानव-समाज में इन तीन विभागों की आवश्यकता न हुई होगी और जैसे आबादी बढ़ती है, और सभ्यता का विकास होने लगता है, ये विभाग जरूरी हो उठते होंगे। और हमें यह बात माननी ही होगी कि ये विभाग यूरोपियन समाज में मौजूद हैं।

पर देखें इस बात में कहाँ तक सचाई है? यह कहा जाता है कि—यूरोपियन समाज में उत्पत्ति के साधनों का ऐसा ही वर्गीकरण प्रचलित है। अर्थात् एक आदमी ज़मीन का मालिक है, दूसरे के पास काम करने के औज़ार हैं, और तीसरे के पास न ज़मीन है और न औज़ार। हम लोग यह बात सुनने के ऐसे आदी हो गये हैं कि हमें अब इसमें कोई विचित्रता ही नहीं मालूम होती। किन्तु इस कथन के अन्दर ही उसका खण्डन भी मौजूद है। मज़दूर शब्द की कल्पना में यह भाव आ जाता है कि उसके पास ज़मीन है, जिसपर वह रहता है; और औज़ार हैं, जिनसे वह काम करता है। यदि उसके पास रहने को ज़मीन और काम करने

के लिए औज़ार नहीं हैं, तो वह मज़दूर ही नहीं हो सकता। ज़मीन और औज़ारों से रहित मज़दूर न तो आज तक कभी रहा और न कभी रह सकता है। ऐसा कोई भी मोची नहीं हो सकता, जिसके पास ज़मीन पर बना हुआ मकान, पानी, हवा और काम करने के औज़ार न हों।

यदि किसान के पास ज़मीन, हल, बैल, पानी और हँसिया आदि नहीं हैं, यदि मोची के पास मकान, परावी और सुई नहीं है, तो इसका यही अर्थ है कि किसी ने उसे ज़मीन से हटा दिया है या ज़बरदस्ती उससे छीन ली है और उसका मकान, गाडी, हल, बैल और सुई आदि भी धोखा देकर उससे ले लिये गये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ तो कभी हो ही नहीं सकता कि हँसिया रहित किसान या सुई बिना मोची का भी अस्तित्व संसार में हो सकता है।

मछली पकड़ने के सामान के बिना किसी आदमी को ज़मीन पर खडे हुए देखकर हम यह नहीं समझ सकते कि यह माहीगीर है, जबतक हमें यह न मालूम हो कि किसी ने उसका जाल आदि छीन लिया है। उसी तरह हम किसी ऐसे मज़दूर की कल्पना नहीं कर सकते कि जिसके पास रहने के लिए मकान और काम करने के लिए औज़ार न हों, जब-तक कि किसी ने उसकी ज़मीन से उसे मारकर भगा न दिया हो और औज़ार उससे छीन या लूट न लिये हों।

यदि हम उन सब बातों को उत्पत्ति का साधन मानें, जो मज़दूर से ज़बरदस्ती छीनी जा सकती हैं तो फिर गुलाम के शरीर पर जो अधिकार का दावा किया जाता है, उसकी भी इन साधनों में गिनती क्यों न की जाय! वर्षा और सूर्य की किरणों पर अधिकार करने के दावे को भी हम क्यों न गिनें!

एक आदमी ऊँची दीवार खडी करके अपने पडौसी को धूप से वंचित कर सकता है, दूसरा कोई आदमी नदी के वहाव को अपने तालाव की ओर फेरकर उसे ज़हरीला बना सकता है, और तीसरा कोई किसी मनुष्य को अपनी सम्पत्ति बनाने का दावा कर सकता है। परन्तु बलात्कार-

पूर्वक यदि कोई ऐसा कर ले, तो भी इन बातों के आधार पर उत्पत्ति के साधनों का वर्गीकरण नहीं हो सकता। ज़मीन और औज़ारों के ऊपर लोगों ने जो अपने कृत्रिम अधिकार जमा रखे हैं, उनको उत्पत्ति का स्वतन्त्र साधन मानना वैसी ही भूल है, जैसा कि धूप, हवा, पानी और मनुष्य के शरीर पर अधिकार रखने के इन नये निकाले हुए दावों को उत्पत्ति का साधन मानना।

कोई मनुष्य यदि यह दावा करे कि अमुक मनुष्य का शरीर मेरी सम्पत्ति है, तो इसीसे उसका यह क़ुदरती अधिकार तो छिन नहीं जाता कि वह खुद अपने नफ़े-नुकसान का विचार करे और अपने मालिक के लिए नही बल्कि अपने हित के लिए जो उचित समझे, वह काम करे। बस, इसी तरह, दूसरों की ज़मीन और औज़ारों पर जो पूर्ण अधिकार का दावा है, वह मनुष्य की हैसियत से, ज़मीन पर रहने और अपने औज़ारों से अथवा सुगमता समझे तो समाज के सामान्य औजारों से जी चाहे जो काम करने का जो मज़दूर का स्वयं-सिद्ध अधिकार है उससे, उसे कभी वंचित नहीं कर सकता।

वर्तमान आर्थिक समस्या पर विचार करते हुए, अर्थशास्त्र केवल इतना ही कह सकता है कि यूरोप मे मज़दूरों की जमीन और औजारों पर दूसरे लोग अपना अधिकार बताते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप कुछ ही मजदूरो के लिए—सबके लिए किसी हालत मे नहीं—हाँ, कुछ ही मजदूरों के लिए उत्पत्ति के जो स्वाभाविक साधारण नियम हैं, वे विनष्ट और विकृत हो गये हैं। इसलिए वे जमीन और औजारों से वंचित होकर दूसरों के औजारो से काम करने के लिए मजबूर होगये हैं। किन्तु इससे यह तो किसी हालत में सिद्ध नहीं होता कि उत्पत्ति के सहज साधारण नियमा का यह आकस्मिक उल्लंघन ही वास्तविक और सच्चा नियम है।

निःसन्देह ऐसे कुछ लोग हैं, जो मजदूरों की जमीन पर और उनके औजारों पर अपना अधिकार बताते हैं, जैसे कि पहले जमाने में कुछ लोग दूसरों के शरीर को अपनी मिलकियत समझने का दावा करते थे।

किन्तु कुछ भी हो, जैसे प्राचीनकाल में इच्छा करते हुए भी स्वामी और दास इन दो श्रेणियों में मनुष्य-समाज का सच्चा वर्गीकरण हो ही नहीं सकता, उसी तरह उत्पत्ति के साधनों का भी कोई वैसा वर्गीकरण नहीं हो सकता, जैसा कि अर्थ-शास्त्री जमीन और पूँजी आदि विभाग करके स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले इन अन्यायपूर्ण दावों को अर्थशास्त्र 'उत्पत्ति के स्वाभाविक साधनों' के नाम से पुकारता है। और इस स्थिति को ठीक सिद्ध करने के लिए उसने उस जमीन पर, जिसपर कि दूसरे लोग मेहनत करके अपनी रोजी कमाते है, और उन औजारों पर कि जिनके द्वारा अन्य लोग काम करते हैं, कुछ ख़ास लोगों का अधिकार मान लिया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उसने एक ऐसी बात को अधिकार का स्वरूप दे दिया, कि जिसका अस्तित्व कभी था ही नहीं, जो कभी हो ही नहीं सकती और जो स्वयं अपना खण्डन करती है, क्योंकि जो आदमी जमीन का उपयोग नहीं करता उसका उस जमीन पर दावा करने का अर्थ वास्तव में इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि जिस जमीन का वह उपयोग नहीं करता उसके भी करने का अधिकार चाहता है। दूसरे लोगों के औजारों पर भी अपना अधिकार रखने का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि वह उन औजारों से काम लेने का अधिकार प्राप्त करना चाहता है, जिनसे कि वह स्वयं काम नहीं लेता। उत्पत्ति के साधनों का वर्गीकरण करके अर्थशास्त्र कहता है कि प्रत्येक मजदूर की--अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की, यदि शब्द का सच्चे अर्थ में प्रयोग किया जाय--स्वाभाविक अवस्था उसकी यही वर्तमान स्वाभाविक अवस्था है, जिसमें कि वह रहता है।

वर्तमान अन्याय को ठीक सिद्ध करने के लिए ही अर्थशास्त्र ने जिस वर्गीकरण को स्वीकार किया है, और जिसे अपनी समस्त समीक्षा का उसने आधार माना है, वह वर्गीकरण ही इस बात के लिए जिम्मेवार है कि उक्त शास्त्र वर्तमान विचित्र परिस्थिति का खुलासा करने के लिए जी

तोड़कर कोशिश करता है, पर सफल नहीं हो पाता; और सामने आनेवाले प्रश्नों का जो बिलकुल सीधा और सरल ज़वाब है, उसे न मानकर ऐसे टेढ़े-मेढ़े उत्तर देता है कि जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता।

अर्थशास्त्र के सामने प्रश्न यह तो है कि धन के द्वारा कुछ लोग जमीन—पूँजी पर एक प्रकार का काल्पनिक अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, और जिनके पास धन नहीं है उन्हें वे चाहें तो अपना गुलाम बना सकते हैं। इसका क्या कारण है ? साधारण मनुष्य तो इसका उत्तर यही देगा कि यह धन का परिणाम है,क्योंकि वह मनुष्यों को गुलाम बना सकता है।

परन्तु अर्थशास्त्र इस बात से इनकार करता है और कहता है, यह बात धन के कारण नहीं होती बल्कि इसकी वजह यह है कि कुछ लोगों के पास जमीन और पूँजी है और कुछ लोगों के पास दोनों में से एक भी नहीं है।

हम पूछते हैं—जिन लोगों के पास ज़मीन और पूँजी है वे उन लोगों को क्यों सताते हैं कि जिनके पास दो में से एक भी नहीं है ? हमें जवाब मिलता है—उनके पास जमीन और पूँजी दोनों हैं, इससे।

किन्तु यही तो हमारा प्रश्न था। ज़मीन और औज़ारों पर उन्होंने क़ब्ज़ा कैसे किया और इन साधनों से किसी को वंचित कर देना ही क्या जबरदस्ती गुलाम बनाने के समान नहीं है ? जीवन यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न बार-बार पूछता है, अर्थशास्त्र भी यह देखता है और उसका जवाब देने की कोशिश करता है, पर सफल नहीं हो पाता, क्योंकि अपनी ग़लत भित्ति पर बने हुए सिद्धान्तों से चलकर वह एक ऐसे वाहियात चक्कर में पड़ जाता है कि जिसमें से बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं है।

इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधनों का जो ग़लत विभाग उसने किया है, उसे वह भूल जाय, घटनाओं के कारण मानना छोड़ दे, और जिस घटना के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है, पहले उसके पास के कारणों की और फिर दूर के कारणों की तलाश करे।

अर्थ-विज्ञान को इस बात का उत्तर देना चाहिए कि ऐसा क्यों है कि कुछ आदमी ज़मीन और औज़ारो से वञ्चित हैं, और कुछ लोगों के पास ये दोनों ही मौजूद हैं ? या, जो लोग ज़मीन पर मेहनत करते हैं और औज़ारों से काम करते हैं उनसे ज़मीन और औज़ार ले लिये जाते हैं—इसका क्या कारण है ?

जब अर्थ-विज्ञान इस प्रश्न को अपने सामने रखेगा तो उसके सामने नये विचार आयँगे, और मज़दूर की स्थिति का कारण उसकी ख़राब स्थिति है, ऐसे विधानों की भूलभुलैयों में फिरनेवाले झूठे विज्ञान की पहली धारणाये सारी-की-सारी एकदम बदल जायँगी ।

सरल-चित्त लोगों के लिए इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि कुछ लोग दूसरे आदमियों के ऊपर जो अत्याचार करते हैं, इसका स्पष्ट कारण धन है । पर विज्ञान इसे अस्वीकार करता हुआ कहता है—रुपया तो केवल विनिमय का ज़रिया है, आदमियों को ग़ुलाम बनाने से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं ।

अच्छा तो हम लोग देखें कि ऐसा है कि नहीं ।

: १८ :

रुपया आया कहां से ? किस स्थिति में जातियाँ हमेशा अपने पास पैसा रखती हैं, और वे कौन-सी हालतें हैं कि जिनमें जातियों को पैसे की आवश्यकता नही होती ?

पुराने ज़माने में सिथियन और ड्रूबलियन जिस प्रकार रहते थे, वैसे ही आज भी अफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया में कुछ जातियाँ रहती हैं। वे पशु पालकर, तथा खेती-बारी करके अपनी गुज़र करती हैं। इतिहास के प्रभात मे ही हम उनकी चर्चा सुनते हैं। और इतिहास का प्रारम्भ आक्रमणकारियों के उल्लेख से ही होता है, और ये आक्रमणकारी सदा एक ही रीति का अनुसरण करते आये हैं। वे विजित लोगों के पास से उनके पशु, अन्न और वस्त्र जो-कुछ हाथ लगता है, छीन लेते है, बहुत से स्त्री-पुरुषो को क़ैद भी कर लेते हैं और उन्हें अपने साथ ले जाते हैं।

थोड़े दिनों पीछे वे फिर चढ़ाई करते है। किन्तु पहले आक्रमण से अभी यह जाति पनपने नहीं पाती, और इसलिए लूटकर ले जाने लायक़ उसके पास कुछ भी नहीं होता। अतएव आक्रमणकारी जीती हुई कौम की शक्तियो से लाभ उठाने के लिए दूसरी सुविधाजनक तरकीबे ढूँढ निकालते हैं।

ये तरकीबें इतनी सरल होती हैं कि हर किसी को सहज ही में सूझ जाती हैं। पहली तरकीब तो यह है कि जीती हुई जाति के लोग ग़ुलाम बना लिये जाते हैं, किन्तु इस तरीके में सारी जाति-की-जाति से काम लेने की व्यवस्था करना और सबको खिलाने-पिलाने का प्रबन्ध करना

पडता है। यह एक बड़ी भारी अड़चन है। इसलिए सहज ही उन्हें एक दूसरी पद्धति सूझ जाती है। वह यह कि विजित जाति को उसकी ज़मीन पर रहने और काम करने देते हैं, पर उस ज़मीन पर अधिकार अपना रखते है, और उसे अपने प्रमुख सैनिकों में बाँट देते हैं, ताकि उनके द्वारा इन लोगों की मज़दूरी का उपयोग किया जा सके। पर इस पद्धति में भी ख़राबी तो है ही। विजेता लोगों को विजित जाति की सारी पैदावार पर नज़र रखनी पड़ती है। और इसलिए पहली दो पद्धतियों जैसी ही एक तीसरी जंगली पद्धति की नकल की जाती है। वह यह कि विजेता लोग विजित जाति पर एक प्रकार का ज़रूरी कर लगाते हैं जो उन्हें नियत समय पर अदा करना पडता है।

विजेताओं का उद्देश्य यह होता है कि वे विजित जाति से उनकी पैदावार का अधिक-से-अधिक भाग ले लें। यह स्पष्ट ही है कि ऐसा करने के लिए विजेता लोग ऐसी ही चीज़ें ले जायँगे, जो सबसे अधिक कीमती होंगी और जिन्हें ले जाने और इकट्ठा करने मे आसानी होगी। इसलिए वे पशुओं की खाल तथा सोना आदि ऐसी ही चीजें ले जाते है। इसके लिए वे प्रत्येक कुटुम्ब अथवा जमात पर खाल तथा सोने का कर लगाते हैं, जो नियमित समय पर उन्हें देना होता है, और इस प्रकार सारी जाति की मेहनत से वे सरलतापूर्वक लाभ उठाते है। खाल और सोना जब इस प्रकार उनसे ले लिया जाता है, तब फिर अपने मालिकों को देने के लिए अधिक खाल और सोना प्राप्त करने के लिए उन्हें अपनी अन्य सभी चीजें बेचनी पड़ती हैं, और जब जायदाद बेचने को नहीं रहती है, तो फिर वह अपने आपको और अपनी मेहनत को बेचने के लिए मजबूर होते है।

'प्राचीन समय में और मध्य-युग में भी ऐसा ही होता था; और अब भी ऐसा ही होता है। पुराने जमाने में एक जाति का दूसरी जाति पर आक्रमण करना और उसे जीतना प्रायः होता ही रहता था। और चूँकि उस समय मानव-बन्धुत्व का भाव न था, इसलिए लोगों पर अधिकार

करने के लिए वैयक्तिक दासता का विशेष चलन था और इसी पर लोग ज्यादा ज़ोर देते थे। मध्यकाल में जागीर-पद्धति अर्थात् ज़मीन की मालिकी कुछ अंशों में 'वैयक्तिक दासता' का स्थान ग्रहण करती है और इस प्रकार मनुष्य बजाय ज़मीन ज़ोर और ज़ुल्म का केन्द्र बन जाती है। आधुनिक काल में अमेरिका की खोज के समय से और व्यापार के विकास तथा सुवर्ण की पैदाइश में वृद्धि होने से, जो सारे जगत् में विनिमय का साधन माना जाता है, कर आदि रुपये के रूप में लिये जाते हैं और राज्य-शक्ति की वृद्धि के साथ रुपये की किश्त लोगों को ग़ुलामी में फँसाने का प्रमुख साधन बन गयी है। अब मनुष्य के समस्त आर्थिक सम्बन्ध इसी के आधार पर चलते हैं।

'लिट्रेरी मिसेलेनी' में प्रोफ़ेसर थान्जल का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें फ़िजी द्वीप के आधुनिक इतिहास का वर्णन है। किस प्रकार हमारे जमाने में रुपये की किश्तबन्दी दूसरे लोगों को अपना ग़ुलाम बनाने का ज़बरदस्त साधन बन गयी है, यह दिखाने के लिए मैं समझता हूँ कि हाल में होनेवाली घटनाओं के विवरण पर बने हुए इस विश्वसनीय इतिहास से बढ़कर प्रभावशाली और स्पष्ट किसी दूसरे उदाहरण की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।

दक्षिण महासागर के पालिनेशिया के द्वीपों में फ़िजी नाम की एक जाति रहती है। जिस स्थान पर ये लोग रहते हैं वह छोटे-छोटे टापुओं का बना हुआ है, और उनका कुल क्षेत्रफल लगभग चालीस वर्ग मील है। सिर्फ़ आधा ही मुल्क बसा हुआ है और उसमें १५०००० मूल निवासी और १५०० गोरे हैं। इन लोगों को जङ्गली अवस्था छोड़कर सुधरे हुए बहुत दिन हो गये हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनमें काम करने की शक्ति और विकास की योग्यता है, क्योंकि थोड़े ही दिनों में कृषि और पशु-पालन में उन्होंने अपनी दक्षता सिद्ध कर दिखायी है।

ये लोग खूब खुशहाल थे, किन्तु सन् १८५६ में ये भारी मुसीबत में फँस गये। फ़िजी जाति और उसके मुखिया ककोबो को रुपये की ज़रूरत

पडी। अमेरिका का संयुक्त राज्य ४५००० डालर मुआवज़े के रूप मे ककोबो माँगता था, क्योंकि उसका कहना था कि फ़िजी के लोगो ने अमेरिका के नागरिकों पर ज़ुल्म किया है। यह रुपया वसूल करने के लिए अमेरिकनों ने एक दल रवाना किया, जिसने जमानत के बहाने, अचानक ही, कुछ उत्तमोत्तम टापुओं पर कब्जा कर लिया और यह धमकी दी कि यदि एक निश्चित तिथि तक मुआवजे की रकम अदा न कर दी जायगी तो उनके नगरों को गोले-बारूद से उड़ा दिया जायगा।

मिशनरियों को लेकर अमेरिकन लोग फिजी द्वीप में बहुत पहले आकर बस गये थे। इन लोगों ने किसी न किसी बहाने से द्वीप की अच्छी-से-अच्छी ज़मीन अपने अधिकार में ले ली और कॉफी और कपास की खेती शुरू कर दी। इन्होंने ढेर-के-ढेर मूल निवासियों को अपने यहाँ नौकर या गुलाम रख लिया और ऐसी शर्तों मे उन्हें बाँध लिया जिन्हें ये अर्धसभ्य लोग बिल्कुल नही जानते थे।

इन मालिकों और मूल-निवासियों में, कि जिन्हें वे एक तरह से अपना गुलाम ही समझते थे, अनबन होना स्वाभाविक ही था। किसी ऐसे ही झगडे को उन्होंने फिजी के लोगों से मुवाविज़ा माँगने का बहाना बना लिया।

खुशहाल होते हुए भी फ़िजी के लोगों ने उस समय तक अपने यहाँ उसी स्वाभाविक विनिमय प्रथा को बनाये रखा, जो यूरोप के अन्दर मध्य-युग मे प्रचलित थी। इन लोगों के अन्दर सिक्के का चलन तो यों समझिए कि बिलकुल था ही नही। इनका सारा आधार वस्तु-विनिमय-पद्धति पर चलता—एक चीज़ देकर बदले में दूसरी चीज़ ले लेते थे। जो थोडे-से सामाजिक और राज्य-कर देने पड़ते थे उन्हें वे स्थानीय पैदा-वार के द्वारा अदा करते थे। भला, फ़िजी के लोग और उनका राजा ककोबो क्या कर सकता था, जबकि अमेरिकन लोग ४५ हज़ार डालर माँग रहे थे और उन्हें बेतरह धमका रहे थे। इतनी बड़ी रक़म ही उनके लिए कल्पनातीत थी, देखना तो दरकिनार। अन्य सामन्तो से परामर्श

के बाद ककोबो ने पहले तो यह फ़ैसला किया कि इङ्गलैंड की रानी से इन द्वीपों को अपनी संरक्षता में ले लेने के लिए प्रार्थना की जाय। किन्तु बाद को द्वीपों को अपने राज्य में मिला लेने के लिए इङ्गलैंड से अनुरोध करने का उन्होंने निश्चय किया।

किन्तु इस अर्ध-सभ्य राजा को उसकी मुसीबत के समय सहायता पहुँचाने की इङ्गलैंड को ऐसी उतावली तो थी ही नहीं, इसलिये उस ने इस प्रार्थना पर अत्यन्त सावधानी के साथ विचार करना शुरू किया। सीधा उत्तर देने के बजाय उन्होंने १८६० में फ़िजी द्वीप के सम्बन्ध में तहकीक़ात करने के लिए एक ख़ास कमीशन भेजा, ताकि वह यह फ़ैसला कर सके फ़िजी द्वीप को इङ्गलैण्ड मे मिलाने और अमेरिकनों को संतुष्ट करने के लिए इतनी बडी रकम देने से कोई लाभ भी होगा कि नहीं।

इस दर्म्यान में अमेरिकन सरकार रुपयों के लिए बराबर तकाज़ा करती रही और उसने जमानत के तौर पर द्वीप के कुछ उत्तमोत्तम भाग अपने कब्जे में ले लिये, और फ़िजी जाति की सम्पत्ति का ठीक हाल मालूम होने पर उन्होंने मुआविजे की रक़म बढाकर १०००० डालर कर दी। साथ ही यह धमकी भी दी कि यदि रुपया फ़ौरन ही अदा न किया गया तो यह रकम और भी बढ़ा दी जायगी। बेचारा ककोबो चारों ओर आपत्तियों से घिरा हुआ था। लेन-देन के व्यवहार की यूरोपीय पद्धति से वह बिलकुल ही अपरिचित था। इसलिए गोरे औपनिवेशकों की सलाह से उसने मेलबोर्न के व्यापारियों से पैसे लेने की चेष्टा की। यहाँतक कि पैसे के लिए वह अपना राज्य तक निजी लोगों के हाथ में सौंपने को तैयार हो गया।

ककोबो की प्रार्थना के परिणाम-स्वरूप मेलबोर्न में 'पोलिनेशियन कम्पनी' नामक एक कम्पनी बनी। इसने फ़िजी के सरदारों से बहुत ही लाभदायक शर्तें ठहराकर एक दस्तावेज़ तैयार किया। कई किश्तों में रुपया अदा कर देने का वादा करके कम्पनी ने कर्जा अपने ऊपर ले लिया। पहली सन्धि के अनुसार कम्पनी को पहले एक और दो हजार

एकड़ बढ़िया ज़मीन प्राप्त हुई; सदा-सर्वदा के लिए सब प्रकार के कर माफ हो गये और फ़िजी में बैंक स्थापित करने का उन्हें एकाधिकार तथा यथेष्ट सख्या में नोट बनाने का अधिकार भी मिल गया।

यह सन्धि सन् १८६८ में निश्चित रूप से तय हो गयी और तब से ककोबो की स्थानीय सरकार के साथ ही साथ एक दूसरी शक्ति का आविर्भाव हुआ। यह शक्ति उसी व्यापारिक मण्डल की थी जिसके पास द्वीप भर में फैली हुई बहुत बडी जायदाद थी, और जिसका सरकार पर काफी ज़ोर और ज़बरदस्त असर था।

अभी तक तो ककोबो की सरकार का काम स्थानीय पैदावार में से मिलनेवाले अंश और थोडे-से आयात-कर से चल जाता था, किन्तु सन्धि और प्रभावशाली पोलीनेशियन कम्पनी के निर्माण से उसकी आर्थिक स्थिति में अन्तर पडा। द्वीप-समूह की बहुत-सी उत्तमोत्तम ज़मीन कम्पनी के हाथ में चली जाने से राज्य की आय कम हो गयी। उधर कम्पनी को आनेवाले तथा जानेवाले माल पर कर न देने की आज्ञा मिल गई थी, इसलिए माल की ज़कात की आमदनी भी बहुत घट गयी। मूल निवासियों की ओर से तो ज़कात की आय वैसे ही बहुत कम थी, क्योंकि निन्यानबे फ़ी सदी ये लोग कपडा और धातु की बनी हुई कुछ चीज़ों के अलावा बाहर से आई हुई शायद ही किसी चीज़ का व्यवहार करते थे। किन्तु कम्पनी के सब प्रकार के कर माफ हो जाने से और लोगों के मँगाये हुए माल के द्वारा जो ज़कात की आय होती थी वह एकदम बन्द हो गयी। ककोबो को अब यह चिन्ता हुई कि आय कैसे बढ़ाई जाये?

इस मुश्किल को हल करने लिए फिजी के राजा ने अपने गोरे मित्रों से सलाह पूछी। उन्होंने उस देश में पहले-पहल सीधा कर लगाने की राय दी, और कर-प्राप्ति की झंझट को यथासम्भव कम करने के लिए उन्होंने यह सलाह दी कि इस कर के सम्बन्ध में 'रोकड-पैसा' वसुल किया जाय। यह कर समस्त राज्य में प्रत्येक मनुष्य पर लगाया गया। प्रत्येक पुरुष को एक पौंड और प्रत्येक स्त्री को चार शिलिङ्ग भरना पडते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फ़िजी के लोगों में अभी तक वस्तु विनिमय पद्धति जारी थी। शायद ही किसी मूल निवासी के पास कोई सिक्का हो। कच्चा माल और पशु ही उनका धन था, रुपया-पैसा नहीं। किन्तु अब इस नये कर को नियमित समय पर चुकाने के लिए उनको बहुत-से रुपयों की ज़रूरत महसूस होने लगी।

अभी तक लोगों को व्यक्तिगत रूप से सरकार का भार सहन करने का अभ्यास न था, हाँ, उसके लिए मेहनत-मज़दूरी कर देते थे। सरकार को जो कर देने होते थे वे सब उस गाँव अथवा जाति के द्वारा अदा किये जाते थे कि जिससे उसका सम्बन्ध होता था। सार्वजनिक सामान्य खेतों की पैदावार में से ही ये कर भरे जाते थे और लोगों की ख़ास आमदनी भी इन्हीं खेतों के द्वारा होती थी। अब उनके लिए केवल एक ही मार्ग था और वह यह कि यूरोपियन औपनिवेशिकों से रुपया उधार लिया जाय अर्थात् या तो यूरोपीय व्यापारी से रुपया माँगें अथवा गोरे कृषक प्लाण्टर से।

"व्यापारियों के हाथ उन्हें अपनी चीज़ उन्हीं की शर्तों पर बेच देनी पड़ती और कभी-कभी तो नियत समय पर कर अदा करने के लिए उन्हें अपनी आगामी फसल भी गिरवी रख देनी पड़ती थी और इससे व्यापारी लोग खूब मनमाना सूद वसूल करते थे। दूसरी सूरत यह थी कि वे प्लाण्टरों से रुपया लेते थे और अपनी मेहनत उनके हाथ बेच देते थे। इस तरह वे कृषक न रहकर उनके नौकर हो जाते थे। फ़िजी द्वीप में मज़दूरी भी बहुत ही कम थी, और वह शायद इसलिए कि वहाँ आदमी काफी से ज्यादा मिलते थे। प्रत्येक बालिग़ को प्रति सप्ताह एक शिलिंग अथवा दो पौंड बारह शिलिंग प्रति वर्ष से अधिक नहीं मिलते थे। परिणाम यह हुआ कि कुटुम्ब का भार तो अलहदा रहा, अपना व्यक्तिगत कर चुकाने के लिए फ़िजी के लोगों को अपना घर-बार और अपनी ज़मीन छोड़कर कभी-कभी बहुत दूर किसी दूसरे टापू में कम-से-कम ६ मास तक प्लाण्टर की गुलामी करने के लिए जाना पड़ता था। और फिर कुटुम्ब के लोगों

का कर अदा करने के लिए उसे दूसरे उपायों की शरण लेनी पड़ती थी।

इस स्थिति का परिणाम आसानी से समझा जा सकता है १५०००० की आबादी में से ककोबो कुल ६००० पौंड इकट्ठा कर सका। अभी तक सख्ती और ज़ुल्म से लोग अपरिचित थे, किन्तु कर वसूल करने के लिए तरह-तरह का अत्याचार उन लोगों पर किया जाने लगा।

स्थानीय शासन जो अभी तक बिगड़ने न पाया था, अब शीघ्र ही यूरोपियन प्लान्टरों के साथ मिलाया गया और प्लान्टर लोग ख़ूब अपना मतलब साधने लगे। कर न अदा कर सकने के अपराध में फ़िजी के लोगों को अदालत में पकड़ बुलाया जाता था और उन्हें केवल ख़र्चा ही नहीं देना पड़ता था बल्कि जेलख़ाने भी जाना पड़ता था और वह भी ६ महीने से कम के लिए नहीं। यह जेल क्या थी, गोरे लोगों के लिए मज़दूर प्राप्त करने का साधन था। जो गोरा सबसे पहले मुकदमे का ख़र्चा और अपराधी का कर अदा कर देता था, वही उसको अपने काम पर लगाने का हक़दार हो जाता। इस तरह गोरे प्रवासियों को मज़दूरी बहुत ही सस्ती पड़ती।

पहले तो इस अनिवार्य मज़दूरी की अवधि ६ महीने से, अधिक न होती थी, पर पीछे से जज़ लोग रिश्वत ले-लेकर १८ महीनों तक की सज़ा देने लगे और कभी-कभी तो बाद को भी सजा बढ़ा देते।

बड़ी ही जल्दी, केवल थोड़े ही वर्षों में, फ़िजी के लोगों की आर्थिक अवस्था बिल्कुल बदल गयी। ज़िले-के-ज़िले, जो पहले ख़ूब हरे-भरे और आबाद थे, अब बिल्कुल कङ्गाल हो गये और उनकी आबादी भी आधी रही गयी। बुड्ढों और बीमारों को छोड़कर जितने मर्द थे, सभी कर अदा करने के लिए रुपयों की ख़ातिर अथवा अदालती फैसले के परिणाम-स्वरूप घर से दूर, प्लान्टरों के खेतों में, मेहनत मज़दूरी करते थे। फ़िजी की स्त्रियों को खेतों में काम करने का अभ्यास न था, इसलिए पुरुषों की अनुपस्थिति में घर की खेती-बाड़ी का काम एकदम बन्द होगया। कुछ

ही सालों के अन्दर फ़िजी की आधी आबादी औपनिवेशिकों की गुलाम बन गयी।

अपनी इस दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने एक बार फिर इङ्गलैंड से प्रार्थना की। एक नया प्रार्थनापत्र तैयार किया, जिसमें बहुत से मुखिया लोगों तथा सरदारों ने हस्ताक्षर किये। यह दस्तावेज़, जिसमें फ़िजी द्वीप को इङ्गलैंड में मिला लेने की प्रार्थना की गयी थी, अँग्रेज़ी राजदूत के हाथ मे सौंप दिया गया। इस बीच में इङ्गलैंड ने अपने भेजे हुए कमीशन-द्वारा फ़िजी द्वीप की वर्तमान अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक ढंग से उसने इन द्वीपों का निरीक्षण और उनकी पैमाइश भी करायी और दुनिया के एक कोने में पडे हुए इस सुन्दर द्वीप-समूह की प्रकृति-प्रदत्त सम्पति को ख़ूब पसन्द किया। सन् १८७४ में इङ्गलैंड ने सरकारी तौर पर फिजी द्वीप की अपने अधिकार में लेकर अपने उपनिवेशों में मिला लिया; जिससे अमेरिकन प्लाण्टरों को बडा असन्तोष हुआ। ककोबो का देहान्त हो गया। उसके उत्तराधिकारियों को थोडी सी पशन दे दी गयी और उन द्वीपों का शासन न्यू-साउथ-वेल्स के गवर्नर सर हरक्यूलीज़ राबिंसन के हाथ में सौंप दिया गया। इङ्गलैंड से सम्बन्धित होने के प्रथम वर्ष फ़िजी में स्वायत्त-शासन न था बल्कि ये लोग सर हरक्यूलीज़ राबिन्सन के द्वारा नियुक्त किये हुए शासक के अधीन थे।

द्वीप-समूह को अपने हाथ में ले लेने के बाद उनसे जो आशायें की गयी थी उन्हें पूरा करने का कठिन कार्य अब अँग्रेज़ सरकार को करने के लिए तैयार होना पड़ा। अँग्रेज़ सरकार ने सबसे पहला काम यह किया कि उस मनुष्य-कर को सदा के लिये हटा दिया कि जिसके कारण कुछ औपनिवेशकों के लाभ के लिए फ़िजी के लोगों में गुलामी की जड़ पड गयी थी। किन्तु इस कार्य में सर राबिन्सन को एक बडी भारी आपत्ति का सामना करना पडा। जिस मनुष्य-कर को दूर करने के लिए फ़िजी के लोगों ने अँग्रेज़ों की सहायता माँगी थी उसको तो दूर करना ही था,

पर साथ-ही साथ अंग्रेज़ी औपनिवेशिक नीति के अनुसार उन्हें स्वावलम्बी बनकर अपने शासन का ख़र्चा आप निकालना चाहिए था। मनुष्य-कर हटा देने के बाद फ़िजी के लोगों से जो आय हो सकती थी, वह सब मिलाकर ६ हज़ार पौण्ड से अधिक न थी और शासन-ख़र्च के लिए प्रति वर्ष कम-से-कम ७० हज़ार पौण्ड की आवश्यकता थी।

रुपये का कर हटाकर सर राबिन्सन ने मज़दूरी का कर लगाने की तरकीब सोची, पर कर्मचारियों का भरण-पोषण करने लायक आमदनी इससे भी न हुई। गार्डन नाम का नया गवर्नर जबतक न आया तबतक यह स्थिति नहीं सुधरी। उसने आते ही यह निश्चय किया कि फ़िजी में जबतक रुपये का काफ़ी चलन न हो जायगा, तबतक वह रुपया न माँगकर फ़िजी वासियों से उनकी पैदावार की चीज़ें ले लेगा और उन्हें अपने प्रबन्ध से बेचेगा।

फ़िजी लोगों की यह करुण कहानी स्पष्ट बताती है कि वास्तव में पैसा क्या चीज़ है और उसक असर कहाँ तक पहुँच सकता है। इस उदाहरण में सभी आवश्यक अङ्गों का दिग्दर्शन हो जाता है—गुलामी की पहली और मुख्य शर्त—बन्दूक, धमकियाँ, हत्यायें, लूट-पाट और अन्तिम चीज़ रुपया, जिसने लोगों को गुलाम बनाने के अन्य सब साधनों का स्थान ले लिया है। राष्ट्रों के आर्थिक विकास की रूपरेखा जानने के लिए सदियों का इतिहास पढ़ना पडता है। लेकिन वे सभी घटनायें फ़िजी में दस ही सालों में पूरी हो गयीं। इन दस सालों में पैसे के सभी प्रकार के अन्याय व अत्याचार खूब खेले गये हैं।

नाटक इस प्रकार आरम्भ होता है—अमेरिकन सरकार फ़िजी द्वीप के लोगों को अपने अधीन करने के लिए बन्दूकों से भरे हुए जहाज़ भेजती है। बहाना है रुपया वसूल करने का, पर यह करुण प्रसंग आरम्भ इस प्रकार होता है कि फ़िजी के समस्त निवासियों—आबाल-वृद्ध नर-नारी सभी पर तोपें लगायी जाती हैं 'रुपया दो या ज़िन्दगी से हाथ धोओ'—४५ हज़ार डालर और फिर ९० हज़ार अथवा क़त्ल आम। परन्तु

६० हज़ार डालर उन्हें मिलते नहीं, और यहीं से आरम्भ होता है—दृश्य नम्बर दो। इसमें उस भयङ्कर खूनी और, क्षणिक पद्धति के साथ पर एक नवीन यातना का आविष्कार होता है, जो इतनी स्पष्ट तो दिखायी नहीं पड़ती पर उसका असर सब लोगों तक पहुँचता है और देर तक रहता है। फ़िजी के मूल निवासी मृत्यु के स्थान पर रुपये की ग़ुलामी स्वीकार करते हैं। रुपया उधार लेते ही वह पद्धति सुशिक्षित सेना की तरह अपना काम आरम्भ कर देती है। पाँच वर्ष के अन्दर काम पूर्ण हो जाता है—मनुष्यों ने अपनी ज़मीन और जायदाद के उपयोग करने का अधिकार ही नहीं खो दिया, बल्कि वे अपनी स्वतंत्रता भी खो बैठे; बस, एकदम ग़ुलाम बन गये।

अब तृतीय दृश्य प्रारम्भ होता है। स्थिति बड़ी ही दुःखजनक है। इन अभागों को सलाह दी जाती है कि वे मालिक बदलकर दूसरे के ग़ुलाम हो जावें। रुपये से उत्पन्न ग़ुलामी से मुक्त होने का उनके दिमाग में ख़याल तक नहीं। ये लोग एक दूसरे मालिक को बुलाते हैं और उससे अपनी हालत सुधारने की प्रार्थना करके अपने को उसके हाथों सौंप देते हैं। अँग्रेज़ लोग आकर देखते हैं कि इन लोगों पर शासनाधिकार मिल जाने से वे अपनी जाति के आवश्यकता से अधिक बढ़े हुए निकम्मे जीवों के भरण-पोषण का प्रबन्ध कर सकेंगे और इसलिए वे इन द्वीपों और उनके अधिवासियों को अपने अधिकार में ले लेते हैं।

किन्तु इङ्गलैंड उन्हें ग़ुलामों के रूप में नहीं लेता, उनकी ज़मीन को भी वह अपने कर्मचारियों में बाँट नहीं देता। इन पुरानी पद्धतियों की अब ज़रूरत नहीं, अब केवल एक बात की ज़रूरत है—टैक्स लगने चाहिएँ और ऐसे पर्याप्त परिमाण में कि एक ओर तो किसानों को व्यावहारिक दासता के पाश से मुक्त न होने दें और दूसरी ओर बहुत से निकम्मे जीवों के लिए मज़े से जीवन व्यतीत करने का प्रबन्ध किया जा सके। फ़िजी-निवासियों को प्रति वर्ष सत्तर हज़ार पौंड अदा करने चाहिएँ—यह खास शर्त है, जिसपर इङ्गलैंड फिजी-निवासियों को अमेरिकन

अत्याचार से बचाने के लिए राज़ी होता है। फ़िजी के लोगों को अपना पूरा गुलाम बनाने लिए शायद एक इसी बात की कमी रह गयी थी। किन्तु स्थिति कुछ ऐसी है कि फ़िजी द्वीपवाले ये सत्तर हज़ार पौंड किसी हालत में नहीं दे सकते, उनपर यह माँग भारी बोझ है।

अँग्रेज़ कुछ काल के लिए अपनी माँग पर ज़ोर न देकर प्राकृतिक उपज का ही कुछ अंश लेकर चुप रहते हैं, ताकि जब रुपये का चलन हो जाये तो वह पूरी रक़म वसूल कर सकें। वे पहली कम्पनी की तरह व्यवहार नहीं करते। कम्पनी का व्यवहार तो किसी-देश में उस जङ्गली आक्रमणकारी के समान था, जिसका मतलब सिर्फ जो-कुछ मिले, वह लूटना होता है। इङ्गलैंड का व्यवहार दूरदर्शी का-सा होता है। वह सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी को एक बार ही मार नहीं डालता, बल्कि वह उसे पालता है, ताकि वह बराबर अण्डे देती रहे। इङ्गलैंड पहले अपनी लगाम को ढीला छोड देता है ताकि बाद को खूब कसकर लाभ उठा सके। इस प्रकार बेचारे फिजी के लोगों को ग़ुलामी के उस फन्दे में फँसा दिया गया, जिसमें समस्त यूरोपियन जाति इस समय फँसी हुई है और जिसमें से उनके निकलने की कोई सूरत भी नहीं दिखायी देती। यही बात अमेरिका, चीन और मध्य-एशिया में होती है और सभी विजित जातियों के इतिहास में ऐसी ही घटना पायी जाती है।

रुपया विनिमय का एक निर्दोष साधन है, किन्तु उसी हालत में कि जब उसे वसूल करने के लिए निरीह निःशस्त्र लोगों के ऊपर तोपें नहीं लगायी जातीं। किन्तु ज्योंही रुपया इकट्ठा करने के लिए तोपों और बन्दूकों का प्रयोग किया जायगा, तो जो-कुछ फिजी में हुआ वह अनिवार्य रूप से होकर रहेगा और ऐसा ही सदा-सर्वत्र हुआ है।

अत्याचारी लोग बलपूर्वक इतना रुपया माँगेंगे कि बेचारे दीन लोग ग़ुलाम बनने के लिए मजबूर हो जाते हैं। इसके अलावा आततायी लोग जितना रुपया जमा हो सकता है उससे सदा ही अधिक माँगेंगे, जैसा कि इङ्गलैंड और फिजी के सम्बन्ध में हुआ; और यह अधिक रुपया

इसलिए माँगा जाता है, कि गुलाम बनाने की क्रिया जल्दी ही पूरी हो जाय। रुपये की माँग को उस समय तक अवश्य सीमा के अन्दर रखा जाता है,जबतक कि उनके पास पर्याप्त धन और नैतिक भाव रहता है। नैतिक भाव के रहते हुए भी रुपयों की ज़रूरत होने पर इस सीमा की पर्वाह नहीं की जाती। सरकारें तो सदा ही सीमा से अधिक माँग करती हैं, क्योंकि एक तो सरकारों के लिए न्याय-अन्याय जैसी कोई नैतिक भावना ही नहीं होती, और दूसरे जैसा कि सभी जानते हैं, युद्धों के कारण तथा अपने आदमियों को देने के लिए उन्हें रुपयों की सदा ही ज़रूरत रहती है। सभी सरकारें दीवालिया होती हैं और अठारहवीं शताब्दी के एक रूसी राजनीतिज्ञ के इस कथन के अनुसार ही व्यवहार करतीं है—"किसान के ऊन को काट ही लेना चाहिए ताकि कहीं वह बहुत ज्यादा न बढ़ जाय।" सभी हकूमतें बुरी तरह कर्ज़दार होती हैं, और प्रायः कर्ज़ की यह रफ़्तार भयंकर गति से बढ़ रही है। इसी तरह ख़र्च का बजट भी बढ़ जाता है, दूसरे दुश्मनों से झगड़ने और अपने साथियों को जागीर व इनाम देने के साथ-साथ ज़मीन के लगान में वृद्धि होती जाती है।

मज़दूरों की उजरत नहीं बढ़ती, लगान के क़ानून के कारण नहीं, बल्कि ज़बरदस्ती वसूल किये जानेवाले करों के कारण। इनका अस्तित्व ही केवल इसलिए होता है कि मनुष्यों के पास कुछ रहने न पावे, ताकि मालिकों को सन्तुष्ट करने के लिए वे अपने को मेहनत करने के लिए बेच डालने पर मजबूर हों टैक्सों के लगाने का उद्देश्य यह होता है कि मज़दूरों की मज़दूरी का उपभोग किया जा सके।

मज़दूरों की मज़दूरी का उपभोग उसी हालत में किया जा सकता है कि जब साधारणतः इतने बड़े कर लगाये जायँ कि मजदूर सिर्फ अपनी अनिवार्य ज़रूरतें ही पूरी कर सकें। यदि मज़दूरी में वृद्धि हो तो मज़दूर के आगे चलकर दास बन जाने की सम्भावना ही नहीं रहती, इसलिए जबतक ज़बरदस्ती का दौर-दौरा रहेगा तबतक मज़दूरी में वृद्धि कभी हो ही नहीं सकती। कुछ लोग दूसरे लोगों के साथ स्पष्ट खुले ढङ्ग से जो

अन्याय करते हैं, उसे अर्थशास्त्री 'लोहे के नियम' के नाम से पुकारते हैं; तथा जिस औज़ार के द्वारा अन्याय किया जाता है, उसे यह लोग विनिमय-साधन कहते हैं और यह निर्दोष विनिमय-साधन, जो मनुष्यों के पारस्परिक व्यापार के लिए आवश्यक है, और कुछ नहीं, रुपया ही है।

एक बात यह भी है कि विनिमय के लिए जो सरल और अनुकूल चीज़ है उसीको विनिमय का साधन नहीं बनाया जाता; बल्कि विनिमय का साधन वही पदार्थ बनता है, जिसे सरकार चाहती है। यदि सोने की माँग होती है, तो सोना क़ीमती होता है, और यदि घुटने की हड्डियाँ माँगी जाने लगे, तो वे मूल्यवान बन जायें। यदि यह बात नहीं है, तो विनिमय के साधनों को सरकार सदा अपनी ही ओर से जारी रखने का अधिकार क्यो रखती है? उदाहरणार्थ फ़िजी-निवासियों ने अपना एक निज का विनिमय-साधन निश्चित कर लिया है। ये जिस तरह चाहते हैं उस तरह विनिमय करने की स्वतंत्रता उन्हें मिलनी चाहिए और तुम बलवान या सत्ताधीश, उनके विनिमय में हस्तक्षेप न करो। किन्तु इसके बजाय तुम खुद सिक्के बनाते हो, किसी दूसरे को ऐसा करने नहीं देते, या जैसा कि हम लोगों के यहाँ है, तुम लोग केवल कुछ नोट छापते हो, उसपर राजा का सिर बनाकर एक ख़ास किस्म का हस्ताक्षर कर देते हो और धमकी देते हो कि यदि कोई दूसरा नोट बनायेगा तो सख्त सज़ा पायेगा। इसके बाद अपने कर्मचारियों मे तुम उन्हें बाँट देते हो और यह चाहते हो कि प्रत्येक आदमी लगान और मालगुजारी आदि के रूप में तुम्हें इस प्रकार के सिक्के अथवा नोट दे, जिनपर एक ख़ास प्रकार के हस्ताक्षर हों, और वे सिक्के या नोट भी इतनी संख्या मे माँगते हो कि इन सिक्कों अथवा नोटो को प्राप्त करने के लिए वह अपनी सारी मेहनत और मज़दूरी को बेचने पर मजबूर हो जाय और यह सब कारस्तानी करने के बाद तुम हमे यह विश्वास दिलाना चाहते हो कि रुपया विनिमय-साधन के रूप मे हमारे लिए आवश्यक है!

समाज के सब लोग सुखी और स्वतंत्र थे। कोई किसी को न सताता और न गुलामी में रखता था। किन्तु समाज में रुपये का आविर्भाव होता है और तुरन्त ही लोहे का-सा कड़ा नियम बनता है, बढ़ जाता है और मज़दूरी यथासम्भव कम हो जाती है। रूस के आधे, बल्कि आधे से अधिक किसान तरह-तरह के कर अदा करने के लिए स्वेच्छा-पूर्वक अपने को ज़मीदारों अथवा कारखानेवालों के हाथ बेच डालते हैं, क्योंकि मनुष्य-कर तथा अन्य प्रकार के करों को चुकाने के लिए उन्हें मजबूर होकर उन लोगों के पास जाना पड़ता है कि जिनके पास रुपया है और उनकी आज्ञानुसार उन्हें उनकी गुलामी करनी पडती है। यही इस रुपये का खेल है।

जब गुलामी की प्रथा बन्द नहीं हुई थी, तो मैं आइवन को कोई भी काम करने के लिए मजबूर कर सकता था और उसके इनकार करने पर उसे पुलिस के हवाले कर देता, जहाँ उसे मार-पीटकर ठीक कर दिया जाता। किन्तु यदि मैं आइवन से शक्ति से अधिक काम कराता और उसे वस्त्र या भोजन न देता तो यह मामला अधिकारियों के पास जाता और मुझे उसके लिए जवाब देना पड़ता।

किन्तु अब, जब कि गुलामी उठ गयी है, मैं आइवन, पीटर या साइडर से कोई भी काम करा सकता हूँ, और यदि वे इनकार करें, तो मैं लगान अदा करने के लिए उन्हे रुपया नहीं देता और तब उनपर कोडे पड़ते हैं। इस प्रकार वे मेरी बात मानने को विवश होते है। इसके सिवा मै जर्मन, फ्रान्सीसी, चीनी तथा हिन्दुस्तानी को भी इसी साधन के द्वारा अपना काम करने के लिए मजबूर कर सकता हूँ। यदि वे राजी नहीं होते तो मैं ज़मीन किराये पर लेने के लिए या भोजन खरीदने के लिए उन्हे रुपया नही दूँगा। चूँकि उनके पास ज़मीन और भोजन कुछ भी नहीं है, इसलिए उन्हें मजबूर होकर मेरे पास आना पड़ेगा यदि मैं उनसे शक्ति से अधिक काम कराऊँ, यहाँतक कि अधिक काम ले-लेकर मैं उन्हे मार भी डालूँ, तब भी कोई मुझसे एक शब्द भी नहीं कह सकता, और जो

कहीं मैंने राजनीतिक अर्थशास्त्र की किताबें पढ़ली है, तब तो फिर मुझे पूरा विश्वास हो जाता है कि सभी मनुष्य स्वतंत्र है और रुपया ग़ुलामी का कारण नही है।

हमारे किसान बहुत दिनों से जानते हैं कि मनुष्य लकड़ी की अपेक्षा रुपये से अधिक चोट पहुँचा सकता है। यह तो अर्थ-शास्त्र के धुरन्धर-ज्ञाता लोग ही है कि जो इस बात को नहीं समझते।

रुपया ग़ुलामी पैदा नहीं करता, यह कहना ऐसा ही है कि जैसे पचास वर्ष पहले कोई यह दावा करता कि 'सर्फ लॉ' 'ग़ुलामो का क़ायदा' ग़ुलामी का बिलकुल ही कारण न था। अर्थशास्त्री कहते है कि रुपया तो विनिमय का एक निर्दोष साधन है। रुपये के जोर से एक मनुष्य दूसरे को ग़ुलाम बना सकता है। तथापि ५० साल पहले इसी तरह, क्या वह नहीं कहा जाता था कि ग़ुलामी तो पारस्परिक सेवा का एक निर्दोष प्रबन्ध है, साधन नहीं, और फिर कोई मनुष्य किसी को अपना ग़ुलाम बना ले तो क्या हुआ! यह तो एक पारस्परिक समझौता है। कुछ लोग शारीरिक श्रम करते हैं और दूसरे लोग अर्थात् मालिक अपने ग़ुलामों के शारीरिक तथा मानसिक हितों का ख़याल रखते हैं और उनके काम का निरीक्षण करते हैं। क्या ताज्जुब कि किसी ने ऐसा कहा भी हो?

: १६ :

अन्य क़ानूनी विज्ञानों की तरह इस कपोल-कल्पित शास्त्र-अर्थशास्त्र का भी उद्देश्य यदि समाज में होनेवाले अन्याय-अत्याचार का समर्थन न होता तो अर्थ-शास्त्र यह देखे बिना न रहता कि कुछ लोगों को ज़मीन और पूँजी से वञ्चित कर देना और कुछ लोगों का दूसरों को अपना ग़ुलाम बना लेना—ये सब विचित्र बातें पैसे ही की वजह से होती हैं और पैसे ही के द्वारा कुछ लोग दूसरे लोगों की मेहनत का उपभोग करते हैं—उन्हे ग़ुलाम बना लेते हैं।

मैं फिर दोहराता हूँ, जिसके पास पैसा है वह सारा अनाज खरीदकर अपने कब्जे में ला सकता है और चाहे तो अन्य लोगों को तरसा-तरसाकर भूखों मार सकता है, जैसा कि बड़े परिमाण में प्रायः हमारी आँखों के आगे होता है। इन विचित्र घटनाओं के साथ पैसे का क्या सम्बन्ध है, इसे खोजना ज़रूरी दीखता है। किन्तु अर्थ-शास्त्र पूर्ण विश्वास के साथ यह ऐलान करता है कि इस मामले से पैसे का किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अर्थ-शास्त्र कहता है—पैसा भी अन्य चीज़ों की तरह एक प्रकार का माल है, जिसका मूल्य पैदावार पर निर्भर रहता है, फ़र्क़ केवल इतना है कि मूल्य निर्धारित करने, सञ्चित करने और दूसरी चीज़ों की कीमत चुकाने के लिए सरल और अनुकूल साधन होने के कारण इसे ही विनिमय-साधन के रूप में पसन्द किया गया है। एक आदमी जूते बनाता है, दूसरा अन्न पैदा करता है, तीसरा भेड़-बकरियाँ पालता है, और ये

सब लोग अपनी चीज़ों को सरलतापूर्वक अदला-बदली करने के लिए रुपया-पैसा जारी करते हैं। यह रुपया मेहनत के इनाम के तौर पर ग्रहण किया जाता है, और इस विनिमय-साधन के द्वारा वे जूतों को मांस के टुकड़े से अथवा दस सेर आटे से बदल सकते है।

इस काल्पनिक विज्ञान के अनुयायी अपने सामने ऐसी अवस्था को चित्रित करने के आदी और शौकीन हैं, किन्तु संसार में ऐसी अवस्था कभी हुई ही नही। मानव-समाज में जहाँ कहीं भी रुपये का चलन हुआ है वहाँ बलवान और सशस्त्र लोगों ने दुर्बल और निस्सहाय लोगों को सताया भी है। और जहाँ कहीं भी अन्याय और अत्याचार हुआ है, वहाँ मज़दूरी या माल के मूल्य-स्वरूप पैसा अथवा पशु, खाल, धातु, आदि जो-कुछ भी रहा हो, वह वस्तु-विनिमय का साधन न रहकर दूसरों के बलात्कार से अपने को बचाने का साधन बन जाता है।

इसमें शक नहीं कि विज्ञान पैसे में जिन निर्दोष गुणों को बताता है, वे उसके अन्दर मौजूद हैं, किन्तु ये गुण वहीं क़ायम रह सकते हैं, जहाँ शोर-ज़ुल्म और बलात्कार न हो, जहाँ एक आदर्श समाज की स्थापना हो। किन्तु ऐसे आदर्श समाज में मूल्य-निर्णायक के रूप में पैसे की ज़रूरत ही न होगी। जहाँ सर्व-साधारण पर राज्य की ओर से अत्याचार नहीं होता, वहाँ न तो पहले कभी पैसा था और न अब हो सकता है। पैसे का मुख्य उद्देश्य वस्तु-विनिमय का नियत साधन बनना नहीं, बल्कि अन्याय और अत्याचार को सहारा देना-मात्र है। जहाँ अन्याय और अत्याचार है वहाँ विनिमय के नियत साधन के रूप में पैसे का उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि वह मज़दूरी या माल की क़ीमत का ठीक एवज़ नहीं बन सकता। और इसका कारण यह है कि जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की मेहनत को ज़बरदस्ती छीन सकता है, तो फिर मूल्य-निर्णायक जैसी कोई वस्तु ही नहीं रह सकती।

किसी आदमी के पाले हुए घोड़े, बाघ अथवा अन्य पशु दूसरे आदमियों-द्वारा छीन लिये जायँ और वे बाज़ार में बेचने के लिए लाये जायँ

और इन चुराये हुए घोड़े, गाय आदि के मुक़ाबिले में दूसरे घोड़े और गाय आदि पशु भी बराबर मूल्य पर बेचे जायँ, तो यह स्पष्ट है कि इन-का मूल्य इन पशुओं के पालने की मेहनत के बराबर कभी नहीं होगा। इस परिवर्तन के साथ ही दूसरी चीज़ों के मूल्य पर असर पड़ेगा और इस प्रकार पैसा मूल्यों का निर्णय न कर सकेगा। फिर यदि कोई आदमी गाय या घोडे को ज़बरदस्ती छीन सकता है तो वह खुद रुपये को भी इसी प्रकार बलपूर्वक प्राप्त कर सकता है और इस रुपये के द्वारा वह सभी चीजों को ख़रीद सकता है। जब रुपया खुद बलपूर्वक प्राप्त किया जाता है और वह चीज़ें ख़रीदने के काम आता है, तो उसमें विनिमय-साधन का कोई गुण ही नहीं रहता। अत्याचारी पहले रुपया छीन लेता है और फिर वही रुपया दूसरो की मेहनत से पैदा की हुई चीज़ो के बदले में देता है, अर्थात् वह बदले में तो कुछ देता ही नहीं—वह जो-कुछ चाहता है, मेहनत करनेवालों से उसे मिल जाता है।

अच्छा, थोडी देर के लिए मान लीजिए कि इस प्रकार की असम्भव और काल्पनिक अवस्था सचमुच कहीं पर है, वहाँ बलात्कार नहीं है और रुपये का चलन है। सोने अथवा चाँदी का मूल्य-निर्णायक तथा विनिमय-साधन के रूप मे प्रयोग होता है। इस समाज में जो-कुछ बचत होती है वह रुपये के रूप में रहती है। विजेता के रूप में किसी अत्याचारी का समाज मे प्रवेश होता है। मान लीजिए यह अत्याचारी विजेता लोगों के घोडो, कपडो, मकानों और गौओ पर अपना अधिकार बताता है, किन्तु चूँकि इन सब चीज़ों को लेकर अपने पास रखने मे तकलीफ़ होती है, इसलिए वह उस रुपये-पैसे को लेने की इच्छा करता है कि जो इन लोगो के सब प्रकार के मूल्यो का प्रतिनिधि समझा जाता है और जिसके द्वारा सब प्रकार की चीज़ें प्राप्त की जा सकती है। ऐसा होते ही इस समाज में विजेता और उसके साथियो के लिए रुपया एक दूसरे ही अर्थ का बोधक हो जाता है। अभी तक वस्तु-विनिमय के साधन की जो ख़ासियत उसमे थी, वह जाती रहती है।

किस चीज़ का कितना मूल्य होना चाहिए, इसका निर्णय सदा शक्तिशाली अत्याचारी की इच्छा पर निर्भर रहता है। जिन चीज़ों की उसे सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है और जिनके लिए वह अधिक रुपया देता है, वही अधिक मूल्यवान समझी जाती हैं, और जिनकी ज़रूरत उसे नहीं होती, वे कम मूल्य की गिनी जाती हैं। जिस समाज में अत्याचार का प्रभाव हो जाता है, वहाँ रुपया अत्याचार करने और अत्याचार से बचने का साधन बन जाता है।

कल्पना कीजिए—किसान लोग अपने ज़मींदार को कपडा, मुर्गी, मुर्गे, भेड, बकरियाँ लाकर देते हैं और उनके लिए रोज़ मेहनत-मज़दूरी करते हैं। ज़मींदार इन चीजों के बजाय रुपया लेना स्वीकार करते है और चीजों का मूल्य निर्धारित कर देते हैं। जिन लोगों के पास कपडा, अनाज, पशु, देने को नहीं हैं, या जो शारीरिक सेवा नहीं कर सकते हैं, वे एक निश्चित रकम अदा कर सकते हैं। यह तो स्पष्ट है कि इस ज़मींदार के कृषक-समाज में वस्तुओं का मूल्य ज़मींदार की इच्छा और ज़रूरत पर ही निर्भर रहेगा। यदि उसे नाज की ज़रूरत है, तो वह उसका मूल्य अधिक रखेगा और कपड़े, पशु या शारीरिक सेवा का कम। इसलिए जिनके पास नाज नहीं होगा, वे नाज ख़रीदकर ज़मींदार को देने के लिए अपना श्रम, कपडा और पशु दूसरों के हाथ बेच डालेंगे।

यदि सभी चीज़ों के बदले ज़मींदार रुपया लेना पसन्द करे, तब भी चीज़ो का मूल्य मेहनत को देखकर निश्चित न होगा, बल्कि उसका निश्चय निर्भर रहेगा। एक तो ज़मींदार द्वारा माँगी हुई रक़म पर और दूसरे किसान द्वारा पैदा किये हुए उन पदार्थों पर, जिनकी जमीदार को ज़्यादा ज़रूरत होगी और जिनके लिए वह अधिक मूल्य देने को तैयार है।

ज़मींदार किसानों से जो रुपया माँगता है उसका असर चीज़ों की क़ीमत पर दो हालतों में नहीं पडेगा। जब उस ज़मींदार के किसान दुनिया के दूसरे लोगों से एकदम अलहदा होकर रहें और उनका दूसरे लोगों से कोई सम्बन्ध न हो; और दूसरे उस हालत में, जब ज़मींदार

रुपये से अपने गाँव में नहीं, दूसरी जगह चीजें खरीदें। इन्हीं दो हालतों में चीज़ों की क़ीमत वस्तुतः वही-की-वही रह सकेगी और रुपया मूल्य-निर्णायक और विनिमय-साधन बन जायगा।

किन्तु यदि इन किसानों का पडोस के गाँववालों से कोई व्यापारिक सम्बन्ध होगा; तो अपने पडोस के गाँववालों के हाथ बेची जानेवाली चीज़ों का मूल्य उस गाँव के ज़मीदार-द्वारा माँगी हुई रक़म के अनुसार होगा। यदि पड़ोस के गाँव के लोगों को अपने ज़मीदार को इस गाँव के लोगों की अपेक्षा कम रक़म देनी होती है, तो इस गाँव की पैदावार दूसरे गाँव की पैदावार की अपेक्षा सस्ती बिकेगी, और यदि दूसरे गाँववालों को ज्यादा रक़म देनी पड़ती है, तो इस गाँव की पैदावार वहाँ महँगी बिकेगी। चीज़ों की क़ीमत पर ज़मीदार की रुपये की माँग का असर उस हालत में भी नहीं पडेगा कि जब जमा की हुई रकम अपने आसामियों की चीज़ें खरीदने में खर्च न हो। यदि वह अपने किसानों से खरीदेगा, तो यह स्पष्ट है कि विभिन्न पदार्थों का मूल्य बराबर बदलता रहेगा। ज़मीदार जिस चीज़ को ज्यादा चाहेगा, उसीका मूल्य बढ़ जायगा।

एक ज़मींदार ने अपने गाँव के लोगों पर भारी मनुष्य-कर लगाया है और उसके पडोसी ने बहुत कम। यह स्वाभाविक है कि पहले ज़मीदार की जागीर में दूसरे के गाँव की अपेक्षा प्रत्येक चीज़ सस्ती होगी, क्योंकि यहाँ लोगों को रुपये की बहुत जरूरत होती है; और दोनों ही रियासतो मे मनुष्य-कर की वृद्धि अथवा कमी के ऊपर चीज़ों की क़ीमत निर्भर रहेगी। बलात्कार अथवा ज़बरदस्ती का चीज़ों के मूल्य पर एक यह असर पड़ता है।

पहले के परिणाम-स्वरूप एक दूसरा असर भी होता है और वह चीजों के तुलनात्मक मूल्य से सम्बन्ध रखता है। फ़र्ज़ कीजिए एक ज़मींदार घोड़ों का शौकीन है और उनके लिए बड़ी-बड़ी कीमतें देता है, दूसरे को तौलियों, अँगौछों का शौक है, और वह अँगौछों के लिए अच्छा मूल्य देता है। अब यह तो स्पष्ट ही है कि इन दोनों रियासतो में

घोड़े और अँगौछे महँगे होंगे और उनका मूल्य अपेक्षाकृत गाय अथवा नाज के मूल्य से कहीं ज्यादा होगा। यदि कल अँगौछों का शौक़ीन ज़मींदार मर जाय और उसके उत्तराधिकारियों को मुर्ग़े-मुर्ग़ियों का शौक़ हो तो यह स्पष्ट है कि अँगौछों की क़ीमत कम हो जायगी और मुर्ग़े-मुर्ग़ियों की बढ़ जायगी।

समाज में जहाँ एक मनुष्य दूसरे के ऊपर ज़बरदस्ती करता है, वहाँ पैसा माल या मेहनत के मूल्य-स्वरूप कितने अंशों तक रहेगा, यह एकदम अत्याचारी की इच्छा के ऊपर निर्भर रहता है; और विनिमय का साधन बनने की इसकी योग्यता नष्ट होकर दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने का एक अत्यन्त अनुकूल और सुविधा-जनक साधन हो जाता है। अत्याचारी को विनिमय या मूल्य-निर्धारण के लिए पैसे की ज़रूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वह जो चाहता है बदले में कुछ दिये बिना ही ले लेता है; और स्वयं ही प्रत्येक पदार्थ का मूल्य निर्धारित करता है। उसे पैसे की ज़रूरत होती है केवल इसलिए कि वह सुविधा-पूर्वक दूसरों पर अत्याचार कर सके और यह सुविधा इस बात में है कि रुपया-पैसा ख़ूब इकट्ठा किया जा सकता है और इसके द्वारा अधिकांश मानव-समाज को ग़ुलाम बनाकर रखा जा सकता है।

अपने को जिस समय जितने घोड़े, गाय, भेड़ चाहिएँ उतने उसी समय मिल सकें, इसके लिए इन सभी जानवरों को लेकर अपने पास रखना सुविधा-जनक नहीं है; क्योंकि उन्हें चारा देना पड़ता है। नाज में भी यही बात है, क्योंकि उसके सड़-गल जाने की सम्भावना है। ग़ुलामों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। किसी समय मनुष्य को हज़ारों की ज़रूरत हो सकती है और किसी समय एक की भी नहीं। किन्तु ये सब असुविधायें दूर हो जाती हैं; और जिस चीज़ की ज़रूरत हो वह भी मिल सकती है। इसीलिए अत्याचारी रुपया माँगता है। रुपया माँगने में एक और भी सुविधा है कि दूसरे मनुष्यों के परिश्रम से लाभ उठाने का उसका अधिकार कुछ थोड़े-से मनुष्यों तक ही परिमित नहीं रहता, बल्कि जिस किसी

को भी रुपये की ज़रूरत हो, उन सभी तक व्याप्त हो सकता है।

जब रुपये का चलन न था तो प्रत्येक ज़मींदार केवल अपने ही असामियों की मेहनत का लाभ ले सकता था; किन्तु जब वह मिलकर किसानों से रुपया माँगने लगे, जो उनके पास नहीं था, तब बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के सभी राज्यों के आदमियों के परिश्रम का उपभोग करने में वे समर्थ बन गये। इस प्रकार लोगों की मज़दूरी के फल को रुपये के रूप में लेने से उन्हें बड़ी सुविधा होती है और केवल इसीलिए रुपया चाहा जाता है।

जिन ग़रीब दुःखी लोगों से रुपया लिया जाता है, उनके लिए वह न तो विनिमय में काम आता है, क्योंकि वे तो बिना पैसे के ही चीज़ों की अदला-बदली कर लेते हैं, जैसा कि राज-सत्ता की स्थापना के पहले सभी जातियाँ करती थीं, न चीज़ों का मूल्य निर्धारित करने के काम में, क्योंकि यह निर्णय तो उनसे पूछे बिना ही कर दिया जाता है; न सञ्चय के काम में, क्योंकि जिसकी पैदावार छीन ली जाती थी उसके पास सञ्चय करने को कुछ रह ही नहीं जाता और न लेन-देन के काम में, क्योंकि अत्याचार-पीड़ित को लेने की अपेक्षा सदा देना ही अधिक पड़ता है। यदि मजदूर अपनी मेहनत के बदले में अपने मालिक की दुकान से चीज़ें लेता है, तब तो उसे रुपया न मिलकर माल मिलता ही है और यदि वह अपनी कमाई से जीवन की आवश्यक सामग्री दूसरी दुकान पर खरीदने जाता है तो उससे फौरन ही रुपया माँगा जाता है और उसे धमकी दी जाती है कि यदि रुपया अदा न करोगे, तो न तुम्हें ज़मीन दी जायगी और न अन्न दिया जायगा; या फिर तुम्हारी गाय या घोड़ा छीन लेंगे, या तुमसे ज़बरदस्ती काम करायेंगे और फिर तुम्हें जेल भेज देंगे। इस आफ़त से वह अपनी पैदावार और अपनी तथा अपने बच्चों की मेहनत बेचकर ही छुटकारा पा सकता है और यह भी साधारण विनिमय के निश्चित मूल्य पर नहीं, बल्कि पैसा माँगनेवाली सत्ता-द्वारा निर्धारित मूल्य पर।

इस स्थिति में कि जब लगान और कर का प्रभाव चीज़ों के मूल्य पर पडता है—और जैसा कि सभी जगह होता है, ज़मींदारो के यहाँ छोटे पैमाने पर और राज्य मे बडे पैमाने पर, और राज्यों में जो मूल्य मे हेर-फेर होते हैं उनके कारण तो हमें इतने स्पष्ट रूप से दिखायी पडते हैं कि जैसे मदारी को पर्दे के पीछे खड़ा देखकर कठपुतलियो के चलने-फिरने का कारण हर कोई समझ जाता है। तब भी ऐसी स्थिति में भी यदि कोई यह दावा करे कि रुपया विनिमय का साधन और मूल्य-निर्णायक है तो यह और कुछ नहीं, तो कम-से-कम आश्चर्य-जनक तो है ही।

: २० :

एक आदमी दूसरे आदमी की जान ले सकता है और जान लेने की धमकी देकर उसे अपनी इच्छानुसार काम करने पर मजबूर कर सकता है। यही दासता का एक-मात्र कारण है। हम यह देख सकते हैं कि जब कोई आदमी अपनी रुचि व इच्छा के विरुद्ध दूसरे आदमी की इच्छानुसार काम काम करता है, तो इसका मूल कारण और कहीं नहीं, किसी-न-किसी रूप में, इसी धमकी के अन्दर ही होता है। यदि एक आदमी अपने पास खाने तक को न रखकर अपनी सारी कमाई दूसरे को दे देता है, अपने बच्चों को सख्त मेहनत करने के लिए भेजता है, खेतों को बिना जोते पडा रहने देता है और अपना सारा जीवन अनावश्यक घृणित काम करने में व्यतीत करता है, तब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह यह सब काम इसीलिए करता है कि इन कामों को न करना जान से हाथ धोने के समान होगा। यह सब रोज़ हम अपनी आँखों से देखते हैं।

हमारे इस सभ्यसंसार में, जहाँ अधिकांश लोग कठोर-से-कठोर कष्ट सहकर भी अपनी रुचि के प्रतिकूल और अनावश्यक ऐसे काम करते हैं एक प्रकार की भयङ्कर दासता प्रचलित है, और इसका आधार लोगों का अस्तित्व मिटा डालने की धमकी है। अच्छा तो, यह दासता आयी कहाँ से ? धमकी की शक्ति कहाँ छिपी हुई है ?

पुराने ज़माने में लोगों को पददलित करने के साधन और उन्हें मार डालने की धमकी—ये सब लोगों के लिए बिलकुल स्पष्ट थे। लोगों को

गुलाम बनाने का आदिम साधन सीधी-सादी भाषा में तलवार से मार डालने की धमकी देना था। एक सशस्त्र मनुष्य निहत्थे आदमी से कहता है—देख, जैसे मैंने तेरे भाई को मार डाला, वैसे मैं तुझे भी मार सकता हूँ, लेकिन मैं ऐसा करना नहीं चाहता। मैं तेरी जान बख्शता हूँ। एक तो इसलिए कि तुझे मारने की मेरी इच्छा नहीं, दूसरे मैं तुझे मार डालूँ, इसके बजाय तेरे और मेरे दोनों के लिए यह बेहतर होगा कि तू मेरा काम किया कर। इसलिए मैं जो-कुछ कहूँ, उसे चुपचाप कर; नहीं तो, याद रख मैं तुझे जीता न छोड़ूँगा।

इस प्रकार बेचारा दुर्बल मनुष्य सबल मनुष्य की बात मानने को मजबूर हुआ और उसका विनम्र आज्ञा-पालक बन गया। निहत्था आदमी मज़दूरी करता था और सशस्त्र हुक्म देता था। यही वह व्यक्तिगत दासता थी, जो पहले-पहल सभी जातियों में पैदा हुई और जो अब भी जंगली जातियों में पायी जाती है।

दासता का प्रारम्भ तो इसी प्रकार की धमकी से होता है; किन्तु जीवन जैसे जटिल होता जाता है, दासता की रीति भी बदलती जाती है। जीवन की जटिलता के कारण यह तरीका अत्याचारी के लिए असुविधा-जनक हो उठता है। गुलामों से काम लेने के लिए उन्हें खिलाना-पिलाना पड़ता है, कपड़े देने पड़ते हैं, और उनके काम की निगरानी करनी पड़ती है, और इसलिए उनकी संख्या थोड़ी ही रह जाती है। इसके अलावा ऐसा करने से मालिक को बराबर गुलामों के साथ रहना पड़ता है और मार डालने की धमकी दे-देकर उनसे काम कराना होता है और इसलिए लोगों को गुलाम बनाने की एक नयी रीति निकाली गयी।

पाँच हज़ार वर्ष पूर्व बाइबिल के अनुसार लोगों को अपनी मुट्ठी में करने का यह नवीन सुविधा-जनक और चतुरतापूर्ण साधन यूसुफ ने खोज निकाला था। आजकल जङ्गली जानवरों और अक्खड़ घोड़ों को सधाने में जो तरकीब काम आती है वह उससे मिलती-जुलती है। यह तरकीब है भूखों मारने की।

बाइबल में इस तरकीब का इस प्रकार वर्णन है—

४८. और यूसुफ़ ने सातों वर्ष का मिश्र देश का नाज इकट्ठा किया और वह सारा नाज शहरों में जमा कर रखा; शहरों के चारों ओर के खेतों का जो नाज था वह भी शहरों में भर लिया ।

४६. यूसुफ़ ने समुद्र की रेती की तरह नाज इकट्ठा किया; अन्त में उसने गिनती करना भी छोड़ा, क्योंकि वह बेशुमार था ।

५३. इसके बाद मिश्र देश के सुकाल के सात वर्ष समाप्त हुए ।

५४. और यूसुफ़ के कथनानुसार सात वर्ष का दुष्काल पड़ा। सभी देशों में दुष्काल था, पर मिश्र-भर में खाने को मौजूद था।

५५. फिर जब सारे मिश्र देश में खाने की कमी हुई तब लोगों ने फैरोआ के पास जाकर भोजन के लिए चिल्लाना शुरू किया, फैरोआ ने सब मिश्र-निवासियों से कहा—'यूसुफ़ के पास जाओ, वह जैसा कहे, वैसा करो।'

५६. सारी पृथ्वी-भर में अकाल का ज़ोर था, यूसुफ़ ने अपने सब कोठार खोल दिये और मिश्र-वासियों को नाज बेचने लगा । मिश्र देश में दुष्काल का खूब ज़ोर था।

५७. सभी देशों के लोग मिश्र में यूसुफ के पास नाज खरीदने को दौड़े, क्योंकि सभी देशों में भयानक दुष्काल था।

तलवार की धमकी से लोगों को गुलाम बनाने की असली रीति का उपयोग करके दुष्काल के समय के लिए युसुफ़ ने सुकाल में नाज इकट्ठा किया। इस प्रकार भूख के द्वारा मिश्र के आस-पास के देशों के लोगों को यूसुफ़ ने सरलतापूर्वक और निश्चित रूप से अपने ताबे में कर लिया। फिर जब लोग भूखों मरने लगे तब उसने ऐसी तरकीब की, जिससे लोग सदा के लिए उसके कब्ज़े में रहें। (प्रकरण ४७ पद १३-२६ में इसका नीचे लिखे अनुसार वर्णन है।)

पीछे सारे देश में खाने को न रहा, क्योंकि दुष्काल भयङ्कर था। मिश्र तथा कैनान भर में मुर्दनी-सी छा गयी।

यूसुफ़ ने जो नाज बेचा था, उसके बदले में मिश्र तथा कैनान में जितना रुपया था, सब इकट्ठा कर लिया और यह सारा धन यूसुफ़ ने फ़ैरोआ के घर में ला रखा।

जब मिश्र तथा कैनान में रुपया न रहा, तो सबने यूसुफ़ के पास आकर कहा—हमें खाने को दो। हमारे पास पैसा नहीं है, पर तुम्हारे होते हुए क्या हम भूखों मरेंगे?

यूसुफ़ ने कहा—तो तुम अपने पशु लाओ। द्रव्य नहीं रहा है, तो तुम्हारे पशु लेकर तुम्हें अनाज देंगे।

तब लोग यूसुफ़ के पास अपने पशु ले गये और यूसुफ़ ने उनके घोड़े, गाय, बैल, भेड़ें, बकरे और गधे लेकर बदले में उन्हें अनाज दिया। और उसके सब पशु लेकर एक साल तक उन्हें अन्न दिया।

वर्ष समाप्त होने पर दूसरे वर्ष वे लोग यूसुफ के पास आये और कहने लगे—महाराज! हम आपसे कुछ छिपाना नहीं चाहते। हमारा द्रव्य समाप्त हो गया है और हमारे पशु भी बिक गये हैं। आप जानते हैं कि अब हमारे पास हमारे शरीर और हमारी ज़मीन के सिवाय और कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। क्या हम लोग तुम्हारी आँखों के सामने अपनी ज़मीन के साथ ख़त्म हो जायेंगे? हमें और हमारी ज़मीन को अन्न के बदले में ले लो, हम और हमारी ज़मीन फ़ैरोआ के ताबे में रहेगी। हमें बीज दो, जिससे हम जीते रहें और ज़मीन उजाड़ न हो जाये।

यूसुफ़ ने मिश्र की सारी जमीन फ़ैरोआ के लिए खरीद ली। मिश्र-वासियों में से हरएक ने अपने खेत बेच डाले। क्योंकि वे अकाल से पीड़ित हो रहे थे। बस, सारी ज़मीन फ़ैरोआ की मिल्कियत हो गयी।

आदमियों के लिए उसने यह किया कि मिश्र के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के सब लोगों को शहरों में लाकर बसाया।

सिर्फ़ पुरोहितों की ज़मीन यूसुफ ने नहीं ख़रीदी, क्योंकि वह फ़ैरोआ की ओर से वृत्ति के रूप में दी गयी थी और उसीसे वे अपनी गुजर करते थे।

तब यूसुफ ने लोगों से कहा—देखो, आज हमने तुम्हें और तुम्हारी भूमि को फैरोआ के लिए ख़रीद लिया है। अब लो यह बीज और जमीन जोतो-बोओ। पर जब नाज पके, तो फ़सल का पाँचवाँ भाग फैरोआ को देना और शेष चार भाग तुम्हारे रहेंगे। इसमें से तुम बीज के लिए रख छोड़ना और अपना, अपने कुटुम्ब का तथा अपने बाल-बच्चों का भरण-पोषण करना।

लोगों ने कहा—तुमने हमें जीवन-दान दिया है। महाराज! हमपर कृपा-दृष्टि रखो, हम फैरोआ के सेवक होकर रहेंगे।

यूसुफ़ का बनाया हुआ नियम मिश्र देश में आज तक जारी है कि जमीन की पैदावार का पाँचवाँ भाग फैरोआ को मिलता है। केवल पुरोहितों की ज़मीन इस नियम से मुक्त है, क्योंकि वह फैरोआ ने ख़रीदी नहीं थी।

इससे पहले लोगों की मजदूरी में लाभ उठाने के लिए फैरोआ को उनपर अत्याचार और ज़बरदस्ती द्वारा काम करना पड़ता था। पर अब तो ज़मीन और फ़सलें सभी पर फैरोआ का अधिकार होने से केवल नाज के भण्डार को बलपूर्वक अपने अधीन रखने की ज़रूरत थी और फिर भूख उनसे सब काम करा लेती।

सारी ज़मीन फैरोआ की हो गयी और लोगों से वसूल किया हुआ नाज का भण्डार भी उसी के अधीन था, इसलिए प्रत्येक मनुष्य से तलवार के भय से काम करवाने के बदले उसे केवल नाज को ही बल-पूर्वक अपने कब्ज़े में रखना था—और, लोग तलवार से नहीं वरन् भूख से उसके गुलाम बनने लगे।

किसी वर्ष अकाल पड़े तो सभी लोगों को फैरोआ चाहे तो भूखों मार सकता है और सुकाल में भी जिसके पास किसी आकस्मिक घटना के कारण अन्न न हो वह भी भूखों मारा जा सकता है। इस प्रकार गुलाम बनाने की दूसरी रीति स्थापित हुई।

गुलाम बनाने की पहली रीति में सत्ताधारी मनुष्य के पास केवल

सशस्त्र सिपाहियो ही की जरूरत होती है, जो गाँव के लोगों पर अपना रोब जमाकर और मौत का डर बताकर अपने मालिक की आज्ञा का लोगो से पालन कराते है। इस रीति मे केवल अपने सैनिको को ही दूसरो से छीनी हुई सम्पत्ति में से भाग देना पडता है। किन्तु दूसरी पद्धति में अनाज के भण्डारो की तथा जमीन की भुखमरो से रक्षा करनेवाले सिपाहियों के अतिरिक्त अत्याचारी को और किस्म की मदद देनेवाले तथा अनाज को इकट्ठा करने तथा बेचने का काम करनेवाले अनेक छोटे-मोटे यूसुफ़ों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए अन्यायी को अपनी उपज में से कुछ भाग इन लोगो को भी देना पडता है; यूसुफ को सुन्दर वस्त्र, सोने की अँगूठी, नौकर-चाकर तथा अनाज और उसके भाइयो तथा सगे-सम्बन्धियो को सोना-चाँदी प्रदान करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दूसरी पद्धति में केवल व्यवस्थापक तथा नौकर-चाकर ही भागीदार नही होते, बल्कि स्थिति ही ऐसी होती है कि जिन किसी के पास भी अनाज-भण्डार होता है, वे सब अन्न-विहीन भूखे लोगों पर अन्याय करने में सम्मिलित हो जाते है। पशु-बल पर अवलम्बित पहली पद्धति मे प्रत्येक शस्त्रधारी मनुष्य निर्बलों और निःशस्त्र लोगों पर अन्याय करने में हिस्सा लेने लगता है। ठीक इसी तरह भूखों मारने की नीति पर अवलम्बित दूसरी पद्धति में प्रत्येक मनुष्य, जिसके पास नाज भरा हुआ है, इस अन्याय-व्यापार में भागीदार बन जाता है और जिनके पास नाज नही होता, उनपर हुकूमत करता है।

पहली पद्धति की अपेक्षा इस पद्धति में जुल्म करनेवालों को यह लाभ है कि (१) मज़दूरो से अपनी इच्छानुसार काम करा लेने में विशेष श्रम नहीं करना पडता, मज़दूर स्वयं ही आते हैं और अपने को उसके हाथों बेच डालते हैं; और (२) पहली पद्धति की अपेक्षा बहुत थोड़े मनुष्य उनके अन्याय-पाश से बच सकते हैं। इस दूसरी पद्धति में अत्याचारी की हानि सिर्फ़ इतनी ही है कि पहली पद्धति की अपेक्षा इसमें अधिक लोगों को भाग देना पडता है।

इस दूसरी पद्धति में पीडित लोगों को लाभ यह है कि उन्हें सदा निरे पशु-बल के अधीन रहना नहीं पडता, इससे वे निश्चिन्त रहते हैं और दलित अवस्था में से निकालकर स्वयं अत्याचारी-वर्ग में शामिल होने की आशा वे कर सकते हैं। अनुकूल अवस्था में इस स्थिति को प्राप्त भी कर लेते हैं। उनके लिए ख़राबी यह है कि अन्याय में भाग लेने से वे कभी बच नहीं सकते। दरिद्र अवस्था में वे अन्याय-पीड़ित होंगे तो समृद्ध अवस्था में वे स्वयं दूसरों पर अन्याय करने लगेंगे।

गुलाम बनाने की यह नयी पद्धति प्रायः पुरानी पशु-बलवाली नीति के साथ-ही-साथ काम में आती है। जैसी-जैसी ज़रूरत होती है, वैसे-वैसे बलवान मनुष्य पहली पद्धति को संकुचित करता जाता है और दूसरी पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। किन्तु सत्ताधारी को इस पद्धति से भी पूरा-पूरा सन्तोष नहीं होता। अधिक-से-अधिक मज़दूरों की मेहनत से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना और जितने अधिक लोग बन सकें, उन्हें गुलाम बनाना चाहता है। इसलिए एक तीसरी पद्धति का आविष्कार होता है।

यह नयी तीसरी पद्धति कर लगाने की है। दूसरी पद्धति के अनुसार यह भी भूखों मारने की नीति पर अवलम्बित है, परन्तु मनुष्यों से उसकी रोटी छीन लेने के बाद उन्हें गुलाम बनाने के लिए उनकी जीवन-सम्बन्धी दूसरी आवश्यकतायें भी छीन ली जाती हैं। बलवान मनुष्य अपने ही द्वारा बनाये हुए सिक्कों को इतनी बडी संख्या में वसूल करता है कि इन सिक्कों को प्राप्त करने के लिए गुलामों को यूसुफ़ द्वारा निश्चित पञ्चमांश अनाज की अपेक्षा कहीं अधिक नाज बेचना पड़ता है; और केवल इतना ही नहीं, बल्कि अपनी ख़ास ज़रूरत की चीज़ें, माँस चमड़ा, ऊन, कपडा, बरतन और मकान तक बेच डालने पडते हैं। इस प्रकार अत्याचारी के भूख के डर से नहीं, बल्कि शीत, प्यास तथा अन्य प्रकार की आपत्तियों का डर दिखाकर अपने गुलामों को सदा अपने कब्ज़े मे रख सकता है।

इस ढङ्ग से तीसरी तरह की ग़ुलामी—पैसे की ग़ुलामी अस्तित्व में आती है। इसमें सबल मनुष्य निर्बल से कहता है—तुममें से प्रत्येक मनुष्य के साथ मैं चाहूँ जैसा व्यवहार कर सकता हूँ। मैं तुम्हें बन्दूक से मार सकता हूँ, अथवा तुम्हारी आजीविका देनेवाली तुम्हारी ज़मीन छीनकर तुम्हें नष्ट कर सकता हूँ, अथवा इसी रुपये से, जो तुम मुझे दोगे, मैं तुम्हारे खाने का सारा नाज खरीदकर और दूसरे लोगों के हाथ बेच-कर तुम्हें भूखों मार सकता हूँ; मैं तुम्हारे कपडे, गहने, तुम्हारा घर-बार—ग़र्ज़ेकि तुम्हारे पास जो-कुछ है वह सभी छीन सकता हूँ। पर ऐसा करना मुझे अच्छा नहीं लगता; इसलिए मैं तुम्हें इस बात की स्वतन्त्रता देता हूँ कि तुम जो चाहो सो काम करो; बस, तुम्हें इतना करना होगा कि मनुष्य-कर के रूप में, अथवा तुम्हारी ज़मीन के हिसाब से, या तुम्हारे खाने-पीने की चीज़ों अथवा वस्त्राभूषण या मकानों के लिहाज़ से मैं जितना रुपया माँगूँ, वह तुम मुझे दे दो। तुम यह रकम अदा कर दो और फिर आपस में चाहे जैसे रहो, जो चाहो सो करो; पर इस बात को समझ लो कि मैं न तो अनाथ-विधवाओं की रक्षा करूँगा, न बीमार और बूढे लोगों की, और न ऐसे लोगों की जिनका घर-बार आग से जल गया है। मैं तो सिर्फ़ इस बात का इन्तज़ाम करूँगा कि रुपये का लेन-देन ठीक तरह चलता रहे। जो लोग ठीक तौर से निश्चित रक़म मुझे देते रहेंगे, उनकी ही रक्षा करने की ज़िम्मेवारी मैं लेता हूँ। मुझे इस बात की पर्वा नहीं कि लोग इस रुपये को कहाँ से और किस प्रकार लाते हैं। अपनी माँग की स्वीकृति-स्वरूप अन्यायी बलवान मनुष्य अपने बनाये हुए सिक्के लोगों में बाँट देता है।

दूसरी पद्धति की अपेक्षा तीसरी पद्धति मे व्यवस्था रखने का काम कहीं अधिक जटिल है। दूसरी पद्धति मे तो नाज उगाहने का काम ठेके पर दिया जा सकता है, जैसे पुराने ज़माने में होता था, किन्तु लोगों के ऊपर कर लगाने से तो कर लगाने योग्य मनुष्यों की, और कोई मनुष्य अथवा कोई उद्योग कर लगने से बच न जाय, इस बात की बडी भारी

व्यवस्था रखनी पड़ती है और इसलिए इस पद्धति में अत्याचारियों की दूसरी पद्धति की अपेक्षा अधिक मनुष्यों को अपनी आय का भाग देना पड़ता है। इस पद्धति में स्थिति कुछ ऐसी होती है कि जिनके पास पैसा है, वे सभी लोग अन्यायी के भागीदार बन सकते हैं, फिर चाहे वे देशी हों अथवा विदेशी। पहली और दूसरी पद्धति की अपेक्षा अन्यायी को तीसरी पद्धति मे ये लाभ विशेष होते हैं—

दूसरी पद्धति में किसानों से फ़सल की पैदावार के अनुसार ही लगान आदि वसूल किया जा सकता है, क्योंकि यदि उनके पास अधिक नाज नही है तो उनसे अधिक प्राप्ति की कोई सूरत ही नहीं रहती। किन्तु इस नवीन द्रव्य-पद्धति मे तो जितना चाहो उतना वसूल कर लो और वह भी सरलतापूर्वक। क्योकि वेचारे किसान को ऋण चुकाने के लिए अपने पशु, वस्त्र और मकान तक बेचने पडते है। लोहे के पेच की तरह द्रव्य-कर को सरलतापूर्वक अन्तिम सीमा तक पहुँचाया जा सकता है और सुनहले अण्डे प्राप्त किये जा सकते हैं—बस इतना ही ख़याल रखना पडता है कि मुर्ग़ी बिलकुल मर न जाय।

दूसरा लाभ यह है कि इस पद्धति में जिनके पास ज़मीन नहीं होती है उनपर भी अन्यायी अपना हाथ फेर सकता है। पहले तो ये लोग अपनी मेहनत का थोड़ा-सा भाग अत्याचारी को देकर उसके अन्याय से छुटकारा पा जाते थे। अब तो अनाज के बदले मे मज़दूरी का जो भाग देते थे, उसे देने के बाद भी कर के रूप में मज़दूरी का और भी बहुत-सा हिस्सा देना पडता है।

दूसरी पद्धति की अपेक्षा इस तीसरी पद्धति में पीडित लोगों को लाभ इतना ही हैं कि इसमें कुछ अधिक स्वतन्त्रता रहती है। वे जहाँ चाहें रहें, जो चाहें करें, वे खेत बोये या न बोयें, किसी को उन्हें हिसाब देने की ज़रूरत नहीं—और यदि उनके पास द्रव्य है तो वे अपने को एकदम स्वतन्त्र भी समझ सकते हैं, और यदि उनके पास कुछ फ़ाज़िल रुपया हो तो वे केवल स्वतन्त्र ही नहीं, बल्कि खुद अत्याचारी का पद प्राप्त

करने की भी आशा कर सकते हैं, और थोडे समय के लिए वे उस स्थिति को पहुँच भी जाते हैं।

अन्याय-पीडित लोगों को इसमें हानि यह है कि औसतन उनकी हालत बहुत ख़राब हो जाती है। उनकी कमाई का अधिकांश भाग उन से ले लिया जाता है, क्योंकि उनकी मेहनत पर मज़े उड़ानेवाले लोगों की संख्या बढ़ जाती है और इसलिए उनके भरण-पोषण का भार बचे हुए थोडे लोगों पर पडता है।

ग़ुलाम बनाने की यह तीसरी पद्धति भी बहुत पुरानी है। पहली दोनों पद्धतियों को एकदम ही छोड़े बिना उनके साथ-साथ अमल मे आती रही हैं।

इन तीनों पद्धतियो की पेचदार कीलों से मिसाल दी जा सकती है, जो मज़दूरों को दबानेवाले तख़्ते में लगी हुई हो। बीच का पेंच जिसपर सबका दारोमदार है और जिसके बिना दूसरे पेंच बेकाम हैं, जो सबसे पहले कसा जाता है और कभी ढीला नहीं किया जाता है—अङ्ग-दासता का पेंच है, जिसमें मार डालने की धमकी देकर कुछ लोग दूसरे लोगों को अपना ग़ुलाम बनाते है। लोगों की जमीन तथा अनाज छीनकर उन्हें ग़ुलाम बनाना, यह दूसरा पेच है। पहले पेच के बाद यह दूसरा पेच कसा जाता है। इसमें भी मौत का डर दिखाकर ही ज़मीन और समाज पर कब्ज़ा क़ायम रखा जाता है। लोगों के पास जो रुपया नही होता है, उसे कर के रूप में लोगो से माँगकर ग़ुलाम बनना तीसरा चपे है, और इसमें भी जो रुपये की माँग होती है, उसके पीछे भी हत्या की धमकी तो रहती ही है।

ये तीनों पेंच कस दिये जाते हैं और ढीले उसी हालत में किये जाते हैं, जब इनमें से एक और भी अधिक ज़ोर के साथ कस दिया जाता है। श्रम-जीवियों को पूर्ण रूप से ग़ुलाम बनाने के लिए ये तीनों ही जरूरी हैं और हमारे समाज में इन तीनों का प्रयोग हो रहा है।

तलवार से मार डालने की धमकी देकर लोगों को ग़ुलाम बनाने

की पहली पद्धति नष्ट तो कभी हुई ही नहीं और जबतक अत्याचार का अस्तित्व रहेगा, नष्ट होगी भी नहीं। क्योंकि यह धमकी ही सभी प्रकार के अत्याचारों का आधार है।

हम लोग निश्चित रूप से समझते हैं कि हमारे सभ्य-संसार से गुलामी बिलकुल नष्ट हो गयी है और उसके अन्तिम अवशेष भी अमेरिका तथा रूस में भस्मीभूत हो गये। हम समझते हैं कि अब कुछ जंगली जातियों में ही यह प्रथा पायी जाती है, हमारे अन्दर तो अब उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। किंतु जब हम यह सोचते हैं, तो एक छोटी-सी बात भूल जाते हैं—उन लाखों सहस्र सैनिकों को हम भूल जाते हैं कि जो प्रत्येक राज्य में पाये जाते हैं और जिनके बिना कोई भी राज्य टिक नहीं सकता। ये लाखों सैनिक अपने शासकों के गुलाम नहीं तो और क्या हैं ? क्या ये लोग मृत्यु और यातना की धमकी के कारण, जो धमकी कभी-कभी अमल में आती है, अपने सेनानायकों की आज्ञा पालन करने के लिए मजबूर नहीं होते ? अन्तर केवल इतना ही है कि इन गुलामों की ताबेदारी को गुलामगीरी नहीं अनुशासन कहते हैं, और दूसरे गुलाम मरण-पर्यन्त गुलामी करते हैं, किन्तु ये सैनिक नौकरी की मियाद में ही गुलामी करते हैं।

गुलाम बनाने की ये तीनों पद्धतियाँ सदा प्रचलित रही हैं और आज भी मौजूद हैं, पर लोग या तो उनकी पर्वा ही नहीं करते या उनकी आवश्यकता और अनिवार्यता को सिद्ध करने के लिए नये-नये बहाने खोज निकालते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है जिसपर अन्य सभी बातों का आधार रहता है, जो पेच सबसे अधिक कसा होता है और जिसके अधीन समाज की सभी बातें रहती हैं, वही हमें दिखायी नहीं पड़ता।

प्राचीनकाल में जब समस्त समाज-तंत्र व्यक्तिगत दासता पर निर्भर था, तब बड़े-से-बड़े दिमाग़ों को भी यह बात न दीख पड़ी। प्लैटो, जेनोफ़न अरस्तू और रोमन लोग तो समझते थे कि इससे विपरीत तो कुछ हो ही नहीं

सकता। दासता तो युद्ध का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है और इसके बिना मानव-समाज के अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव है। इसी प्रकार मध्य-युग मे लोग भूमि-स्वामित्व के अर्थ को नहीं समझ पाये, जिसपर उनके समय के समस्त आर्थिक तंत्र की रचना थी।

ठीक इसी तरह आजकल हमारे ज़माने में कोई नही देखता और शायद कोई देखना भी नहीं चाहता कि इस समय के अधिकांश लोगो की दासता का कारण वह कर है, जिसे सरकार उन लोगो से वसूल करती है, जिन्हें उसने उन्हीं करों के द्वारा पालित-पोषित अपने माली तथा फ़ौजी विभागों-द्वारा अपना ग़ुलाम बना रखा है।

: २१ :

कोई आश्चर्य नहीं कि सदा से ग़ुलामी के पाश में जकड़े हुए ग़ुलाम खुद भी अपनी स्थिति को नहीं समझते और जिस अवस्था में सदा से रहते चले आये है, उसीको वे मानव-जीवन की स्वाभाविक स्थिति मानते है और जब उनकी दासता के स्वरूप में कुछ परिवर्तन होता है, तो वे उसी छोटे-मोटे सुधार को अपने सन्तोष का कारण मान बैठते हैं। इन ग़ुलामों के मालिक भी वास्तव में यह समझते हैं कि वे एक पेच को ढीला करके अपने ग़ुलामों को कुछ स्वतन्त्रता दे रहे हैं, हालाँकि दूसरे पेच के आवश्यकता से अधिक कस जाने के कारण ही वे ऐसा करने को बाध्य होते हैं।

ग़ुलाम और मालिक दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति के अभ्यस्त हो जाते हैं। ग़ुलाम तो यह जानते ही नहीं कि आज़ादी क्या चीज़ है? वे तो सिर्फ इतना ही चाहते हैं कि उनकी स्थिति में कुछ सुधार अथवा उनकी अवस्था में कुछ परिवर्तन हो जाय। अपने अन्याय-अत्याचार को छिपाने के लिए उत्सुक मालिक भी प्राचीन पद्धति के स्थान पर दासता के जिन नवीन रूपों की वे स्थापना करते हैं, उनका एक नया अर्थ लगाने की चेष्टा करते हैं।

किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि प्रगतिशील कहलानेवाला अर्थ-शास्त्र लोगों की आर्थिक स्थिति का विचार करते समय लोगों की साम्पत्तिक अवस्था के आधार-स्तम्भ को देखना कैसे भूल जाता है? शास्त्र का काम है मुख्य घटनाओं के सम्बन्ध और बहुत-सी घटनाओं के सामान्य

कारणों की खोज करना। किन्तु आधुनिक सम्पत्ति-शास्त्र के अधिकांश कर्णधार बिलकुल इससे उल्टा कार्य कर रहे हैं। घटनाओं के भीतरी रहस्यों और सम्बन्धों को वे कलेजे की तरह छिपाना चाहते है और बिलकुल सीधे-सादे महत्वपूर्ण सवालो को चालाकी और सफाई के साथ टाल देते है।

आधुनिक अर्थशास्त्र का यह व्यवहार उस अड़ियल टट्टू की भाँति है, जो उतार की जगह पर, जहाँ बोझा नहीं खींचना पडता सरलतापूर्वक चलता रहता है, किन्तु जहाँ बोझा खींचने का अवसर आया कि तुरन्त ही, जैसे दूसरी तरफ़ उसे कोई काम हो, वह दूसरे रास्ते की ओर मुड़ जाता है। अर्थशास्त्र के सामने जब कोई आवश्यक और गम्भीर प्रश्न आता है, तो वह उस प्रश्न से बिलकुल असम्बद्ध प्रश्नों की पाण्डित्यपूर्ण चर्चा करने लग जाता है। लोगों का ध्यान उन बातों की ओर से हटाना ही इसका एकमात्र कारण है। अधिकांश आदमी दूसरे व्यक्ति की आज्ञा के बिना न तो काम कर सकते हैं, और न भोजन ही कर सकते हैं। इस अस्वाभाविक, राक्षसी, कभी समझ में न आनेवाली और अनुपयुक्त ही नहीं बल्कि हानिकारक स्थिति का क्या कारण है? यदि आप अर्थशास्त्र से इसका उत्तर माँगेंगे तो वह गम्भीर मुद्रा बनाकर कहेगा—ऐसा होने का केवल यही कारण है कि कुछ आदमी दूसरे मनुष्यों की मेहनत और भरण-पोषण का प्रबन्ध और निरीक्षण करते हैं।

तुम पूछोगे—'यह कैसा स्वामित्व का अधिकार है, जो यह आज्ञा देता है कि एक श्रेणी के मनुष्य दूसरी श्रेणी के मनुष्यों की ज़मीन, ख़ुराक और मेहनत को छीन लें? तुम्हें गम्भीरतापूर्वक फिर उत्तर मिलेगा—' "इस अधिकार की रचना परिश्रम का संरक्षण के तत्व पर की गयी है।"—अर्थात् कुछ लोगों के परिश्रम का संरक्षण दूसरे लोगों के परिश्रम का अपहरण करके किया जाता है।

"वह रुपया क्या चीज़ है, जिसे सरकार स्थान-स्थान पर अपने अधिकारियों द्वारा ढलवाती है, और जो श्रमिको के पास से बहुत बड़ी संख्या

में वसूल किया जाता है तथा राष्ट्रीय ऋण के रूप में भी इसका भार मज़दूरों के बेचारे भावी वंशजों पर डाला जाता है ?" जब तुम ऐसा सवाल करोगे और साथ ही यह भी पूछोगे कि "यह रुपया लोगों के पास से जिस हद तक निकाला जा सकता है निकाला जाता है, तो क्या इतने भारी करों का परिणाम कर-दाताओं की आर्थिक दशा पर कुछ भी नहीं पड़ता ?" तो तुम्हें पूर्ण निश्चयात्मक रूप से उत्तर मिलेगा—"रुपया भी शक्कर और कपड़े की तरह एक प्रकार का व्यापारी पदार्थ है। अन्तर केवल इतना ही है कि शक्कर और कपडे से भी, विनिमय करने में, यह अधिक सुविधाजनक है। करों के कारण रिआया की माली हालत पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। धनोपार्जन, विनिमय तथा वितरण एक वस्तु है और कर बिलकुल ही दूसरी चीज़।"

तुम पूछोगे कि सरकार अपनी इच्छा के अनुसार भाव घटाती-बढ़ाती है और जिन-जिनके पास ज़मीन होती है, उन सबको कर-वृद्धि के द्वारा गुलाम बनाती है तो क्या इसका भी लोगों की आर्थिक अवस्था पर कुछ भी असर नहीं पड़ता ? अत्यन्त गम्भीर होकर अर्थशास्त्र जवाब देगा, "बिलकुल नहीं ! पैदावार, विनिमय और क्रय-विक्रय एक अलग विषय है; और कर लगाना तथा शासन-कार्य दूसरा विषय है, इसका अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं।"

अन्त में तुम पूछोगे—"सरकार ने सारे राष्ट्र को गुलामी में जकड दिया है, वह अपनी इच्छानुसार सब लोगों को पंगु बना सकती है, उन्हें सैनिक गुलामी में फँसाकर उनकी अधिकांश आमदनी को वह उनसे छीन लेती है। क्या इन सबका जनता की साम्पत्तिक अवस्था पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा ?" तो संक्षेप में इसका तुम्हें जवाब मिलेगा—"यह सारा सवाल ही दूसरा है; यह तो राजनीति का विषय है।"

कितने ही आदमी इस बात से यह समझेंगे कि शास्त्र मूर्खता के कारण ऐसा करता है। किन्तु शास्त्र के सिद्धान्तों का यदि विश्लेषण करें, तो हमें विश्वास हो जायगा कि यह मूर्खता नहीं प्रत्युत् बडी चतुरता है।

इस शास्त्र का एक निश्चित हेतु है और यह उनको बराबर निभाता रहता है। लोगों को सन्देह एवं भ्रम में रखना और मानव-जाति को सत्य अथवा कल्याण की ओर प्रगति करने से रोकना, यही इसका ध्येय है। एक वाहियात अन्ध-विश्वास बहुत दिनों से लोगों में चला आता है और वह अभी तक क़ायम है; और इस अन्ध-विश्वास ने भयङ्कर-से-भयङ्कर धार्मिक अन्ध-विश्वासों से भी बढ़कर हानि पहुँचायी है। इसी वहम को अर्थ-शास्त्र अपनी पूरी ताकत के साथ टिकायें हुए है।

यह वहम भी दूसरे धार्मिक अन्ध-विश्वासो जैसा ही है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य् के प्रति जो कर्तव्य है, उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य एक काल्पनिक व्यक्ति के प्रति है, इस बात का यह शास्त्र प्रतिपादन करता है। धर्म-शास्त्र में यह काल्पनिक व्यक्ति ईश्वर है और राजनीति-शास्त्र में यह व्यक्ति है राज्य।

लोक-कल्याण के लिए राज्य की अत्यन्त आवश्यकता है और उसे अपना फ़र्ज़ अदा करना पडता है—जनता को व्यवस्थित रखना होता है और शत्रुओं से उसकी रक्षा करनी पड़ती है। ऐसा करने के लिए राज्य को फौज तथा रुपये की आवश्यकता होती है। राज्य के नागरिकों को मिलकर इस रक़म को पूरा करना चाहिए। इसलिए मनुष्यों के सारे पारस्पिक सम्बन्धों का विचार राज्य के अस्तित्व को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए।

एक साधारण अपढ़ मनुष्य कहता है—"मुझे अपने पिता को खेती के काम में सहायता पहुँचानी है, मुझे शादी करनी है, मगर बजाय इसके, मुझे पकडकर छः वर्ष की सैनिक-शिक्षा के लिए कैम्प में भेज देते हैं, मैं सिपाहीगिरी छोडकर खेती तथा अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करना चाहता हूँ, किन्तु जबतक मैं रुपये न दूँ तबतक आस-पास सौ मील तक मुझे खेती करने की आज्ञा ही न मिले, और पैसा तो मेरे पास एक भी नहीं है। फिर मैं जिसको रुपये दूँगा, उसे खेती का बिलकुल ज्ञान नहीं है और वह इतने अधिक दाम माँगता है कि मुझे जमीन की ख़ातिर

अपनी अधिकाँश मेहनत उसको भेंट कर देनी पडती है। मैं कुछ कमाने की फ़िक्र करता हूँ और अपने व्यय के अतिरिक्त बचे हुए पैसे अपने बाल-बच्चों को दे देना चाहता हूँ; लेकिन गाँव का एक सिपाही आता है और जो कुछ मेरे पास बचा था, टैक्सों के नाम पर उठा ले जाता है। मैं फिर कमाता हूँ और वह फिर आकर छीन ले जाता है। मेरी सारी—तिल-तिलमात्र—आर्थिक दशा सरकारी माँग पर आश्रित है। मैं समझता हूँ, अब तो राज्य के बन्धनों से मुक्त होने पर ही मेरी और मेरे बन्धुओं की स्थिति सुधर सकती है।"

किन्तु शास्त्र कहता है; "तुम मूर्खता के कारण ऐसा सोचते हो। सम्पत्ति की उत्पत्ति, हेर-फेर और ख़रीद-फ़रोख़्त का अध्ययन करो और आर्थिक प्रश्नों को राज्य के मसलों में मत मिलाओ। तुम अपनी जिस परवशता की ओर संकेत करते हो, वह तुम्हारे लिए अंकुश-रूप नहीं है, वरन् यही वे कुर्बानियाँ है, जो अन्य लोगों के साथ तुम्हें अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए करनी चाहिए।"

इसपर उपर्युक्त भोला-भाला आदमी फिर कहता है—किन्तु इन लोगों ने तो मेरे लडके को भी मुझसे छीन लिया है और मेरे दूसरे लड़के को भी, जैसे-जैसे वह बडा होता जाता है, छीन ले जाने के लिए कर रहे हैं। वे ज़बरदस्ती उन्हें, मेरे पास से, छीन ले जाते हैं और शत्रुओं की गोलियों के सामने लडने के लिए दूसरे देश में भेज देते हैं। मैंने या मेरे लडकों ने इस देश का नाम तक नहीं सुना था। हमें यह भी नहीं मालूम हो पाता है कि यह युद्ध किस लिए हो रहा है। लेकिन जो ज़मीन हमें जोतने को नहीं दी जाती है तथा जिसके अभाव में हमें भूखों मरना पडता है, वह किसी ऐसे शख्स ने ज़बरदस्ती अपने क़ब्ज़े में कर रखी है कि जिसे हमने कभी नहीं देखा और न उसकी उपयोगिता ही हमारी समझ में आती है। जिन करों के कारण मेरे लड़के से सरकारी सिपाही मेरी गाय छीन ले गया है वह कर, मुझे पक्का विश्वास है, सरकारी अधिकारी और मन्त्रिमण्डल के अनेक सभासदों के पास जायेगा। इन्हें न तो मैं

पहचानता हूँ और न मुझे यह विश्वास है कि उनसे मुझे कुछ फायदा होगा। तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इन ज्यादतियों के द्वारा मेरी स्वतन्त्रता की रक्षा होगी और इन तमाम बुराइयों से मेरा भला होगा ?"

मनुष्य को गुलाम बना डालना सरल है। उससे वह काम करा लेना भी जिसे वह नापसन्द करे, सम्भव है। किन्तु जिस समय वह अत्याचारों को सहन कर रहा हो, उससे यह कबूल करा लेना असम्भव है कि ये बातें तो उसकी स्वतन्त्रता की द्योतक हैं। यह बिलकुल असम्भव है कि वह दुष्टता का अनुभव होने पर भी उसे कल्याणकारी वस्तु के नाम से पुकारे। इतना सब-कुछ होने पर भी वर्तमान समय का शास्त्र ऐसा मानने को विवश करता है।

सरकार—जुल्म पर आश्रित शस्त्रधारी सत्ता—लोगों पर अत्याचार करती है। वह पहले ही से यह निश्चय कर लेती है कि उन लोगों से वह क्या चाहती है। जिस प्रकार अंग्रेज़ों ने फ़िजी के लोगों के साथ किया, उसी प्रकार सरकार पहले से ही अन्दाज़ लगा लेती है कि मज़दूरों से काम लेने में उसे कितने सहायकों की आवश्यकता है। अपने इन मददगारों को वह सैनिकों, ज़मींदारों तथा कर वसूल करनेवाले लोगों में विभाजित कर देती है। गुलाम अपनी मज़दूरी देते हैं। वे यह भी मानते हैं कि मालिकों की खातिर नहीं, वरन् अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए उन्हें 'राज्य' नामक देवता की पूजा करने और उसके आगे रक्त का बलिदान करने की आवश्यकता है। उनको विश्वास है कि इस देवता को सन्तुष्ट कर लेने के बाद फिर उनकी छुट्टी है। इन भ्रान्तियों के फैलने का कारण सिर्फ़ यही है कि प्राचीन समय के सम्प्रदाय और पुरोहित धर्म के नाम पर ऐसी ही बातें करते थे और आज भी भिन्न-भिन्न विद्वान् और पंडितगण विज्ञान और शास्त्र के नाम पर यही बात कहते हैं। अपने को धर्माचार्य और पण्डित कहलानेवाले इन लोगों पर से अपनी अन्ध-श्रद्धा उठा लो तो इन बातों की निस्सारता अपने-आप प्रकट

हो जायगी। जो लोग दूसरों पर ज़ुल्म करते हैं, वे कहते हैं कि राज्य-व्यवस्था के लिए ऐसे ज़ुल्मों की आवश्यकता है, लोगों की शान्ति और कल्याण के लिए राज्य-व्यवस्था की ज़रूरत है। इसका अर्थ यह हुआ कि अत्याचारी लोगों की स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए ही अत्याचार करते हैं। किन्तु लोगों को बुद्धि इसलिए मिली है कि वह अपना नफ़ा-नुक़सान समझें और जिसे अच्छा समझें स्वेच्छापूर्वक उसपर आचरण करने की उन्हें स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

शास्त्र के अनुसार तो सिद्ध किया जा सकता है कि बहुत-कम लोग जानते हैं कि सार्वजनिक हित किस बात में छिपा हुआ है। दूसरे अधिकांश लोग इस सार्वजनिक हित को भले ही अहित समझें, फिर भी थोड़े से लोग दूसरे लोगों को वह काम करने के लिए विवश कर सकते हैं, जिसे सार्वजनिक हित कहते हैं।

सत्य और कल्याण की ओर जानेवाली मानव-जाति की प्रगति को रोकनेवाला वहम और धोखेबाज़ी इसी एक बात में छिपी हुई है। इस भ्रम और चालाकी को ज्यों-की-त्यों बनाये रखने के लिए राज्य से सम्बन्ध रखनेवाले सभी शास्त्र और ख़ासकर अर्थशास्त्र कमर कसे हुए हैं। लोगो की परतन्त्रता और ग़ुलाम अवस्था को उनसे छिपाये रखना ही उनका उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह तरह-तरह के साधन ढूँढता है। ज़ुल्म को, जो सम्पूर्ण ग़ुलामी का मूलस्रोत है; यह स्वाभाविक और अनिवार्य बताता है। इस प्रकार यह लोगों को भयंकर धोखा देता है और उनकी दुर्दशा के वास्तविकता कारणों की ओर से उन की आँखें बन्द कर लेता है।

ग़ुलामी को मिटे बहुत समय हो गया। यूरोप से यह उठा दी गयी। अमेरिका और रूस में भी यह नष्ट कर दी गयी। किन्तु केवल शब्दों में ही इसे नष्ट किया गया है—व्यवहार में यह ज्यों-की-त्यों मौजूद है।

ग़ुलामी क्या है? मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिस मेहनत की आवश्यकता है, वह स्वयं न करके दूसरों से जबरन

कराना ही गुलामी है। तमाम यूरोपियन देशों में ऐसे-ऐसे आदमी पड़े हुए हैं जो बलपूर्वक दूसरे हज़ारों मनुष्यों के परिश्रम का अपने लिए उपयोग करते हैं और ऐसा करना वे अपना अधिकार समझते हैं; ऐसे लोग भी यूरोप में पड़े हुए हैं कि जो जुल्म के शिकार होते हैं और जो ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसका अर्थ यह है कि यूरोप में गुलामी अपने भयंकर रूप में विराजमान है।

गुलामी मौजूद तो है ही। लेकिन यह है कहाँ और किसमें? यह गुलामी वहीं है, जहाँ वह सदा से रहती चली आयी है। यह ज़बरदस्त और हथियारबन्द मनुष्यों के द्वारा निर्बल और निरस्त्र मनुष्यों पर होने-वाले जुल्मों में छिपी रहती है।

जहाँ अत्याचारों को कानून-कायदे के नाम से पुकारा जाता है, वहीं दासता मौजूद मिलेगी। इन जुल्मों का रूप भिन्न हो सकता है। या तो राजा स्त्रियों तथा नन्हें बच्चों की हत्या करते अथवा गाँवों को उजाड़ते हुए सेना-सहित चढ़ाई करे, या गुलामों के मालिक ज़मीन के लिए गुलामों के पास से मेहनत अथवा मूल्य लें और कुछ बाकी रह जाय उसकी वसूली के लिए शस्त्रधारी सैनिकों की सहायता लें, या कुछ निश्चित व्यक्ति गाँव-गाँव फिरकर वसूल करें, या मन्त्रि-मण्डल प्रान्त और जिलाधिकारियों द्वारा लगान लेवें और देने में आनाकानी करे तो सैनिक टुकड़ियाँ भेज दें—इनमें से किसी भी तरह लोगों पर अत्याचार किये जायँ, सभी गुलामी के रूप हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जबतक तोप और तलवार के बल पर अत्याचार का अस्तित्व है तब-तक सम्पत्ति लोगों के हाथ में नहीं आ सकती, वह तो स्वेच्छाचारियों के हाथ में अवश्य चली जायगी।

यदि किसी बर्तन में से पानी टपकता हो, तो उसमें छेद का होना अनिवार्य है। जब हम बर्तन का पेंदा देखेंगे तो हमें बहुत से सूराखों में से पानी टपकता हुआ दिखाई देगा। इन काल्पनिक सूराखों को बन्द करने का हम चाहे जितना प्रयत्न करें फिर भी पानी टपकता ही रहेगा।

पानी टपकना बन्द करने के लिए तो जिस स्थान से पानी जाता हो; उसे ढूँढ निकालने और मिल जाने पर अन्दर से उस सूराख को बन्द करने की ज़रूरत है। लोगों की सम्पत्ति का अनियमितरूप से जो वितरण हो रहा है, उसका अन्त करने का भी यही तरीका है—उन सूराखों को बन्द कर दिया जाये, जिनमें से होकर वह बह निकलती है।

यह कहा जाता है कि मज़दूर-मण्डल का निर्माण करो, तमाम धन को सार्वजनिक सम्पत्ति बनाओ और सारी ज़मीन को भी सार्वजनिक सम्पत्ति बना डालो। ये सब बातें जिन सूराखों में से पानी टपकता हुआ-सा हमें दिखाई पड़ता है, उनको बाहर की ओर से बन्द करने के समान हैं। यदि हमें मज़दूरों की सम्पत्ति को दूसरों के हाथों में जाने देने से रोकना मंजूर है, तो हमें अन्दर से उस सूराख़ को ढूँढ निकालने की ज़रूरत है कि जहाँ से वास्तव में पानी टपकता है। और यह सूराख़ है—सशस्त्र मनुष्य का निरस्त्र पर अत्याचार करना; मेहनत करनेवाले को सैनिक सत्ता के द्वारा उसकी मेहनत के लाभ से वंचित कर देना और उसकी ज़मीन छीन लेना तथा पैदावार लूट लेना। 'दूसरों को मार डालने का मुझे अधिकार है'—ऐसा कहनेवाला जबतक एक भी हथियारबन्द आदमी इस संसार में रहेगा, फिर चाहे वह कोई हो, जबतक गुलामी और सम्पत्ति का अनियमित वितरण बराबर बना रहेगा।

धन परिश्रम का प्रतिनिधि है। हाँ, धन परिश्रम का प्रतिनिधि है। किन्तु किसी की मेहनत का? हमारे समाज में तो इस बात का एक भी उदाहरण मिलना दुर्लभ है कि रुपया उसके मालिक के परिश्रम का फल है। अधिकांश में तो यह सब जगह दूसरे आदमियों की मेहनत का परिणाम होता है—मनुष्यों की भूतकाल और भविष्य की मेहनत का फल होता है। दूसरे लोगों से जबर्दस्ती काम कराने की जो पद्धति चल रही है, यह उसीका प्रतिनिधि है।

सम्पत्ति की यदि बिलकुल ठीक और सीधी-साधी व्याख्या करें तो कह सकते हैं कि यह एक सांकेतिक शब्द है, जो दूसरे लोगों की मेहनत

को अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने का हक़—और अधिक सच्चाई के साथ कहा जाय तो, शक्ति देता है। आदर्श अर्थ में तो यह अधिकार अथवा शक्ति उसे हो मिलनी चाहिए कि जिसे धन परिश्रम के फल-स्वरूप मिला हो।

जब समाज में ज़ोर-ज़बरदस्ती का अस्तित्व होता है, तब धन एक नये प्रकार की अव्यक्त गुलामी का कारण बन जाता है। प्राचीन दासता का स्थान यह परिवर्द्धित नयी गुलामी ले लेती है। एक गुलामों का मालिक यह समझता है कि पीटर, आइवन और सिडोर की मेहनत पर मेरा अधिकार है। लेकिन जहाँ प्रत्येक मनुष्य के पास से पैसे की माँग की जाती है, वहाँ जिस आदमी के पास धन होता है वह उन सब आदमियों की मेहनत अपने हस्तगत कर लेता है, जिन्हे रुपये की ज़रूरत होती है। 'मालिक को अपने गुलामो पर पूर्ण अधिकार है'—दासता के इस महान् निर्दय और दुःख-स्वरूप को यह रुपया छिपा देता है। साथ ही रुपये की इस नयी व्यवस्था में मालिक और गुलामों के बीच रहनेवाले वे माननीय सम्बन्ध, जिनके कारण व्यक्तिगत गुलामी की कठोरता कितने ही अंशों में कम हो जाती है, कही नाम को भी नहीं रह जाते हैं।

मैं इस समय यह बहस नहीं करता कि यह स्थिति मनुष्य की जाति के विकास के लिए प्रगति के लिए, अथवा कदाचित ऐसी ही किसी वस्तु के लिए आवश्यक है कि नहीं। मैंने केवल अपने मन में धन का अर्थ स्पष्ट करने और धन को जो मैं 'परिश्रम का फल' समझता था मेरी उस भूल को सुधारने के लिए इतना विश्लेषण किया है। अब अनुभव ने मेरा समाधान कर दिया कि धन परिश्रम का प्रतिनिधि नहीं है, प्रत्युत अधिकाश में अत्याचार अथवा जुल्म पर अवस्थित हानिकारक योजनाओं का प्रतिनिधि है।

'धन परिश्रम का प्रतिनिधि है'—धन का ऐसा वान्छनीय स्वरूप अब इस ज़माने में नहीं रह गया है। कहीं-कहीं अपवादरूप में ही धन परिश्रम के फल-स्वरूप दिखायी देता है। साधारणतः धन दूसरों के श्रम का उपभोग करने का साधन बन गया है।

धन और स्पर्द्धा के बढ़ते हुए प्रचार के कारण, धन का यह अर्थ अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है। धन का मतलब दूसरे के परिश्रम का लाभ छीन लेने का अधिकार अथवा शक्ति है।

धन एक नये प्रकार की गुलामी है। प्राचीन और इस नवीन गुलामी में भेद सिर्फ इतना ही है कि यह अव्यक्त दासता है—इसे गुलामी में गुलाम के साथ के सब मानवी-सम्बन्ध छूट जाते हैं।

रुपया रुपया है। उसका मूल्य उसके ही समान है जो हमेशा एक समान और कानून से निर्धारित होता है। और फिर गुलामी जिस प्रकार अनैतिक गिनी जाती है, उसी प्रकार धन का उपयोग अमानुषिक भी नहीं गिना जाता।

धन और गुलामी एक ही वस्तु है—इसके उद्देश्य एक हैं और इस के परिणाम भी एक से हैं। मज़दूरी पेशा लोगों की श्रेणी के एक समर्थ लेखक ने वास्तव में बहुत ही ठीक कहा है कि धन का उद्देश्य मनुष्यों को मूल नियमों से मुक्त कर देना है। यह मूल नियम जीवन का नैसर्गिक नियम है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक आदमी को शारीरिक परिश्रम करना चाहिए। धन का भी मालिकों पर वही प्रभाव पड़ा है, जो गुलामगीरी में पड़ता था—नयी और असंख्य नयी आवश्यकतायें, कभी तृप्त न होनेवाली अनगिनत नयी ज़रूरतें, रोज़ ढूंढ निकाली जाती हैं और इनका पोषण किया जाता है। बीभत्स लम्पटता, विषय-भोग और शक्तिहीनता की वृद्धि होती है। गुलामों पर इसका यह असर होता है कि उनकी मनुष्यता कुचल दी जाती है और उन्हें पशु बना डाला जाता है।

रुपया गुलामी का नया और भयङ्कर स्वरूप है और पुरानी व्यक्तिगत दासता की भाँति यह गुलाम और मालिक दोनों को पतित और भ्रष्ट बना देता है। इतना ही क्यों, यह उससे अधिक बुरा है, क्योंकि गुलामी में दास और स्वामी के बीच मानव-सम्बन्ध की स्निग्धता रहती है; वह उसे भी एकदम ही नष्ट कर देता है।

: २२ :

"सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह सब ठीक है, लेकिन व्यवहार में क्या होगा ?' लोगों के मुहँ से इन शब्दों को सुनकर मुझे सदा आश्चर्य होता है। जैसे कि सिद्धान्त तो बातें करने के लिए सुन्दर शब्द-मात्र हैं, वह कार्य में परिणत करने की चीज़ ही नहीं है। हमारे जीवन के सारे कार्य अनिवार्यतः सिद्धान्तों पर जैसे निर्भर ही न हों! जो ऐसा ही विचित्र ख़याल प्रचलित होता है तब तो दुनिया में ढेर-के-ढेर मूर्खतापूर्ण सिद्धांतों की रचना हुई होती। हम जानते हैं कि सिद्धान्त उस नतीजे को कहते है कि जो किसी विषय पर विचार करके मनुष्य निकालता है। और व्यवहार वह है, जिसे मनुष्य कार्य-रूप में परिणत करता है। तब फिर कोई मनुष्य सोचे तो कि अमुक कार्य अमुक रीति पर करना चाहिए, पर करे उससे उलटा—यह कैसे हो सकता है? यदि रोटी बनाने का सिद्धान्त यह हो कि पहले आटा गूँधा जाय और फिर ख़मीर उठाने के लिए उसे रख छोड़ा जाय, तो कोई बेवक़ूफ़ ही होगा, जो इसके विपरीत आचरण करेगा। पर हम लोगों में तो ऐसा कहने का रिवाज-सा होगया है कि सिद्धान्त तो यह ठीक है, पर व्यवहार में यह कैसा रहेगा ?

मेरा अनुभव है कि सिद्धान्त से ही व्यवहार फलित होता है। वह इसलिए नहीं कि मैं अपने सिद्धान्त को ठीक सिद्ध करना चाहता हूँ, बल्कि इसलिए कि उसके प्रतिकूल व्यवहार मुझ से हो ही नहीं सकता। मैंने जिस विषय पर विचार किया है, उसे मैं यदि अच्छी तरह समझ गया हूँ, तो फिर मैं जिस तरह उसे समझा हूँ, उससे प्रतिकूल मैं व्यवहार कर ही कैसे सकता हूँ ?

मेरे पास धन था। यह धन परिश्रम का पुरस्कार है, अथवा सामान्यतः अच्छी चीज़ है और इसका मालिक होना क़ानूनन जायज़ है—इस सर्व-साधारण मे फैले हुए वहम का मैं भी क़ायल था। इस धन से मैंने ग़रीबों की मदद करने का विचार किया। परन्तु ज्यों ही मैंने धन देना शुरू किया, त्यों ही मुझे मालूम हुआ कि यह तो ग़रीबों के ऊपर लिखी हुई हुंडियाँ मैंने इकट्ठी कर रक्खी थीं और वही मैं उन्हें दे रहा हूँ। मैंने देखा कि मेरा यह काम वैसा ही है, जैसा कि पुराने ज़माने में ज़मीदार लोग अपने कुछ ग़ुलामों को दूसरे ग़ुलामो के लिए काम करने को मजबूर करते थे। मैंने देखा कि धन का कैसा भी उपयोग करो, चाहे उससे कोई चीज़ खरीदो, अथवा उसे मुफ्त में ही किसी को दे दो, इसका अर्थ यही होता है कि तुम ग़रीबों के नाम हुंडी लिखकर भेजते हो अथवा दूसरों को देते हो, जिससे वे ग़रीबों के पास जाकर हुडी सिकरवा लें। इसलिए मैं स्पष्ट रूप से समझ गया कि ग़रीबों से धन छीनकर उससे उनकी मदद करना बिलकुल बेवक़ूफ़ी है।

मैं यह समझ गया कि रुपया अच्छी चीज़ नहीं है; इतना ही नहीं, वह स्पष्टतः अनिष्टकर है, क्योंकि वह ग़रीबों को उनकी मेहनत से वञ्चित कर देता है और इस मेहनत के फल में ही उनका मुख्य हित है, और यह मैं किसी को दे नहीं सकता, क्योंकि मैं स्वयं उससे वञ्चित हूँ। मैं न तो स्वयं मेहनत करता हूँ और न अपनी मेहनत का मज़ा चखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है।

शायद कोई पूछे—रुपये की इतनी सूक्ष्म तात्त्विक विवेचना करने में ऐसा कौन-सा बड़ा भारी लाभ है? किन्तु रुपये का यह विचार केवल विचार के लिए नहीं है, बल्कि उस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर पाने के लिए है कि जिसने मुझे इतना परेशान कर रक्खा है और जिसपर मेरा जीवन अवलम्बित है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरा कर्तव्य क्या है?

जिस समय मुझे मालूम हो गया कि धन क्या है, रुपया क्या है, उसी समय यह स्पष्ट हो गया कि मुझे क्या करना चाहिए और दूसरे सब

लोगों को भी क्या करना चाहिए और अन्त मे सबको जो अनिवार्य रूप से करना ही पडेगा, वह भी मुझे स्पष्ट हो गया, और कोई सन्देह न रहा। सच तो यह है कि जो बात मैं बहुत दिनों से जानता था, उससे कोई नयी बात मुझे नहीं सूझी। सत्य का यह उपदेश तो बहुत पहले से मानव-जाति को दिया जाता रहा है। बहुत ही प्राचीन काल मे भगवान बुद्ध तथा इसैया, लाओत्से तथा सुकरात ने इस सचाई की घोषणा मानव-जाति के सामने की थी, और उसके बाद यूरोप में ईसामसीह तथा उनके पूर्व-गामी जान बैप्टिस्ट ने तो अत्यन्त स्पष्ट और सन्देहरहित भाष में उसी सत्य का उपदेश दिया।

लोगों ने जब जॉन से पूछा कि 'अब हम क्या करें?' तो उसने सूक्ष्म और स्पष्टरूप से उत्तर दिया था—'जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उस आदमी को दे दे, जिसके पास एक भी न हो, और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करें।' (ल्यूक अ० ३; पद १०-११)।

यही बात और अधिक स्पष्टता के साथ धनिकों को शाप तथा ग़रीबों को आशीर्वाद देते हुए ईसामसीह ने कही है। उन्होंने कहा कि हम ब्रह्म और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते। उन्होंने अपने शिष्यो को केवल धन लेने ही के लिए मना नही किया था, परन्तु अपने पास दो कोट न रखने का भी आदेश दिया था। धनी नवयुवक से उन्होंने कहा था कि धनिक होने के कारण तुम ईश्वर के दरबार में नहीं जा सकते। यह भी कहा कि सुई के नकुए में से ऊँट का निकल जाना तो सम्भव है, पर अमीर आदमी का स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।

उन्होंने कहा कि मेरा अनुकरण करने के लिए जो अपना घर-बार, बाल-बच्चे, खेती-बारी तथा अपना सर्वस्व त्यागने के लिए तैयार नहीं है, वह मेरा शिष्य नहीं हो सकता। उन्होंने एक धनिक की कहानी सुनायी। उसने आजकल के धनी लोगों की तरह कोई बुरा काम तो किया नहीं था, केवल खूब आनन्द से खाता-पीता और अच्छे कपडे पहनता था। वह इसीसे आत्मा को खो बैठा। लज़ारस नाम का एक भिखारी भी था,

जिसने कोई विशेष अच्छा काम न किया, अपनी ग़रीबी और भिक्षुक-जीवन के कारण ही उसका उद्धार हो गया।

मैं इस सत्य को बहुत पहले ही से जानता था, किन्तु दुनिया की झूठी शिक्षा ने उसे ऐसी चालाकी से ढक लिया था कि वह केवल एक सिद्धांत भर रह गया था—अर्थात् वह शुद्ध कल्पना-मात्र था, क्योंकि लोग प्रायः सिद्धान्त शब्द का ही अर्थ करते हैं। किन्तु ज्योंही दुनिया की झूठी शिक्षा का परदा मेरे मन से उठा त्योंही सिद्धान्त और व्यवहार मुझे एक दिखायी देने लगे।

मैंने समझा कि मनुष्य को अपने कल्याण के साथ ही दूसरे मनुष्यो का भी कल्याण अवश्य करना चाहिए। जीवन-संघर्ष के नियमों की भित्ति पर हिंसा और कलह का समर्थन करने के लिए कई लोगों को पशु-जीवन से खोजकर उदाहरण देने का शौक़ होता है, तो हमें मधु-मक्खी-जैसे सामाजिक जीवों की ज़िन्दगी का दृष्टान्त देना चाहिए। अपने पड़ोसी से प्रेम करने और उसकी सेवा करने का तो मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है ही, यदि यह न भी सोचें तो भी बुद्धि और मनुष्य-स्वभाव का यह तक़ाज़ा है कि मनुष्य अपने भाइयों की सेवा करे और मानव-जाति के सामुदायिक हित के लिए उद्योग करे।

मैंने समझा कि मनुष्य के लिए यही स्वाभाविक नियम है, जिसका पालन करके ही वह अपने मनुष्य-जन्म को सफल बनाकर सुखी हो सकता है। मैंने यह भी समझा कि लुटेरी मधु-मक्खियों की तरह कुछ लोग अपने बल का दुरुपयोग करके मेहनत-मज़दूरी के कामों से बच निकलते हैं और दूसरों की मेहनत से लाभ उठाते हैं, तथा दूसरों के परिश्रम का उपयोग वह सार्वजनिक हित के लिए न करके अपनी दिनों-दिन बढ़ती हुई वासनाओं की तृप्ति के लिए ही उसका उपयोग करते हैं। ऐसे लोग उस प्राकृतिक नियम को तोड़ते हैं और परिणाम-स्वरूप लुटेरी मधु-मक्खियों ही की तरह वे नष्ट हो जाते हैं।

मैंने समझा कि ग़ुलामी मनुष्यो के दुःखों का कारण है, और मैं

यह भी समझ गया कि इस समय हमारे जमाने में जो गुलामी प्रचलित है, उसके आधारभूत ये तीन कारण हैं—सैनिक हिंसा, भूमि-स्वामित्व और विभिन्न करों के रूप में रुपया वसूल करना। आधुनिक काल की दासता के इन तीनों कारणों के अर्थ को समझने के बाद उनसे छुटकारा पाने की इच्छा और चेष्टा किये बिना मुझसे रहा ही नहीं गया।

सर्फ़-पद्धति के ज़माने में मैं भी ज़मींदार था, और मेरे अधीन भी बहुत से दास थे। जब मुझे मालूम हुआ कि यह स्थिति पापमय है, तो अन्य समान विचारवाले लोगों के साथ मैंने इसमें से निकलने का यत्न किया। इस पाप-पङ्क से मैंने अपने को इस प्रकार छुड़ाया। मैं यह समझता था कि यह स्थिति पापमय है, इसलिए जबतक मैं उससे पूर्ण-रूप से मुक्त न हो जाऊँ तबतक मैंने अपनी ज़मींदारी अधिकारों का जहाँतक बन सके, कम-से-कम उपयोग करने का निश्चय किया। जैसे मेरे कोई अधिकार हैं ही नहीं, इसी प्रकार मैं रहने लगा।

वर्तमान दासता के सम्बन्ध में भी मुझे ऐसा ही कहना है। अर्थात जबतक मैं पैसे और ज़मीन के कारण प्राप्त पापिष्ट अधिकारों से अपने को एकदम मुक्त नहीं कर लेता, तबतक मुझे जहाँतक हो इन अधिकारों का कम-से-कम उपयोग करना चाहिए और साथ-ही-साथ दूसरे लोगों को इन कल्पित अधिकारों की अनीतिमत्ता और अमानुषिकता के विषय में समझाना चाहिए।

गुलामों का जो मालिक दूसरे लोगों की मेहनत का उपभोग करता है, वही दासता-रूपी पाप का भागीदार है, फिर वह दासता मनुष्य के शरीर पर अधिकार द्वारा हो, या ज़मीन पर कब्जे के द्वारा हो अथवा विभिन्न करों के रूप में रुपया-वसूली द्वारा हो। अतएव मनुष्य यदि वस्तुतः गुलामी को नापसन्द करता और उसमें भाग लेना नहीं चाहता है, तो उसे सबसे पहला काम जो करना चाहिए, वह यह है कि उसे दूसरे मनुष्यो की मेहनत का उपभोग नहीं करना चाहिए—न तो सरकारी

नौकरी-द्वारा, न भूमि पर क़ब्ज़ा करके और न रुपये के बल से। सरकारी नौकरी, भूमि-स्वामित्व और रुपया इन तीनों से मनुष्य को बचना चाहिए; यही गुलामी के कारण हैं।

दूसरे मनुष्य के परिश्रम के फल का उपभोग करने के किसी भी साधन का इस्तैमाल न करने का यदि कोई मनुष्य निश्चय करे, तो उसे अवश्य ही एक ओर तो अपनी आवश्यताओं को कम करना पड़ेगा, और दूसरी ओर अभी तक आपका जो काम दूसरों से करना था, वह खुद हाथ से करना पड़ेगा।

यह सीधी-सादी बात मेरे दिल मे बैठ गयी और उसने मेरे जीवन को एकदम ही बदल दिया। मनुष्यों के दुःखों को देखकर जो हार्दिक वेदना मुझे होती थी उससे अब मैं मुक्त हो गया। ग़रीबों की मदद करने की मेरी योजना की असफलता के जो तीन कारण थे, उन्हे मैं अब स्पष्ट-रूप से समझ गया। उसका पहला कारण यह था कि लोग शहरों मे जाकर एकत्रित हो जाते हैं और गाँव का धन भी खींचकर वहीं चला जाता है। बस, ज़रूरत इस बात की है कि सरकारी नौकरी करके, अथवा भूमि-स्वामित्व-द्वारा या रुपये के ज़रिये दूसरे लोगों की मज़दूरी का लाभ उठाने की प्रवृत्ति दूर कर दी जाये और अपनी आवश्यकताओ को भरसक अपने ही हाथों पूरा करने का यत्न किया जाये। तब फिर गाँव छोड़कर शहर में रहने का किसी को ख़याल भी न आवेगा। गाँव मे रहकर अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को स्वयं अपने ही हाथो जुटाना शहर की अपेक्षा बहुत सरल है, क्योंकि वहाँ नगर में सभी चीज़ें दूसरों के परिश्रम-द्वारा उपार्जित की हुई हैं और बाहर से लायी गयी है। गाँव में जरूरतमन्द की सहायता आसानी से की जा सकती है और वहाँ रहकर मनुष्य यह कभी अनुभव न करेगा कि मैं बिलकुल व्यर्थ और नाचीज़ हूँ, जैसा कि मुझे उस समय अनुभव हुआ था कि जब मैं अपने नगर के दरिद्र लोगों को अपने रुपये से नहीं बल्कि दूसरों के परिश्रम के फल से सहायता करने की सोचता था।

दूसरा कारण अमीरों और ग़रीबों के बीच का भेद-भाव था। मनुष्य सरकारी नौकरी करके अथवा भूमि और रुपये के मालिक बनकर दूसरों के परिश्रम का उपभोग करने की इच्छा न करे, तो उसे मजबूर होकर अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति खुद अपने हाथों करनी पड़ेगी; और तब स्वभावतः बिना किसी प्रकार का उद्योग किये ही, उसके और ग़रीब आदमियों के बीच की दीवार टूट जायगी। वह कन्धे से कन्धा मिला कर उनके साथ खड़ा होगा और उनको सहायता पहुँचाने में भी समर्थ बनेगा।

तीसरा कारण मेरी शर्म थी। जिस पैसे द्वारा मैं ग़रीबों की मदद करना चाहता था, उस धन का मालिक होना पाप है, यह ज्ञान ही मेरी उस शर्म का कारण था। मनुष्य सरकारी नौकर द्वारा अथवा भूमि और धन के स्वामित्व द्वारा दूसरों के परिश्रम के फलों का उपयोग करना छोड़ दे तो उसके पास यह 'मुफ्त का पैसा' कभी रहे ही नहीं। यह देखकर ही तो लोग मुझसे सहायता माँगने आते थे, और उसे पूरा न कर सकने के कारण मेरे मन में ग्लानि उठती थी और अपने अन्याययुक्त जीवन के प्रति विद्रोह की भावना पैदा होती थी।

: २३ :

मैंने देखा कि मनुष्यों के दुःख और पतन का कारण यही है कि कुछ लोग दूसरे लोगों को ग़ुलाम बनाकर रखते हैं। अतएव मैं इस सीधे निर्णय पर पहुँचा कि यदि मुझे दूसरों की मदद करनी है तो जिन दुःखों को मैं दूर करना चाहता हूँ, सबसे पहले मुझे उन दुःखों की उत्पत्ति का कारण न बनना चाहिए—अर्थात्, दूसरे मनुष्यों को ग़ुलाम बनाने में मुझे भाग न लेना चाहिए।

परन्तु मनुष्यों को ग़ुलाम बनाने की मुझे जो ज़रूरत मालूम पड़ती है, वह इसीलिए कि बचपन से ही स्वयं अपने हाथ से काम न करने की तथा दूसरों की मेहनत पर जीवित रहने की मुझे आदत पड़ गयी है। मैं ऐसे समाज में रहता हूँ कि जहाँ लोग दूसरों से अपनी ग़ुलामी कराने के आदी ही नहीं हैं, बल्कि अनेक प्रकार के चतुरतापूर्ण अथवा दम्भ-युक्त वाक्छल से ग़ुलामी को न्यायानुकूल भी सिद्ध करते हैं।

मैं तो इस सीधे-सादे परिणाम पर पहुँचा कि लोगों को दुःख और पाप में न डालना हो तो दूसरों की मज़दूरी का भरसक कम-से-कम प्रयोग करना चाहिए और स्वयं अपने ही हाथों यथासम्भव अधिक से अधिक काम करना चाहिए। इस प्रकार देर तक घूम फिरकर मैं उसी निर्णय पर पहुँचा, जिस तरह चीन के एक महात्मा ने पाँच हजार बरस पहले इस तरह बताया था—'यदि संसार में कोई एक आलसी मनुष्य है, तो अवश्य ही दूसरा कोई भूखा मरता होगा।' जिस दुर्बल घोड़े पर मैं बैठा हूँ,

उसपर यदि मुझे दया आती हो और मैं सचमुच उसके कष्ट दूर करना चाहता हूँ तो सबसे पहला काम मुझे यह करना चाहिए कि मैं घोड़े पर से उतर पड़ूँ और पैदल चलूँ।

अपने समाज के दु.खों को दूर करने के लिए हम चारों ओर देखते हैं—सरकारी, सरकार-विरोधी, वैज्ञानिक तथा परोपकारी प्रवृत्तियों तथा समस्याओं द्वारा इसे दूर करने की चेष्टा करते हैं; किन्तु हम उसी उपाय को नहीं देखते, जो सबकी आँखों के सामने है। हम अपनी टट्टियों को गन्दगी से भरकर दूसरे आदमियों से साफ़ कराते हैं और यह दिखाना चाहते हैं कि हमें इन काम करनेवालों के लिए दुःख है और हम उनका दुःख दूर करना चाहते हैं। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए हम तरह-तरह के उपाय ढूँढते हैं; किन्तु जो सबसे सरल-स्पष्ट मार्ग है, बस उसीकी ओर नहीं देखते। हम न अपने हाथों से गन्दगी दूर करते हैं और न जंगल में शौच जाते हैं।

बिलकुल सरल और स्पष्ट है; किन्तु यह सरल और स्पष्ट उसी हालत में है कि जब हमारी आवश्यकतायें भी वैसी ही सरल और स्पष्ट हों और जब हम स्वयं स्वस्थ हों और सुस्ती तथा काहिली से एकदम ही खोखले न होगये हों।

मैं गाँव मे रहता और अँगीठी के पास पड़ा रहता हूँ और अपने पड़ोसी को, जो मेरा कर्जदार है, आज्ञा देता हूँ कि लकड़ी काटकर लाओ और मेरी अँगीठी को गरमाओ। यह स्पष्ट है कि मैं सुस्त हूँ और अपने पड़ोसी को उसके अपने काम से हटाता हूँ। मुझे इसके लिए शर्म आनी चाहिए, जब मेरे रग-पट्ठे मजबूत हैं और मैं काम करने का अभ्यस्त हूँ, तो इस तरह बिना काम पड़े-पड़े मेरी तबीयत भी उकता जानी चाहिए और स्वयं उठकर मुझे लकड़ियाँ काटते जाना चाहिए।

विलासिता तथा आलस्य के लिए तथा उनके द्वारा होने वाले प्रलोभनों के बचाव के लिए मनुष्यों ने तरह-तरह की बातें ढूँढ निकाली हैं। आलसी शिरोमणि के लिए अपना पाप समझना उसी तरह कठिन है, जैसे अपनी

अँगीठी जलाने तक के लिए दूसरे पर निर्भर रहनेवाला किसान अपने दोप को नहीं समझ सकता।

जो लोग चोटी पर हैं उनके लिए यह समझना भी वडा कठिन होता है कि वास्तव में उनका कर्तव्य क्या है? लोग जब असत्य के ढेर की चोटी से, जहाँ वे खडे हैं, उस धरातल की ओर देखते हैं कि जहाँ फिर से साधारण मनुष्य जीवन प्रारम्भ करने के लिए उन्हें उतरकर जाना है, तो उनका दिमाग़ चकरा जाता है और यही कारण है कि यह सीधा और स्पष्ट सत्य लोगों को इतना विचित्र मालूम होता है।

जिस आदमी के पास वर्दी-धारी दस नौकर हैं, कोचमैन और रसोइये हैं, तस्वीरें और 'पियानो' हैं, उसे तो सचमुच ही यह बात वडी अजीव और हास्यास्पद मालूम होगी कि मनुष्य का—मैं नहीं कहता कि अच्छे आदमी का, बल्कि प्रत्येक ऐसे मनुष्य का कि जो बिलकुल ही पशु ही नहीं है। यह प्रथम धर्म है कि वह यह खाना पकाने के लिए अपनी लकडी स्वयं काटकर लाये, अपने जूते स्वयं साफ़ करे, जिन्हें उसने लापर्वाही से कीचड में घुसकर मैला कर दिया है; अपने नहाने के लिए अपना पानी खुद भर लाये और नहाकर जिस पानी को मैला कर दिया, उसे वह खुद उठा कर फेंक आये।

आज सवेरे मैं अपने मकान में वहाँ गया, जहाँ से अङ्गीठियाँ जलायी जाती हैं। एक किसान उस अङ्गीठी को सुलगा रहा था, जिससे मेरे लडके का कमरा गरम रहता है। मैं उसके शयनागार में घुसा। वह अभी पडा सो रहा था और सुवह के ग्यारह बज चुके थे। बहाना यह था—'आज छुट्टी है, पढ़ाई न होगी'। १८ वर्ष का तन्दुरुस्त मज़बूत छोकरा जिसने पिछली रात को आवश्यकता से अधिक खाया है, ११ बजे तक पड़ा सो रहा है और उसकी ही उम्र का एक किसान सवेरे-सवेरे बहुत-सा काम करके अब दसवीं अङ्गीठी सुलगा रहा था! मैंने सोचा—'अच्छा हो कि यह किसान इस हट्टे-कट्टे काहिल छोकरे के लिए अङ्गीठी को न सुलगाए।' किन्तु उसी समय ध्यान आया कि इसी अङ्गीठी से हमारे घर की रसोईन

के कमरे को भी गरमी पहुँचती है। वह एक चालीस वर्ष की स्त्री हैं, और रात को मेरे लडके ने जो खाना उडाया था, उसे तैयार करने और बरतन माँजने में सवेरे तीन बजे तक लगी रही और इसके बावजूद भी वह सात बजे उठ बैठी। वह अपनी अङ्गीठी स्वयं नहीं सुलगा सकती, उसके पास समय नहीं है। किसान उसके लिए भी अङ्गीठी सुलगा रहा था और उसके नाम पर मेरा यह सुस्त छोकरा भी गर्माया जा रहा था।

यह ठीक है कि इस प्रकार लोगों के लाभ एक दूसरे से गुथे हुए हैं, किन्तु बिना अधिक विचार किये ही प्रत्येक मनुष्य का अन्तःकरण स्वयं कह देगा कि मेहनत कौन करता है और सुस्त कौन पडा रहता है? किन्तु केवल अन्तःकरण ही यह बात नहीं बतलाता है, हमारी हिसाब की नोटबुक भी यह बतला देती है। हम जितना अधिक रुपया ख़र्च करते हैं, उतने ही लोग हमारे लिए काम करते है, और हम जितना ही कम खर्च करते हैं उतना ही अधिक हम अपना काम अपने आप करते है। 'मेरी विलासता से दूसरों की रोज़ी चलती है। यदि मैं अपने सईस को छुट्टी दे दूँ तो वह बेचारा बूढा आदमी कहाँ जायेगा ?' क्या प्रत्येक मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करे ? अपना कोट भी बनाये और अपनी लकडियाँ भी चीरे ? तब फिर श्रम-विभाग का क्या होगा और उद्योग धन्धे तथा सामाजिक काम कहाँ जायँगे ?' और सबके अन्त में आकर खड़े होते हैं वे महा भयानक शब्द—सभ्यता, विज्ञान और कला !

: २४ :

गत वर्ष (१८८४ ई०) मार्च के महीने में रात को कुछ देर से मैं घर जा रहा था। गली में घुसने पर दूर के एक खेत में बरफ के ऊपर ऊपर काली-काली परछाइयाँ-सी मुझे दिखाई दीं। मेरा ध्यान उधर न जाता, यदि गली पर किनारे पर खड़े हुए सिपाही ने उन परछाइयों की ओर देखते हुए चिल्लाकर न कहा होता।

"वासिली! तुम आते क्यों नहीं?"

एक आवाज़ ने जवाब दिया "यह चलती ही नहीं।" और इसके बाद परछाइयाँ सिपाही की ओर आती हुई दिखाई दी। मैं ठहर गया और सिपाही से पूछा—"क्या मामला है?"

उसने कहा "जनोफ़-गृह से कुछ लडकियाँ लाये हैं और उन्हें कोतवाली लिये जा रहे हैं, उनमें से एक पीछे रह गयी है, वह चलती ही नहीं है।" भेड़ की खाल का कोट पहने एक चौकीदार अब दिखाई पडा। उसके आगे आगे एक लड़की आ रही थी, जिसे वह पीछे से ढकेल रहा था। मैं, चौकीदार और सिपाही जाडे के कोट पहने हुए थे, केवल उस लड़की ही के पास कोट नहीं था, वह 'गाउन' पहने हुई थी। उसका क़द छोटा और शरीर चौड़ा और बेडौल था।

सिपाही ने चिल्लाकर कहा—"अरी ओ शैतान की बच्ची! हम तेरे लिए क्या रातभर यहाँ खडे रहेंगे? चलती है कि मैं अभी बताऊँ?" मालूम होता था कि सिपाही थककर परेशान हो गया था। वह कुछ दूर

चली और फिर ठहर गयी। बूढ़े चौकीदार ने उसे हाथ पकड़कर खींचा। वह नेक आदमी था, मैं उसे जानता था। क्रोध का-सा भाव धारण करके उसने कहा; "सुनती है कि नहीं!" वह लड़खड़ायी और घुटी हुई भद्दी आवाज़ में बोली—"रहने दो, धक्का मत दो, मैं खुद चलती हूँ।"

चौकीदार ने कहा—"तू सर्दी से ठिठुर कर मर जायेगी।"

"मेरे-जैसी लड़की को ठण्ड नहीं लगती। मेरे जिस्म में बहुत-सा गरम-गरम खून है।" उसने यह बात कही तो—थी हँसी से, पर उसके शब्द ऐसे मालूम पड़े, मानो वह शाप दे रही हो।

गली के एक लैम्प के पास, वह फिर खड़ी हो गयी, और खम्भे का सहारा लेकर अपने ठिठुरे हाथों से जेब में कुछ ढूँढने लगी। उन्होंने फिर पुकारा, किन्तु वह ज़रा बड़बड़ायी और जेबें टटोलती रही। उसके एक हाथ में बुझी हुई सिगरेट थी और दूसरे में दियासलाई। मैं पीछे ही खड़ा था, उसके पास से होकर निकलने में या नज़दीक जाकर उसकी ओर देखने में मुझे लज्जा मालूम होती थी। किन्तु मैं इरादा करके उसके पास आया। वह खम्भे से कन्धा टेके खड़ी थी और उसपर घिसकर दियासलाई जलाने का प्रयत्न कर रही थी।

मैंने ग़ौर से उसकी ओर देखा। उसका पेट बैठा हुआ था और वह मुझे तीस वर्ष की-सी मालूम पड़ती थी। उसका रङ्ग मैला, आँखें छोटी धुँधली और शराब पीने के कारण भारी और लाल थीं। उसकी नाक चपटी, होंठ टेढ़े और लार से भरे थे और सूखे बालों का एक गुच्छा रूमाल से बाहर निकला हुआ था। उसके हाथ-पाँव छोटे पर धड़ लम्बा और चपटा था।

मैं उसके सामने खड़ा हुआ। वह मेरी ओर देखकर हँसी, मानो वह जानती थी कि मैं क्या बात सोच रहा हूँ। मुझे मालूम हुआ कि मुझे उससे कुछ कहना चाहिए। मैं उसे यह दिखलाना चाहता था कि मैं उसपर दया करता हूँ।

मैंने पूछा—"क्या तुम्हारे माँ-बाप हैं ?" वह बैठे हुए गले से हँसी और फिर एकाएक रुककर अपनी भौंहों को उठाकर एकटक मेरी ओर देखने लगी।

मैंने फिर पूछा—"क्या तुम्हारे माँ-बाप हैं ?"

वह मुहँ सिकोडकर हँसी, मानो वह कह रही थी—'यह भी तुम्हारे पूछने लायक कोई सवाल ?' आख़िरकार वह बोली—"मेरी माँ है, किन्तु इससे तुम्हें क्या मतलब ?"

"तुम्हारी उम्र क्या है ?"

"पन्द्रह वर्ष से कुछ ऊपर, सोलहवाँ साल है"—उसने तुरन्त ही जवाब दिया, क्योंकि वह यह प्रश्न सुनने की अभ्यस्त थी।

"चल-चल आगे बढ़; हम यहाँ तेरे मारे सर्दी खा रहे हैं।" सिपाही ने डाटकर कहा। वह खम्भे को छोडकर लडखडाती हुई गली-गली कोतवाली की ओर चली, और मैं फाटक की ओर मुडकर अपने घर में दाखिल हुआ और दर्याफ्त किया कि क्या मेरी लडकियाँ घर में हैं ? मुझे बताया गया कि वे किसी महफ़िल में गयी थीं, जहाँ उन्हें बडा आनन्द आया और अब वे सो रही हैं।

दूसरे दिन सवेरे मैं यह जानने के लिए उस बेचारी लड़की का क्या हुआ, कोतवाली जानेवाला था। मैं जल्दी जाने के लिए तैयार हुआ। इतने में एक आदमी मुझसे मिलने आया। उच्च वर्गों में अनेकों मनुष्य अभागे होते हैं, जो अपनी दुर्बलताओं के कारण ग़रीबी की हालत में आ पडते हैं और जिनकी दशा कभी तो सँभल जाती है और कभी फिर बिगड जाती है। यह उसी श्रेणी का मनुष्य था। मैं उसे तीन वर्ष से जानता था, और इन तीन वर्षों में उसे कई बार अपना सर्वस्व यहाँ-तक कि अपने कपडे भी बेचने पडे। वह रात को आज-कल जनोफ़-गृह मे बिताता और दिन में मेरे यहाँ रहता। मैं बाहर निकलने ही वाला था कि वह मुझे मिला और मैं कुछ कहूँ इससे पहले ही कल रात को जिनोफ़ गृह में हुई घटना का वर्णन करने लगा। अभी उसकी बात आधी

भी न हो पायी थी कि वह बूढ़ा आदमी, जिसने ज़माने के बहुत-से उतार-चढ़ाव देखे थे और जिसने खुद अपनी ज़िन्दगी में बहुत-कुछ दुःख भोगा था, फूट-फूटकर रोने लगा। वह अधिक न बोल सका और उसने अपना मुहँ दूसरी ओर फेर लिया। उसने जो कहानी सुनायी थी, उसकी सत्यता की जाँच मैंने घटनास्थल पर जाकर की। वहाँ मुझे कुछ और भी बातें मालूम हुई। मैं यहाँ पर वे सभी बातें लिखूँगा।

निचले हिस्से के ३२ नम्बर के कमरे में, जहाँ मेरे दोस्त रहते थे, बहुत-से स्त्री-पुरुष रात को सोने के लिए आते थे। वे ५ कोपक के लिए एक-दूसरे के साथ सो जाते थे। वहीं एक धोबिन रहती थी, जो लगभग ३० वर्ष की उम्र की थी और जिसका रंग गोरा व देखने मे सुन्दर था। वह स्वभाव की शान्त और शरीर से दुर्बल थी। इस घर की मालकिन एक नाविक की रखेल थी। गरमी में उसका प्रेमी नाव खेता था और सर्दी में वे रात को ठहरनेवाले लोगो को स्थान किराये पर देकर अपनी रोज़ी चलाते थे।

वह धोबिन भी कुछ महीनों से यहीं रहती थी और बडी शान्त स्त्री थी, किन्तु अभी कुछ दिनों से वे लोग उसके रहने पर आपत्ति करने लगे, क्योंकि उसे खाँसी थी, जिससे दूसरों की नींद में विघ्न होता था। ८० वर्ष की एक बूढी औरत जो स्थायी रूप से वही रहती थी और जो कुछ सनकी-सी थी, ख़ास तौर से धोबिन का न रहना नापसन्द करने लगी। वह बराबर उसे तङ्ग करती, क्योंकि धोबिन रात भर बुरी तरह खाँसती और उसे सोने न देती थी। धोबिन बेचारी कुछ न बोलती। मकान का किराया उसपर चढ़ गया था और वह अपने को दोषी समझती थी, इसीलिए सब कुछ बर्दाश्त करती थी। शक्ति क्षीण हो जाने से अब वह काम भी दिन-पर दिन कम करने लगी, इसीलिए यह किराया न चुका सकती थी। पिछले हफ्ते तो वह कुछ भी काम न कर सकी और खाँसी के कारण वहाँके सभी निवासियो और ख़ासकर उस बुढ़िया के लिए वह बवाल-जान हो रही थी।

चार दिन पहले घर की मालकिन ने मकान खाली करने के लिए नोटिस दिया। ६० कोपक तो उसपर चढ़े हुए थे, वह उन्हें अदा नहीं कर सकती थी, और न ऐसी कोई आशा ही थी कि वह अदा कर सकेगी; जिसपर दूसरे रहनेवाले उसके खाँसने की शिकायत करते थे।

मालकिन ने जब उस धोबिन को नोटिस दिया और उससे कहा कि यदि वह रुपया नहीं दे सकती है तो मकान खाली कर दे, तब वह बुढ़िया बड़ी खुश हुई और उसे घर में से निकालकर सहन में ला खड़ा किया। धोबिन चली गयी, किन्तु एक घण्टे बाद फिर वापस आगयी। मालकिन का जी न हुआ कि वह उस ग़रीब को फिर से चले जाने को कहे। दूसरे और तीसरे दिन भी वह वहीं रही। वह बराबर यही कहती, "मैं अब जाऊँ कहाँ?" तीसरे दिन मालकिन का प्रेमी आया, वह मास्को का रहनेवाला था और शहर के सब कायदे-कानून जानता था। वह एक सिपाही को बुला लाया। तलवार और पिस्तौल से सज्जित सिपाही ने घर में आकर शान्ति और सभ्यता के साथ धोबिन को निकाल बाहर कर दिया।

मार्च का महीना था। सूरज निकला था, किन्तु कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। बरफ़ गल-गलकर बह रहा था और नौकर लोग जमे हुए बर्फ़ को तोड़ रहे थे। बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ियाँ सरकती जाती थीं और पत्थरों से लगकर आवाज़ पैदा करती थीं। वह धोबिन पहाड़ी के ऊपर चढ़ गयी, जहाँ धूप थी। वह गिरजाघर तक पहुँची और ड्योढ़ी के पास धूप में बैठ गयी। किन्तु जब सूर्य मकानों के पीछे छिपने लगा और तालाबों पर बर्फ़ की झीनी-झीनी चादर-सी बिछने लगी, तो धोबिन ठण्ड के मारे घबरायी। वह उठी और धीरे-धीरे चलने लगी...किधर? घर की ओर—उसी मकान की ओर, जहाँ अभी तक रहा करती थी। ठहर-ठहरकर, दम लेते हुए वह जा रही थी। अँधेरा होते-होते वह फाटक तक पहुँची, अन्दर की ओर मुड़ी कि उसका पैर फ़िसल गया। वह चीख मारकर गिर पड़ी।

उधर होकर एक आदमी निकला, फिर दूसरा निकला। उन्होंने सोचा, 'यह शराब पीकर सोयी होगी।' एक और मर्द उधर से होकर गुजरा और उसीसे ठुकरा गया। उसने दरबान से कहा—"फाटक पर शराब पिये हुए कोई औरत पड़ी है। मेरी तो अभी गर्दन टूटते-टूटते बची। उसे वहाँ से ज़रा उठवा दो।"

दरबान ने आकर देखा, धोबिन मरी पड़ी है। मेरे मित्र ने यही सब बातें सुनायी। पाठक शायद यही समझें कि १५ वर्ष की वेश्या और धोबिनवाली बात मैंने कहीं से ला कर रखदी है, किन्तु वे ऐसा न समझें। वास्तव मे ये दोनों ही घटनायें एक ही रात को हुई। मुझे तारीख तो ठीक याद नहीं, किन्तु १८८४ के मार्च का महीना था।

अपने मित्र की कही हुई कहानी सुनकर मैं कोतवाली की ओर चला और वहाँसे उस धोबिन के सम्बन्ध में सारी बातें जानने के लिए जिनोफ़-गृह जाने का निश्चय किया।

मौसम सुन्दर था, धूप खिली हुई थी। छाया मे कल रात की पड़ी हुई बर्फ के नीचे पानी बहता हुआ दिखाई देता था, और धूप मे तथा मैदान में तो बर्फ़ बडी तेजी से पिघल रही थी। नदी के पार बाग के वृक्ष नीले-नीले से दिखाई देते थे, सुहावनी ऋतु देखकर मनुष्यों के हृदय में भी मौज करने की तरंगें उठती थीं किन्तु वे चिन्ताओं से घिरे हुए थे। गिरजों की घण्टियाँ बज रही थीं, और उनके साथ ही छावनी से बन्दूको की गोलियों की सरसराहट और निशाने पर लगने के धमाके की आवाज़ सुनाई देती थी, जो घण्टियों की आवाज़ के साथ मिल जाती थी।

मैं कोतवाली पहुँचा। कई हथियारबन्द सिपाही मुझे अपने अफसर के पास ले गये। वह भी तलवार और पिस्तौल से सज्जित था। उसके सामने चिथडे पहने, थर-थर काँपता हुआ एक बुड्ढा बैठा था। दुर्बलता के कारण पूछे हुए सवालों का जवाब वह ठीक तरह नहीं दे पाता था। अपना काम निपटाकर वह मेरी ओर मुख़ातिब हुआ। मैंने रात

वाली वेश्या के बारे में उससे पूछा। मेरी बातें ध्यान से सुनकर वह मुस्कराया। उसका मुस्कराना केवल इसीलिए नहीं था कि मैं यह बात नहीं जानता था कि वह कोतवाली क्यों लाई गयी, बल्कि खासकर इसलिए की मुझे उसकी अल्प-वयस्कता पर आश्चर्य हुआ। उसने हँसते हुए कहा, 'अजी जनाब! कुछ तो बारह और तेरह वर्ष की होती हैं, और चौदह वर्ष की तो अनगिनती।'

रातवाली लड़की के विषय में उसने कहा कि सम्भवतः वह तो कमिटी को भेज भी दी गयी होगी। मैंने जब उससे पूछा कि ये लोग रात को कहाँ रक्खे जाते हैं; तो कुछ अनिश्चित-सा उत्तर देकर उसने टाल दिया। जिस ख़ास लड़की के विषय मे मैं पूछ रहा था, उसकी उसे याद न थी, क्योंकि, इस तरह अनेकों रोज़ ही आती हैं।

नम्बर ३२ के जिनोफ़-गृह मे जब मैं पहुँचा, तो मैंने देखा कि उस मरी हुई धोबिन के पास बैठा हुआ पादरी मृतक की आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना कर रहा था। उसे उठाकर जिस तख्ते पर वह सोया करती थी, उसी पर लिटा दिया था। और वहाँके रहनेवालों ने, जो सभी मरभूखे-से थे, आपस में चन्दा करके उसके क्रिया-कर्म का प्रबन्ध किया था। उस बुड्ढी औरत ने उसे कपड़ा पहनाकर तैयार किया था। पादरी अँधेरे में कुछ पढ़ रहा था, लबादा ओढे हुए एक औरत मोमबत्ती थामे हुए थी, और एक दूसरी मोमबत्ती लिये एक आदमी खड़ा था, जो बढ़िया कपडे पहने एक पूरा सद्गृहस्थ-सा मालूम पडता था। यह आदमी इस धोबिन का भाई था, जिसे लोग कहीं से ढूँढकर लाये थे।

मृत स्त्री के पास से होकर मैं मालकिन के कमरे में गया और उससे प्रश्न करने लगा। वह मेरे प्रश्नो से डरी—शायद इसलिए कि कहीं किसी बात के लिए मुझपर मुकदमा न चले, किन्तु कुछ ही देर में खूब खुलकर बातें करने लगी और मुझे सब बातें बता दीं। वापस लौटते हुए मैंने मृतक शरीर की ओर देखा। मृतक सभी सुन्दर मालूम पडते हैं किन्तु यह तो और भी सुन्दर और हृदय पर असर करनेवाला

मालूम होता था । उसका मुखडा सफेद और साफ था, आँखे बड़ी-बडी, किन्तु बन्द थी, गाल बैठे हुए, और उठी पेशानी पर खूबसूरत मुलायम बाल पड़े हुए थे । उसका चेहरा थका हुआ, किन्तु दयापूर्ण था । दुःख का कोई चिन्ह ही न था, हाँ, कुछ आश्चर्य का भाव अवश्य था ।

इसी दिन मास्को में एक बडा भारी नाच होनेवाला था । उसी रात को आठ बजे मैं घर से बाहर निकला । मैं ऐसे मुहल्ले मे रहता हूँ, जो मिलो से घिरा हुआ है । मैं जब घर से बाहर निकला तो छुट्टी की सीटी हो चुकी थी और एक सप्ताह तक लगातार काम के बाद लोगों को एक दिन की छुट्टी मिली थी । कारखाने के लोग मेरे पास से गुज़र रहे थे और सबके सब भट्टी और सराय की ओर जा रहे थे । बहुत-से तो अभी से पीकर मतवाले हो रहे थे और कुछ औरतो के साथ थे ।

हर रोज़ पाँच बजे मैं मिलो की सीटियाँ सुनता हूँ, जिनका अर्थ यह होता है कि स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को काम करने में लगा दिया गया । आठ बजे दूसरी सीटी होती है—इसके मानी आध घण्टे की छुट्टी । १२ बजे तीसरी सीटी—अर्थात् भोजन के लिए एक घण्टे की मुहलत । आठ बजे रात को चौथी सीटी होती है; काम बन्द हो जाता है । विचित्र दैवयोग से मेरे पडोस की तीनों मिलें नाच-गान के काम की चीजे ही तैयार करती हैं । एक कारखाने में—जो सबसे ज्यादा नजदीक है—मोजो के सिवा और कुछ नहीं बनता, दूसरे में रेशमी माल और तीसरे मे इत्र और पोमेड ।

इन सीटियों को सुनकर किसी के जी मे इससे अधिक ख़याल शायद ही कोई पैदा होगा—वह देखो, सीटी बज गई, घूमने का समय हो गया ।

किन्तु उनका जो वास्तविक अर्थ है, उसे भी मनुष्य को समझना होगा । सवेरे पाँच बजे बजनेवाली सीटी का यह अर्थ है कि रात-भर अन्धी कोठरी में जो स्त्री और पुरुष एक साथ पड़कर सोते थे; वे मुहँ-

अँधेरे उठते है और जल्दी-जल्दी कारखाने की ओर जाते हैं। वहाँ उन्हे उस काम में हिस्सा लेना पड़ता है कि जिसका न तो कोई अन्त है और न जो उनके लिए उपयोगी ही है, और फिर वहाँ गरमी और गन्दगी से भरी हुई दम घोटनेवाली हवा में बारह-बारह और कभी-कभी इससे भी अधिक घण्टों तक काम करते हैं। रात होने पर वे सो जाते हैं और फिर सवेरे उठते हैं; उठकर वही काम करते हैं कि जो वास्तव में उनके लिए कोई अर्थ ही नहीं रखता, किन्तु केवल पेट की खातिर उन्हें वह काम करना पड़ना है।

हफ्तो पर हफ्ते इसी तरह बीत जाते हैं। बीच में एक दिन छुट्टी का आता है। आज उसी तरह की छुट्टी मनाने के लिए बाहर निकलते हुए मजदूरों को मैं देखता हूँ। वे गलियों में घूमते हैं। चारो ओर सराय, होटल और स्त्रियाँ हैं। वे शराब पीकर एक दूसरे से धक्का-मुक्की करते हैं और लड़कियों को—वैसी ही लडकियों को, जैसी कि कल रात को लोग पकड़कर कोतवाली ले गये—अपने साथ लेकर फिरते है। गाडी किराये करके वे एक होटल से दूसरे होटल को जाते हैं, एक दूसरे को गालियाँ देते हैं, और क्या-क्या बकते फिरते हैं इसका उन्हें बिलकुल ही ज्ञान नहीं होता। पहले जब मैं इन मजदूरों को इस तरह भटकते देखता तो मैं घृणा से एक ओर हट जाता और मन ही मन उन्हे बुरा-भला कहता। किन्तु जबसे मैं इन नित्य बोलनेवाली सीटियों का अर्थ समझ गया हूँ, तबसे मुझे उलटा इस बात का आश्चर्य होने लगा है कि वे सभी श्रमिक भिखारियों की अवस्था को क्यों नहीं प्राप्त हो गये, और सभी स्त्रियों की हालत लड़की की-सी क्यों न हो गयी?

इस तरह ग्यारह बजे तक घूम-फिरकर मैं यह देखता रहा कि ये लोग क्या करते हैं? ११ बजे के बाद इन लोगों की हरकतें ठण्डी पडी और इधर-उधर कुछ ही मतवाले फिरते हुए दिखाई देने लगे। मुझे कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष भी मिले, जिन्हे सिपाही पकड़कर कोतवाली लिये जा रहे थे।

अब हर तरफ से गाड़ियाँ निकलती हुई दिखाई दीं, जो सबकी सब एक ही तरफ जा रही थीं। कोचबक्स पर कोचमैन होता था, जो प्राय: भेड़ के चमडे का कोट पहने हुए होता था, और एक सईस होता था, जो टोपी ओढ़े खासा छैला-सा बना होता था। कपडे से ढके हुए हृष्ट-पुष्ट घोडे पन्द्रह मील फी घण्टे की रफ्तार से दौड़ते जाते थे। गाड़ियों में शाल ओढ़े महिलायें बैठी हुई थीं। वे इसके लिए बहुत सतर्क थीं कि कहीं उनका साज-शृंगार बिगड़ न जाये। घोडों की काठियों, गाडियो हिन्दुस्तानी रबर के बने हुए पहियों और कोचमैनों के कोट से लेकर उनके मोजे, जूते, फूल, मखमल, दस्ताने इत्र आदि सभी सामान उन्ही लोगों के बनाये हुए थे, जिनमें से कुछ तो अपने गन्दे कमरों मे सो रहे थे, कुछ वास-गृहों में वेश्याओं के साथ, और कुछ कोतवाली में।

नाच में जानेवाले उन लोगों के पास से होकर गुजरते हैं और उन के पास जो चीजें होती हैं, वे भी सब इन्हीं की बनायी होती हैं। फिर भी इनके मन में यह कल्पना तक नहीं होती कि जिस मुजरे में वे जा रहे हैं उसमें और इन मतवाले लोगों में, जिन्हें उनके कोचमैन डाटते हुए चलते हैं, कोई सम्बन्ध भी है, ये लोग उत्सव में जाकर खूब आनन्द मनाते हैं। रात के ११ बजे से लेकर सुबह ६ बजे तक सारी रात ये लोग आनन्द-प्रमोद में मग्न रहते हैं, जबकि इनके लिए काम करने-वाले बेचारे मज़दूर भूखे पेट अनाथालय में पडे रहते हैं या उस धोबिन की तरह मार्ग में सर्दी से ठिठुर-ठिठुर कर मर जाते हैं।

इनके नाच में होता क्या है? स्त्रियाँ और कुमारियाँ अपनी छाती खुली रखकर और कृत्रिम रूप से नितम्बों को ऊँचा करके ऐसी बेहयाई से वहाँ आकर मनुष्यों के सामने खडी होती हैं कि जैसे कोई भी स्त्री या कन्या, जो अभी शील-रहित नही हुई है, कभी किसी पुरुष के सामने आना पसन्द न करेगी। इस अर्धनग्न अवस्था में खुली हुई छाती, कंधो तक नंगे हाथों के साथ और ऐसी पोशाक पहनकर जो पीछे की तरफ फूली हुई होती है किन्तु नितम्ब-भाग खूब कसा हुआ होता है, स्त्रियाँ और

कन्यायें, जिनका मुख्य गुण लज्जा समझा जाता रहा है, अजनबी आदमियों के सामने आती हैं। वे आदमी भी निर्लज्जतापूर्ण और खूब चुस्त कपड़े पहने होते हैं। ऐसी दशा में ये स्त्री और पुरुष एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं और फिर उन्मादक संगीत की ताल पर खूब घूम-घूमकर नाचते हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ भी, जो प्रायः ऐसी ही अर्धनग्न अवस्था में होती है, वहाँ बैठी-बैठी तमाशा देखा करती हैं, और आनन्द से खूब खाती और पीती हैं। वृद्ध पुरुष भी ऐसा ही करते हैं। यह ठीक ही है कि यह सब लीला रात्रि को होती है जबकि सब ग़रीब लोग सो जाते हैं और इस काण्ड को देख नहीं सकते।

किन्तु लोगों से छिपाने के लिए यह लीला रात्रि को नहीं की जाती है। उनकी दृष्टि में तो उसमें छिपाने की कोई बात ही नही है, जो कुछ वहाँ होता है सब बड़ा सुन्दर और अच्छा है।

नृत्योत्सव बडे आनन्द से होता है, यह माना; किन्तु, यह आनन्द आया कहाँ से? यह बात तो निस्संदिग्ध और स्पष्ट है कि जब हम किसी ऐसे आदमी को देखते हैं, जो भूखा-प्यासा है और सर्दी से ठिठुर रहा है, तो हमें आनन्द मनाते लज्जा आती है और जबतक वह भोजन नही कर लेता, तब तक हम आनन्द मनाना प्रारम्भ नही कर सकते। जब हम देखते हैं कि कुछ निर्दयी शैतान छोकरे अधचिरी लकड़ी में कुत्ते की दुम को दाब देते हैं, तो हमें बडा बुरा लगता है और हमारी समझ मे नहीं आता कि इस शरारत में इन लोगों को क्या मज़ा आता है? तब फिर हम अपने आनन्दोत्सव के समय ऐसे अन्धे क्योंकर हो जाते हैं कि हम उस दशा को नहीं देख पाते, जिसमें हमने उन बेचारे ग़रीब आदमियों को दबा दिया है, जो हमारे भोग-विलास की खातिर दुःख उठाते हैं।

डेढ़-डेढ़ सौ रुबल की पोशाक पहनकर जो स्त्रियाँ नृत्योत्सव मे आती हैं वे नाच-घर में पैदा नहीं होतीं, बल्कि गाँव में रह चुकी हैं, किसनों को देखा है, एक धाय अथवा दासी को जानती हैं, जिनके

पिता और भाई ग़रीब आदमी हैं और जिनके परिश्रमी जीवन की सदा से यह साध रही है कि १५० रुबल कमाकर रहने के लिए एक छोटा-सा झोपड़ा बनवा लें। वे यह सब जानती है, तब फिर वे किस तरह आनन्द मानने को तैयार होती हैं—यह जानते हुए भी कि अपने अर्धनग्न शरीर पर वे एक झोपड़ा—जो उनकी दासी के भाई का जीवन-भर का स्वप्न है—१५० रुबल है पहने हुए हैं।

पर मान लो कि इन्होंने इसपर कभी कोई विचार नहीं किया है। किन्तु, इतना तो उन्हें मालूम ही होना चाहिए कि, रेशम और मखमल मिठाई और फल, लैस, चैन और पोशाकें खुद तो कहीं पैदा ही नहीं होतीं, मनुष्यों द्वारा ही बनाई जाती हैं। और इसका भी उन्हें ज्ञान होना चाहिए कि इन तमाम चीजों को कौन बनाता है, बनानेवाले किस स्थिति में रहते हैं, और वे उन चीजों को बनाते क्यों हैं ? इससे भी वे अपरिचित नहीं हो सकतीं कि जिस दर्जिन को आज उन्होंने झिड़का है उसने उनकी पोशाक को प्रेम से प्रेरित होकर नहीं बनाया है और इसलिए यह बात उनके ध्यान में आये बिना नहीं रह सकती कि उनकी चैन, फूल और मखमल के लिए जो दूसरों ने मेहनत की है वह केवल अपने पेट के कारण की है।

किन्तु शायद वे ऐसे मोह में पड़ी है कि इन बातों का विचार ही नहीं करतीं। किन्तु कुछ भी हो, इतना तो वे अवश्य जानती हैं कि पाँच-छः जने, वृद्ध और कमज़ोर स्त्री-पुरुष, सारी-रात नहीं सोये हैं और रात-भर उनके काम में लगे रहे है। उनके थके हुए मुरझाये चेहरे उन्होंने देखे ही होंगे। यह भी वे जानती ही थीं कि आज रात को २८ डिगरी कोहरा पड़ रहा था और उनका कोचमैन, जो एक बूढ़ा आदमी है इस कोहरे में सारी रात कोचबक्स पर बैठा रहा।

पर मैं जानता हूँ कि वास्तव में वे इन बातों को देख ही नहीं सकतीं और इस नाच के जादू के कारण ये कन्यायें और युवतियाँ यदि इस अनर्थ को देख नहीं पातीं, तो इसके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे

सकते। वे बेचारे अज्ञानी जीव क्या समझें इन बातों को ? वे तो उन सभी चीजों को अच्छा समझते हैं कि जिन्हें इनके बड़े-बूढ़े अच्छा बताते हैं। किन्तु वे बड़े-बूढ़े लोग अपनी इस निर्दयता के लिए क्या जवाब देते हैं ? उनके पास तो एक बना-बनाया जवाब है। वे कहते हैं—"मैं किसी को मजबूर नहीं करता। मेरे पास जो चीजें हैं उन्हें मैंने खरीदा है। सईस, दास, दासियाँ आदि को मैं नौकर रख लेता हूँ। खरीदने और नौकर रखने में कोई दोष नहीं है। मैं ज़बरदस्ती नहीं करता, मैं पैसा देता हूँ, और काम लेता हूँ। भला इसमें बुराई की क्या बात है ?"

कुछ दिन पहले मैं एक मित्र से मिलने गया। पहले कमरे से निकलकर दो स्त्रियों को एक मेज़ के पास काम करते देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरा मित्र अविवाहित है। पीले वर्ण की दुबली-पतली तीस वर्ष की एक बूढ़ी-सी स्त्री कन्धे पर तौलिया डाले हाथों से जल्दी जल्दी मेज़ के ऊपर कुछ काम कर रही थी। काम करते समय वह इस तरह हिलती थी, मानो इसपर भूत सवार हो। उसके सामने एक लड़की बैठी हुई थी। वह भी कुछ काम कर रही थी और उसी तरह हिल रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानों दोनों पर नाच का नशा चढ़ा हुआ है।

मैंने उसके पास जाकर देखा कि उनके सामने तम्बाकू और सिगरेटों का ढेर था। स्त्री हाथों से तम्बाकू को मलकर मशीन से ट्यूब (Tube) में भरकर उसे लड़की की तरफ फेंक देती थी और लड़की कागज़ को ठीक करके सिगरेट पर लपेटकर एक तरफ़ फेंक देती और फिर दूसरी सिगरेट लेती। यह सब इतनी तेज़ी और होशियारी से होता था कि जिसका वर्णन करना मुश्किल है। उनकी इस फुर्ती पर मैंने आश्चर्य प्रकट किया, तो उस औरत ने कहा—

'मैं चौदह वर्ष से काम करती हूँ।'

मैंने पूछा—'क्या यह काम बहुत कठिन है ?'

वह बोली—'हाँ, मेरी छाती दुखती है और तम्बाकू के कारण दम घुटता है।' किन्तु यह सब कहने की उसे ज़रूरत न थी, उसे अथवा

लड़की को एक नज़र देखते ही यह सब स्पष्ट हो जाता है। लड़की तीन वर्षों से इस काम पर थी। उसे देखकर कोई भी यह कहे बिना नहीं रह सकता था कि उसका मज़बूत शरीर धीरे-धीरे घुनना शुरू हो गया है।

मेरा मित्र एक उदार और दयालु प्रकृति का मनुष्य है। उसने इन लोगों को सिगरेट बनाने के लिए रख छोड़ा है। एक हजार सिगरेट के लिए वह ढाई पौंड देता है। उसके पास रुपया है और वह उनसे काम लेकर उन्हें मज़दूरी दे देता है, इसमें कौन सी बुराई है? मेरे यह मित्र १२ बजे सोकर उठते हैं। शाम के ६ से लेकर रात के २ बजे तक वह ताश खेलने अथवा प्यानो बजाने मे लगे रहते हैं। वह खूब मजे से खाते और पीते हैं और उनका सारा काम दूसरे लोग उनके लिए कर देते हैं। अब उन्हें सिगरेट पीने का नया शौक़ पैदा हुआ है।

हम देखते हैं कि यहाँ एक स्त्री और एक लडकी है, जो मशीन की तरह काम करती है और जो तमाम दिन तम्बाकू के छूरों में बिताकर अपनी ज़िंदगी ख़राब कर रही है—केवल पेट की ख़ातिर। दूसरी ओर हमारे मित्र हैं, जिनके पास काफ़ी रुपया है, जिसे उन्होंने स्वय पैदा नहीं किया है और जिन्हें सिगरेट बनाने की अपेक्षा ताश पसन्द है। यह रुपया वे इन स्त्रियों को इसी शर्त पर देते हैं कि ये उनके लिए सिगरेट बनाया करें और उसी तरह अपने शरीर का नाश करती रहें।

मैं सफ़ाई का शौक़ीन हूँ और मैं अपना रुपया इस शर्त पर देता हूँ कि धोबिन मेरे कपडों को धोया करे, जिन्हें मैं दिन में दो बार बदलता हूँ, और कपडे धोते-धोते बेचारी धोबिन घुल गयी और आखिरकार मर गयी। इसमें किसी का क्या दोष?

'जो लोग दूसरों को मज़दूरी देकर नौकर रखते हैं वे तो ऐसा करते ही रहेंगे—मैं चाहे करूँ या न करूँ, वे दूसरे लोगों से मख़मल और मिठाइयाँ बनवायेंगे और उन्हें खरीदकर काम में लायेंगे—मैं चाहे ऐसा करूँ या न करूँ। इसी तरह अपनी सिगरेट बनाने और कपडे धोने के लिए लोगों

को वे नौकर रखते हैं, वे तो ऐसा करते ही रहेंगे--मैं चाहे करूँ या न करूँ। तब फिर मैं ही क्यों अपने को मख़मल, मिष्टान्न, सिगरेट और साफ कपड़ों के उपभोग से वंचित रक्खूँ, जबकि उनका निर्माण बराबर हो ही रहा है?' मैं प्राय: सदा ही इस प्रकार का तर्क सुना करता हूँ।

यदि हम सत्य से इतनी दूर न जा पड़े होते, तो इस प्रश्न को करते हुए भी हमें शर्म आती। किन्तु हम ऐसे चक्कर में पड़े हैं और हम ऐसी स्थिति में जा पहुँचे हैं कि इस प्रकार का प्रश्न हमें स्वाभाविक मालूम पड़ता है, और इसी कारण, लज्जा की बात होते हुए भी मुझे इसका उत्तर देना ही पड़ेगा।

मैं पूछता हूँ, यदि मैं अपने कपड़े रोज़ न बदलकर हफ्ते में बदलूँ और अपनी सिगरेटें खुद बना लूँ या सिगरेट पीना ही छोड़ दूँ तो क्या होगा?

अन्तर यह होगा कि एक धोबिन और सिगरेट बनानेवाली को कुछ कम श्रम करना पड़ेगा और पहले जो मैं धुलाई अथवा सिगरेट-बनवाई के रूप में देता था, वह अब मैं उन्हीं अथवा दूसरी किन्हीं स्त्रियों को दे दिया करूँगा, और मज़दूर लोग जो काम करते-करते थक जाते हैं, शरीर से अधिक काम न करेंगे और उन्हें आराम तथा जलपान करने का अवसर मिल सकेगा। किन्तु अमीर और भोग-विलास में लिप्त लोगों को मैंने इसपर भी आपत्ति करते देखा है।

वे कहते हैं—'यदि मैं अपने कपड़े स्वयं धोऊँ और सिगरेट पीना छोड़ दूँ और वह रुपया जो इस तरह बचाता हूँ ग़रीबों को दे दूँ, तब भी वह रुपया उनके पास न रहने पावेगा और फिर सागर मे एक बूँद की तरह मेरी रक़म से हो भी क्या सकेगा?'

मुझे इस दलील का उत्तर देते हुए बड़ी लज्जा मालूम होती है; पर इसका उत्तर दिये बिना छुटकारा नहीं, क्योंकि यह दलील बहुधा बहुत-से लोग दिया करते हैं। इसका उत्तर बिलकुल सीधा है। मैं किसी जंगली जाति मे जाऊँ और वहाँ लोग मुझे स्वादु मांस खाने को दें। किन्तु दूसरे दिन मुझे मालूम हो, अथवा मैं स्वयं अपनी आँखों से

देखूँ, कि यह स्वादिष्ट चीज़ आदमी के मांस की बनी हुई है और एक कैदी को मार कर बनायी गयी है। यदि मैं मनुष्य का मांस खाना बुरा समझता हूँ, तो वे मांस के टुकड़े खाने में चाहे कितने ही स्वादिष्ट मालूम हों और जिन लोगों में मैं रहता हूँ, उनमें मनुष्य का मांस खाने का कितना ही अधिक रिवाज हो, मैं उन टुकड़ों को कभी न खाऊंगा, मुझसे वे खाये ही न जायँगे।

यह सम्भव है कि और कुछ न मिलने की हालत में भूख से मजबूर होकर मैं मनुष्य का मांस खालूँ, किन्तु मैं उसे खुशी से न खाऊँगा और न ऐसी दावतों में शरीक होऊँगा जिनमें मनुष्य का मांस होगा, और न ऐसी दावतों को ढूँढता फिरूँगा; और न मैं इस बात का गर्व करूँगा कि मैं ऐसे भोज में शामिल हुआ।

: २५ :

परन्तु हम क्या करें? यह सब-कुछ हमने तो किया नहीं। तो फिर किसने किया? हम कहते हैं कि यह हमने नहीं किया, यह तो अपने-आप ही हो गया। बच्चे जब किसी चीज़ को तोड़ डालते हैं तो वे इसी तरह कहते हैं—'यह टूट गयी।' हम कहते हैं कि जबतक शहर मौजूद हैं और हम उनमें रहते हैं तबतक लोगों को मज़दूरी की एवज़ पैसा देकर उनका पालन-पोषण करते हैं। किन्तु यह बात सच नहीं है और इसे समझने के लिए हमें सिर्फ इस बात की ओर ध्यान देने की जरूरत है कि हम गाँव में किस तरह से रहते हैं और वहाँ हम ग़रीबों की किस तरह मदद करते हैं?

शीत ऋतु समाप्त हो रही है और ईस्टर आनेवाला है। शहरों में तो धनियों का वही राग-रंग हो रहा है। उद्यानों में और उपवनों में, घाटों पर, जहाँ देखो वहाँ नाच-गान, नाटक, घुड़दौड़, रोशनी और आतिशबाजी का दौरदौरा है। किन्तु गाँवों में इससे भी अच्छा है—वहाँ वायु शुद्ध है, वृक्ष, खेत और धूल अधिक तरोताज़ा है। जहाँ प्रकृति यौवन के पूर्ण उभार पर है, जहाँ सब-कुछ हरा-भरा और फला-फूला है, वहाँ चलकर रहना चाहिए—यह सोचकर हम लोग, जो दूसरों के परिश्रम पर जीने के अभ्यासी हैं, शुद्ध वायु का सेवन करने और हरे-भरे खेतों और जंगल की हरियाली देखने के लिए गाँवों में जाते हैं।

यहाँ, गाँवो में, ग़रीब लोग ज्वार-बाजरे की रोटी और प्याज़ के टुकडे पर रहते हैं, रोज १८ घण्टे काम करते हैं, और तिसपर न तो उन्हें पूरी नींद मिलती है, और न पहनने को पूरे कपडे। ऐसे ग़रीबों में शहर के अमीर आकर बसते हैं। यहाँ किसी प्रकार का कोई प्रलोभन नहीं है, न कल-कारखाने हैं, न बेकार लोग, जो शहरो में बहुतायत से पाये जाते हैं। इसलिए दूसरों को काम में लगाकर हम उनका पोषण करने का बहाना भी नहीं कर सकते। यहाँ लोगो को अपना ही इतना काम रहता है कि समय पर वे उसे ही पूरा नही कर पाते, बल्कि अक्सर आदमियों की कमी से बहुत-सा माल खराब हो जाता है और बहुत-से मर्द, बच्चे, वृद्ध और गर्भवती स्त्रियाँ प्रायः अपनी शक्ति से अधिक काम करती हैं।

अच्छा तो सुनिए, अमीर लोग यहाँ गाँवों में आकर किस तरह रहते हैं ? यदि पुराने ज़माने का बना हुआ कोई मकान वहाँ हुआ तो उसकी मरम्मत और सफाई होती है और उसे फिर से सजाया जाता है। यदि कोई पुराना मकान न हुआ तो दुमंजिला-तिमंजिला नया शानदार मकान बनाया जाता है और उसे क़ीमती सामान से सजाया जाता है। मकान के पास सडकें बनायी जाती है, फुलवाडी लगायी जाती है. और सब तरह की आराइश का प्रबन्ध किया जाता है। सब पर रङ्गसाजी होती है। गरज़े कि हमारे समाज का आदमी चाहे कितना ही उदार विचारों का क्यों न हो, वह गाँव में सदा ऐसे ही मकान में रहता है जिसको बनाने; सँवारने और साफ-सुथरा रखने के लिए दर्जनों आदमी चाहिएँ—हालाँकि उन आदमियों को अपने खेत की देखभाल करने के लिए ही काफ़ी समय नहीं मिलता है।

यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि कल-कारखाने पहले ही से बने हुए हैं और वे जारी रहेंगे—चाहे हम उनका उपयोग करें या न करें। हम यह भी नहीं कह सकते कि हम बेकार आदमियों की परवरिश कर रहे हैं, यहाँ तो हम केवल अपनी ही आराइश की खातिर कारखाने खोलते हैं

और आस-पास के लोगों का अपने काम के लिए उपयोग करते हैं, और इस तरह लोगों का हम उस काम से हटाते हैं, जो न केवल उनके लिए, बल्कि हमारे सबके लिए आवश्यक हैं। इस पद्धति द्वारा हम कुछ लोगों का नैतिक ह्रास भी करते हैं और कुछ की ज़िन्दगी व तन्दरुस्ती बरबाद कर देते हैं।

कल्पना कीजिए कि किसी गाँव में उच्चवर्ग अथवा सरकारी अफसरों का एक शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार रहता है। परिवार के सब लोग तथा मित्रगण जून के मध्य में वहाँ आकर एकत्र होते हैं। जून तक तो वे पढ़ने-पढ़ाने और परीक्षाओं में ही लगे रहते हैं। वे उस समय आते हैं कि जब कटाई शुरू होती है और फसल काटने व बोने आदि ज़रूरी कामों के समय तक वह वहाँ रहते हैं। कटाई के बाद घास इकट्ठा करने का काम होता है। सितम्बर में ये लोग शहरों को वापिस चले जाते हैं। उस समय काम समाप्त तो नहीं हो जाता, क्योंकि बोनी और आलू खोदने का काम होता रहता है, परन्तु काम की वैसी भीड नहीं रहती।

ये लोग जबतक गाँवों में रहते हैं तबतक बराबर उनके चारों ओर जोरों से खेती-बाडी के काम में किसान लोग रहते हैं। इस काम में इनको कितना परिश्रम करना पडता है, यह हम स्वयं काम करके ही अनुभव कर सकते हैं, पढ़ सुनकर नहीं।

लगभग १० मनुष्यों का यह कुटुम्ब शहर में जिस तरह रहता है; उसी तरह अथवा उससे भी ख़राब ढंग से यहाँ रहता है। यहाँ गाँव में तो वे आराम करने के विचार से (कुछ काम किये बिना ही) आते हैं; इसलिए यहाँ वे काम का नाम भी नहीं लेते।

इन दिनों बेचारे किसान 'क्वास'×, रोटी और प्याज़ पर गुज़र करते हैं। गाँव में रहने के लिए आये हुए नागरिक लोग इस काम को देखते हैं, कभी अपने लोगों को उस काम को करने के लिए कहते हैं और उसका आनन्द लेते हैं। घास की भीनी-भीनी गन्ध, स्त्रियों के गीत,

×घर पर बनाया हुआ एक सस्ता रूसी पेय।

हँसियो के चलने की आवाज़ और काटनेवाले लोगों की क़तार का दृश्य और स्त्रियों के पास इकट्ठे करने के ढंग—यह सब उनके प्रमोद की सामग्री होती है।

कटाई का काम दुनिया में बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रायः हर साल ही आदमियों की कमी और समयाभाव के कारण कटाई का काम अधूरा रह जाता है और इसी तरह घास अधकटी रह जाती है और बरसात आ जाती है। मज़दूरों की कमी-बेशी पर यह निर्भर रहता है कि २० या २५ फीसदी घास किसानों के घर ज्यादा जायगी अथवा योंही खडी-खडी सड जायगी। किसानों के लिए उन्हीं दिनो इस प्रश्न का निर्णय हो जाता है कि जाडे में उसको, उसके बच्चों को रोटी और दूध किस परिमाण में मिल सकेगा? काम करनेवाले सभी स्त्री-पुरुष इस बात को जानते हैं और बालक भी जानते हैं कि यह काम बहुत ही ज़रूरी है। वे अपने पिता के लिए खेत पर 'क्वास' का घडा ले जाने का काम करते है। भारी घड़े को एक हाथ से दूसरे हाथ में बदलते हुए पिता नाराज़ न हों, इसलिए समय पर पहुँचने के लिए दो-दो मील नंगे पॉव दौडते हुए जाते हैं। सब जानते हैं कि कटाई के समय से लेकर जबतक फसल कटकर घर में न पहुँच जाय, तबतक दम लेने की फुर्सत नहीं है।

इसके अलावा हरएक को कुछ-न-कुछ और भी काम होता है। उन्हे नया खेत जोतना और पटेला देना होता है। स्त्रियों को रोटी बनाने, कपडा धोने के सिवा कातना-बुनना भी पडता है। पुरुषो को बाज़ार और शहर में जाना पडता है; समाज-सम्बन्धी काम देखने होते है, कचहरी जाना पडता है। सरकारी अफसरों के लिए सवारियो का इन्तज़ाम करना पडता है, और रात मे घोडों को चराना होता है। बूढे, बच्चे, बीमार, सभी को अपनी पूरी शक्ति-भर काम करना पडता है। किसान लोग इतनी मेहतत से काम करते है कि अन्तिम कतार काटने वाले—जिनमें बीमार, बूढे और बच्चे भी होते है—इतने थक जाते हैं

कि थोड़ा-सा सुस्ताने के बाद काम करने में बड़ी पीड़ा होती है। गर्भवती और बच्चेवाली स्त्रियाँ भी कड़ी मेहनत करती हैं।

काम बड़ी मशक़्क़त का है और लगातार होता है। सब आदमी पूरी ताक़त से काम करते हैं। इस काम के समय अपने अपूर्ण भोजन से जो शक्ति उन्हें मिलती है वह तो ख़र्च हो ही जाती है, परन्तु पुरानी पूँजी भी ख़र्च कर डालते हैं। एक तो वैसे भी ये लोग बहुत मोटे और तगड़े नहीं होते, इसपर फ़सल के मौसम पर सभी लोग अधिक मेहनत के कारण दुबले हो जाते हैं।

तीन किसानों की एक छोटी-सी टोली कटाई का काम कर रही है। उनमें एक वृद्ध है, एक उसका विवाहित भतीजा है, और तीसरा गाँव का मोची है, जो एक पतला किन्तु मज़बूत आदमी है। उनकी आज की लुनाई पर ही उनका भविष्य निर्भर है; यह आज ही निश्चय हो जायगा कि जाड़ों में वे गाय रख सकेंगे कि नहीं और अपना कर चुका सकेंगे कि नहीं? उन्हें काम करते हुए दो सप्ताह हुए हैं। बीच मे वर्षा के कारण कुछ काम में रुकावट आगयी थी। जब वर्षा बन्द हो गयी और पानी सूख गया तब उन्होंने घास को इकट्ठा करने के लिए निश्चय किया कि एक-एक दाँती पर दो-दो स्त्रियाँ काम करें। वृद्ध आदमी के साथ उसकी पत्नी भी आयी, जिसकी उम्र पचास वर्ष की है और अधिक काम करने तथा ११ बच्चों की माँ होने के कारण बहुत थक गयी है, वह बहरी भी है, पर अभी काम करने लायक है। वृद्ध के साथ उसकी १३ वर्ष की लड़की भी है, जो छोटे क़द की तेज़ और मज़बूत छोटी-सी छोकरी है। भतीजे के साथ उसकी बहू भी आयी। वह लम्बे क़द की किसानों की तरह साधारणतः मज़बूत जिस्म की थी। उसकी साली भी थी, जो एक सैनिक की स्त्री थी और उस समय गर्भवती थी। मोची के साथ उसकी स्त्री और उसकी सास आयी। स्त्री एक दृढ़काय मज़दूरनी थी और उसकी सास ८० वर्ष की एक बुढ़िया थी, जो इस समय को छोड़कर बाक़ी साल-भर भीख माँगकर गुज़र करती थी।

वे कतार बाँधकर काम पर जुट जाते हैं और जून मास की जलती हुई धूप में सुबह से लेकर शाम तक काम करते हैं। इस समय का प्रत्येक क्षण बहुमूल्य है। वे पानी अथवा 'क्वास' लाने के लिए भी अपना काम छोड़ना नहीं चाहते। एक छोटा बालक, जो उस बुढ़िया का नाती है, सबके लिए पानी लाता है। वह दाँतिये को हाथ से नहीं छोडती। उसे चलने-फिरने में बडी मुश्किल होती है। वह छोटा बालक जो बर्तन के बोझ से झुका जा रहा है, नंगे पैर छोटे-छोटे क़दम रखकर चलता है और बर्तन को बार-बार हाथ मे बदलता जाता है। छोटी लडकी भी अपने से भी अधिक भारी बोझ कंधे पर उठाती है, थोड़ी दूर लेकर जाती है, फिर ठहर जाती है, और फिर आगे ले जाने की शक्ति न होने के कारण उसे ज़मीन पर फेंक देती है। वृद्ध की स्त्री लगातार घास इकट्ठा कर रही है, वह घास का गट्ठा उठाकर ले जाती है और मारे बोझ के लड़खड़ाकर चलती और बेतरह हाँफ़ती है। मोची की माँ केवल घास इकट्ठी करती है, किन्तु यह भी उसकी शक्ति के बाहर का काम है। वृक्ष की खाल के जूते पहने वह धीरे-धीरे घसीटती है, उसकी दृष्टि बिलकुल निस्तेज है, और ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे वह बहुत बीमार अथवा मरणासन्न हो। वृद्ध जान-बूझकर उसे सब लोगों से दूर घास के ढेर के पास घास इकट्ठी करने के लिए भेजता है, ताकि वह दूसरों की देखादेखी दूना काम करने की हवस में न पड़े। किन्तु वह अपना काम छोडकर जाती नहीं और जबतक दूसरे लोग काम करते हैं, तबतक वह भी उनके साथ उसी मुरझाई हुई निस्तेज मुखाकृति के साथ काम करती रहती है।

वृक्षों के पीछे सूरज डूब रहा है, किन्तु घास के ढेर अभी ठीक नहीं हो पाये हैं, अभी बहुत-कुछ करना बाकी है। सभी महसूस करते हैं कि अब काम बन्द करने का समय आ गया है, किन्तु कोई कहता नहीं। सभी यह देखते हैं कि कोई दूसरा उसका जिक्र करे। अन्ततः बेचारा मोची यह देखकर कि अब उसमे शक्ति नहीं है, वृद्ध से प्रस्ताव करता है कि अब काम

कल के लिए छोड़ दिया जाये। वृद्ध सहमत हो जाता है, स्त्रियाँ तुरन्त अपने कपड़े, सुराही और घास उठाने के औज़ार लेने के लिए दौड़ती हैं। वह बुढ़िया जहाँ खड़ी थी, वहाँ बैठ जाती है और फिर वैसी ही अर्थ-हीन दृष्टि के साथ लेट जाती है, लेकिन जब औरतें जाने लगती हैं तब वह भी कराहती हुई उठती है और घसिटती हुई उनके पीछे-पीछे चल पड़ती है।

अच्छा, अब ज़रा उस घर की ओर देखिए, जहाँ कि लोग आकर बसे है। उसी शाम को, जबकि थके-माँदे बुवाई करनेवाले लोगों के हँसियों की खनखनाहट घर लौटते समय गाँव के पास सुनायी पडी, एरन पर पड़ते हुए हथौड़ों की आवाज़ें और उन स्त्रियों और बालिकाओं का शोरोगुल सुनाई पड़ रहा था, जो गाय-बैलों को हाँककर लाने के लिए दौड़ी जा रही थीं। इन आवाज़ों के साथ मिलती हुई कुछ दूसरे ही प्रकार की शहरवालों के मकान से निकलती हुई आवाज़ें भी सुनाई देती हैं। प्यानों बाजा बज रहा है, और क्रिकेट की गेंदों की तड़तड़ाहट को पार करता हुआ एक हंगेरियन संगीत का स्वर सुनाई पड़ता है। अस्तबल के सामने एक खुली हुई हवादार गाड़ी खड़ी हुई है, जिस में चार मोटे-ताजे घोड़े जुते हुए हैं।

गाड़ी के घोड़े अपनी छोटी-छोटी घण्टियाँ बजाते हैं। उनके सामने घास पड़ी हुई है, जिसे वे अपने खुरों से रौंदते और इधर-उधर फैलाते हैं। यह वही घास है, जिसे किसान लोग इतनी मेहनत से इकट्ठा कर रहे थे। बाड़े में कुछ हलचल मालूम होती है। एक स्वस्थ मोटा-ताजा आदमी, जो दरबानी की सेवा बजाने के लिए दी गयी लाल कमीज पहने हुए है, कोचमैनों को पुकारकर घोड़ों पर जीन कसने के लिए कह रहा है। दो किसान, जो वहाँ कोचमैनी का काम करते हैं, आवाज़ सुनकर अपनी कोठरी में से निकले और मजे में हाथ हिलाते हुए घोड़े कसने के लिए गये। घर में एक ओर 'पियानो' की आवाज़ आ रही है। यह संगीत सिखानेवाली महिला है, जो घर में रहती है और

बच्चों को गाना सिखाती है। वही इस समय किसी गीत का अभ्यास कर रही है। घर के पास ही दो धायें घूम रही हैं। उनमें से एक बूढ़ी है, और दूसरी जवान। वे बच्चों को बिस्तर पर सुलाने को जा रही हैं। इनमें से कुछ बालक अवस्था में उन बालकों के बराबर हैं, जो क्वास के घडे ले-लेकर खेतों को जा रहे थे। एक धाय अंग्रेज है, वह रूसी भाषा नहीं जानती। वह इंग्लैंड से खासतौर पर बुलायी गयी—इसलिए नही कि उसमें कोई विशेष गुण है; बस, केवल इसलिए कि वह रूसी भाषा नहीं जानती। ज़रा आगे एक फ्रांसीसी औरत है और वह भी इसी लिए नौकर रक्खी गयी है कि वह रूसी भाषा नहीं जानती है। उससे आगे एक किसान दो औरतों के साथ घर के पास की फुलवारी में पानी दे रहा है। एक दूसरा किसान एक कुँवर साहब की बन्दूक साफ़ कर रहा है। दो औरतें धुले हुए कपडे टोकरी में रक्खे लिये जा रही हैं—ये सब इन्हीं शरीफजादों के कपडे हैं, जिन्हें वे धोकर ला रही हैं। घर के अन्दर दो स्त्रियों को जूठे बर्तन माँजने से ही फ़ुरसत नहीं मिलती। दो किसान सन्ध्याकालीन लिबास पहने हुए जीने पर चढ़-उतर रहे हैं और चाय, काफी, शराब आदि ला-लाकर रख रहे हैं। छत पर मेज़ बिछा दी गयी है। भोजन अभी समाप्त हुआ है और दूसरा शीघ्र ही प्रारम्भ होगा और वह चार बजे तक कभी-कभी तो ठेठ सवेरे तक जारी रहता है। कुछ लोग बैठे सिगरेट पी रहे हैं और ताश खेल रहे हैं; कुछ लोग ऐसे हैं, जो इधर-उधर घूमते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सिगरेट फूँकते हैं, और जब जी नहीं लगता तो गाडी पर सवार होकर घूमने निकल जाते हैं।

इस घर मे स्त्री-पुरुषों को मिलाकर कुल १५ आदमी हैं, जो सबके सब स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हैं। तीस तन्दुरुस्त कामकाजी स्त्री-पुरुष उनकी सेवा में लगे रहते हैं और यह सब लीला वहाँ गाँव में ऐसे समय में होती है, जब प्रत्येक घण्टा प्रत्येक मिनट और बच्चे-बच्चे की सेवा अत्यन्त बहुमूल्य होती है।

जुलाई के महीने में भी अमीर लोगों की यही हालत होगी, जबकि किसान लोग रात-रात भर नींद हराम करके ओट (एक प्रकार का अनाज) ख़राब होजाने के भय से उन्हें काटने में व्यस्त होंगे और स्त्रियाँ भी ब्राह्म-मुहूर्त से पहले ही उठकर उन्हें ओटने लगेंगी, ताकि काम समय पर समाप्त हो जाय। और इस समय भी वह बूढ़ी स्त्री जो पिछली फसल के समय अत्यधिक श्रम के कारण मरणासन्न होगयी थी, और गर्भवती स्त्रियाँ तथा छोटे-छोटे बच्चे सभी बूते से बाहर काम करेंगे। इस समय काम करने-वाले आदमियों की, घोड़ों और गाड़ियों की सख्त ज़रूरत होगी, क्योंकि नाज इकट्ठा करना और भर-भरकर उसे घर में लाना है। इसी नाज पर मनुष्यों का जीवन अवलम्बित है। किन्तु इसी समय धनी लोग अपने आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, सैर-शिकार, नाटक-सिनेमा आदि में मस्त रहते है और दूसरे लोगों को भी काम से हटाकर अपनी सेवा में लगाते हैं।

यहाँ पर तो ये अमीर लोग ऐसा भी नहीं कह सकते कि यह काम पहले ही से होता आ रहा है, यहाँ तो ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो हम स्वयं ही ऐसे जीवन का सूत्रपात करते हैं और काम कर-करके खप-खप कर मरनेवाले लोगों से उनकी रोटी और मेहनत ले लेते हैं। हम बड़े आराम के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं, जैसे कि उस मरनेवाली धोबिन, उस बालिका वेश्या, सिगरेट बना-बनाकर स्वास्थ्य नष्ट करनेवाली उस औरत में और हमारे चारों ओर जो लोग भर पेट खाये बिना ही कठोर श्रम कर रहे हैं उनमें कोई सम्बन्ध ही नहीं है। हम इस बात को देखना नहीं चाहते कि यदि हमारे जैसे आलसी, विलासी और पतित जीवन बिताने वाले लोग न हों, तो इन बेचारे ग़रीब लोगों को इस प्रकार अपनी शक्ति से कहीं अधिक मेहनत न करनी पड़े।

हम ऐसा समझते हैं कि इन लोगों के इन प्रश्नों से और हमारे जीवन से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है—वह एक बात है और यह बिलकुल दूसरी बात, और हम जो यह जीवन बिता रहे हैं वह बिल-कुल निर्दोष और पवित्र है। हम रोमन लोगों के जीवन पढ़ते हैं और उन

अमीरों के अमानुषिक व्यवहार पर आश्चर्य करते हैं, जब हम यह देखते हैं कि वे तो बढ़िया-बढ़िया मकान और क़ीमती शराब से अपने पेट को ठूँस-ठूँस कर भर रहे हैं और दूसरे लोग फ़ाके कर रहे हैं। हम अपने दास-दासी रखनेवाले पूर्वजों की बर्बरता पर हैरान होते हैं, जब हम सुनते है कि वे नाटक और गाने में मस्त रहते थे और बाग़ या शिकार-गाह बनाने के लिए गाँव के गाँव उजाड़ देते थे। हम अपनी उच्चता के शिखर पर बैठे हुए उनकी इस प्रकार की अमानुषिकता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। किन्तु हम यह देख नहीं पाते कि हमारी भी ऐसी स्थिति हो गयी है और अब भी हो रही है। हम सुनते नहीं, हम देखते नहीं, और हम अपने मन से विचार नहीं करते।

किन्तु यह सब हुआ क्यों ?

: २६ :

एक आदमी जो अपने को मनुष्य समझता है—ईसाई न सही, शिक्षित और दयालु न सही, केवल अपने को एक ऐसा मनुष्य मानता है कि जो दिल और दिमाग़ से एकदम ही ख़ाली नहीं है—भला वह आदमी इस प्रकार का रहन-सहन कैसे पसन्द कर सकता है कि सब मनुष्यो को जीने के लिए जो मेहनत करनी पडती है, उसमे वह कोई भाग लिये बिना ही दूसरों के परिश्रम को हड़प करता रहे और इस प्रकार लोगों पर बोझ बनकर दूसरे लोगों के श्रम को बढ़ाता रहे। इस तरह और लोगों के जीवन का भी भार पड़ जाने से ग़रीब लोगों का विनाश भी ज्यादा संख्या मे होने लगता है।

लेकिन इस तरह के आदमी हमारे सभ्य ईसाई-संसार में भरे पड़े हैं। यही क्यों, हमारे सभ्य ईसाई-संसार का तो आदर्श ही यह हो रहा है कि सब प्रकार के आराम पाने के लिए जायदाद अर्थात धन को अधिक से अधिक परिमाण में प्राप्त किया जाय और उन्हें जीवन-संघर्ष में भाग भी न लेना पड़े। वे इस कोशिश में रहते हैं कि जीवन-संघर्ष की चपेटों से विनष्ट होनेवाले अपने भाइयों के श्रम से ज्यादा से ज्यादा लाभ उठाया जाये।

मनुष्य इस भयंकर भूल मे कैसे पड गया ?

परमेश्वर अथवा प्रकृति का नियम, जिसके अनुसार संसार का कार्य चल रहा है, अच्छा है या ख़राब, यह मैं नहीं जानता। परन्तु हम देखते

हैं कि जहाँतक हमारा ज्ञान जाता है, संसार की ऐसी स्थिति तो है ही कि उसमें ऐसे अनेकों मनुष्य सदा से रहते आये हैं जिन्हें तन ढकने को कपड़ा नहीं मिलता, पेट-भर खाने को भोजन नहीं मिलता, और जिनके पास सरदी, वर्षा और धूप से बचने के लिए एक छप्पर भी नहीं है और इन सब लोगों को प्रकृति से लगातार युद्ध करना पड़ता है, ताकि वे कपड़े बनाकर अपने बदन को ढक सकें, घर की छत बनाकर धूप और वर्षा से अपनी रक्षा कर सकें और अपनी, अपने बाल-बच्चों तथा अपने माता-पिता की दिन में दो या तीन बार क्षुधा शान्त कर सकें।

लोगों के जीवन को आप जहाँ भी कहीं देखें; यूरोप में देखें; चीन में देखें, अमेरिका या रूस में देखें, इन देशों के सम्पूर्ण समाज का जीवन देखें, अथवा किसी खास हिस्से का जीवन देखें, फिर चाहे किसी भी समय का देखें, प्राचीनकाल के खानाबदोशों का जीवन देखें या आधुनिक समय के भाफ और बिजली से चलनेवाली मशीनों के प्रगतिशील युग के जीवन को देखें, हमें सब जगह बस यही एक बात दिखाई पड़ती है कि मनुष्य बराबर लगातार मेहनत करते हैं, फिर भी उन्हें अपने लिए, अपने बाल-बच्चों के लिए तथा बड़े-बूढ़ों के लिए पर्याप्त भोजन और वस्त्र नहीं मिलता और न वे अपने रहने के लिए घर बना पाते हैं। हम यह भी देखते हैं कि मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या पुराने ज़माने में और इस समय भी, जीवन की सख्त जरूरतों के पूरा न होने के कारण तथा ताकत से ज्यादा काम करने के कारण, घुल-घुलकर मर जाती है।

हम कहीं भी रहते हों, यदि हम अपने चारों ओर एक लाख मील का, एक हज़ार अथवा दस मील का, या केवल एक ही मील का घेरा बनालें और फिर अपने घेरे के अन्दर रहनेवाले लोगों के जीवन को देखें तो हमें पता चलेगा कि भूख से अशक्त और दुर्बल बालक, बूढ़े स्त्री और पुरुष, गर्भिणी स्त्रियाँ, रोगी और दुर्बल आदमी अपनी शक्ति से बाहर कठोर परिश्रम करते हैं। उन्हें जीवनी-शक्ति को बनाये रखने के लिए न काफी भोजन मिलता है, न काफी आराम, और इसलिए

अकाल ही में वे काल के शिकार हो जाते हैं; कुछ ऐसे आदमियों को भी देखेंगे कि जो अपनी भरी जवानी में ही भयंकर और हानिकारक कामों को करने के कारण मर जाते हैं।

हम देखते हैं कि जबसे संसार का प्रारम्भ हुआ तभीसे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के लिए सिरतोड मेहनत करते हैं, दुख और यातनायें भी सहते हैं, पर अभी तक वे अपनी इस मुश्किल को हल नहीं कर पाये। इसके अलावा हम यह भी जानते हैं कि हममें से प्रत्येक मनुष्य—फिर चाहे वह कहीं और किसी रूप में रहता हो—प्रत्येक दिन और प्रत्येक घन्टे मनुष्य-समाज के द्वारा किये हुए परिश्रम की इच्छा अथवा अनिच्छा से, समझते-बूझते हुए अथवा अनजान में, लाभ उठाता है।

मनुष्य कहीं भी और किसी रूप से रहता हो, पर यह निश्चित है कि उसके सिर पर जो मकान की छत है वह स्वयं नहीं बनी; चूल्हे में जलनेवाली लकड़ियाँ भी अपने आप वहाँ नहीं पहुँच गयीं, न पानी बिना लाये स्वयमेव आगया, और पकी हुई रोटियाँ भी आसमान से नहीं बरसीं। उनका खाना, कपडा और पैरों के जूते ये सब उसके लिए बनाये गये हैं और इनके बनानेवाले पिछली पीढ़ियों में रहनेवाले वे लोग नहीं थे, जो अब मर-खप गये हैं। ये सब काम आजकल रहने वाले वे ही लोग कर रहे हैं, जो अपनी ज़रूरतें पूरा करने नहीं पाते और दुनिया में दूसरों के लिए मेहनत करते घुल-घुलकर मर जाते हैं।

इस संसार के लोग तूफान में पडे हुए ऐसे जहाज़ के यात्रियों के समान हैं कि जिसमें खाने की सामग्री बहुत कम है। हम सबको, ईश्वर ने कहिए अथवा प्रकृति ने, ऐसी स्थिति में रक्खा है कि हममें से प्रत्येक को अपने भोजन की प्राप्ति के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए। और अभाव के साथ सदा युद्ध करते रहना चाहिए। यदि हममे से कोई भी आदमी मेहनत न करे अथवा दूसरे लोगों की मज़दूरी का दुरुपयोग करे तो इससे हमारा तथा हमारे समाज का एक समान नाश ही होगा।

यदि हम अपने को सभी के लिए लाज़मी और स्वाभाविक श्रम से मुक्त कर देते हैं और फिर भी अपने को चोर और धोखेबाज़ नहीं समझते हैं तो यह केवल दो बातों को फ़र्ज़ कर लेने से हो सकता है। एक तो यह कि हम लोग, जो लाज़मी मेहनत करने से बचते हैं वे इन काम करनेवाले लोगों से विभिन्न श्रेणी के हैं और वे समाज में और ही तरह का एक विशिष्ट काम करने के लिए पैदा हुए—अर्थात् वे मक्खी रानी अथवा नर-मक्खी की तरह हैं कि जिनका काम साधारण मक्खियों से जुदा है। और दूसरी यह कि हम लोग दूसरों के लिए जो काम करते हैं, वे इतने सब लोगों के लिए उपयोगी हैं कि हम दूसरे लोगों पर अपने हिस्से का बोझ डालकर उन्हें जो हानि पहुँचाते हैं, उसका पूरा-पूरा बदला उनके द्वारा चुका दिया जाता है।

पुराने ज़माने में जो लोग दूसरे आदमियों की कमाई पर जीवित रहते थे, वे अव्वल तो यह दावा करते थे कि वे एक दूसरी ही श्रेणी, दूसरी ही जाति के मनुष्य हैं, और दूसरे यह कि ईश्वर ने उन्हें एक विशिष्ट कार्य करने के लिए भेजा है—दूसरों का भला करने के लिए, अर्थात्, उनपर शासन करने और उन्हें शिक्षा देने के लिए। इसलिए वे दूसरों को विश्वास दिलाते थे और स्वयं ही कुछ अंश तक इस बात में विश्वास करते थे कि लोगों की मेहनत से मिलनेवाले लाभ की अपेक्षा वे लोगों के लिए कहीं अधिक उपयोगी और आवश्यक काम करते हैं।

जबतक लोगों में यह विश्वास बना रहा कि सब लोग एक-समान नहीं हैं—कुछ जातियाँ स्वभावतः ही ऊँची हैं और ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से मानव-समाज के कार्यों में हस्तक्षेप करता है तबतक तो यह दलील चलती रही। किन्तु ईसाई-धर्म के जन्म और मनुष्य की समानता व एकता का विचार पैदा होने के बाद यह युक्ति अपने पूर्व रूप में पेश न की जा सकी। इस बात का दावा करना अब सम्भव न था कि कुछ मनुष्य जन्म से ही ऊँची श्रेणी के होते हैं और ईश्वर ने उन्हें खास काम सौंपा है। यह दलील पेश करनेवाले अब भी कहीं-कहीं हैं सही. पर धीरे-धीरे

यह दलील मिटती जा रही है और क़रीब-क़रीब बिलकुल ही मिट चुकी है। यद्यपि यह दलील नहीं रही है, फिर भी यह बात तो अभी तक वैसी ही बनी हुई है।

इस बात के समर्थन के लिए अनेकों नयी दलीलें निकाली गयी हैं। यह बात कितनी विचित्र क्यों न लगे, किन्तु यह सच है कि विज्ञान या शास्त्र की मुख्य प्रवृत्ति यही है कि भ्रम-बन्धन से मुक्त होने की दलीलें सोच निकाली जायँ। धर्म-विज्ञान और क़ायदा-क़ानून सम्बन्धी विज्ञान का यही उद्देश्य रहा है; तत्त्व-ज्ञान के नाम से पुकारे जानेवाले शास्त्र का भी यही उद्देश्य था; और आजकल के नये भौतिक विज्ञान का भी यही लक्ष्य हो रहा है।

किसी सम्प्रदाय-विशेष अथवा किसी खास चर्च के माननेवाले लोग ही ईसामसीह के सच्चे अनुयायी हैं और इसलिए मनुष्यों की आत्मा और शरीर के ऊपर उसी सम्प्रदाय अथवा चर्च का सम्पूर्ण और अमर्यादित अधिकार है, यह साबित करनेवाले धर्मशास्त्रों का भी यही मुख्य हेतु है।

क़ायदा-क़ानून से सम्बन्ध रखनेवाले सभी विज्ञान—राज्य-संचालन सम्बन्धी फ़ौजदारी, दीवानी अथवा अन्तर्राष्टीय नियम इस बात के लिए हैं। तत्वज्ञान-सम्बन्धी अनेक मत, ख़ासकर हेगल का मत—जो बहुत समय तक मनुष्यों के दिमाग़ पर शासन करता रहा—यही बात सिद्ध करना चाहता था। वह यह प्रतिपादित करता था कि इस समय जो स्थिति है वह ठीक ही है। मानवी शक्तियों के विकास के लिए राज्य-तन्त्र एक आवश्यक पद्धति है। कान्ट का आधिभौतिक वाद और उससे उत्पन्न होनेवाला यह सिद्धान्त कि मनुष्य-समाज एक विराट् शरीर है, डारविन का जीवन-संघर्षवाला सिद्धान्त, जो आजकल सर्वमान्य हो रहा है और जो मनुष्य-समाज की विभिन्नता और असमानता प्रतिपादित करता है, आजकल लोगों को बहुत पसन्द आनेवाला मानसशास्त्र, प्राणिशास्त्र और समाजशास्त्र—इन सबका भी वही एक ही लक्ष्य है। ये विज्ञान लोक-प्रिय होगये है, क्योंकि वे हमारी उस वर्तमान स्थिति का समर्थन करते

हैं, जिसमें होशियार मनुष्य अपने को मेहनत के ज़रूरी कर्तव्य की कमाई का आनन्द दे सकते हैं।

ये सारे सिद्धान्त, जैसा कि सदा से होता आया है, बड़े-बड़े आचार्यों की ग़ैबी गुफाओं में गढ़े जाते हैं और फिर अस्पष्ट-अगम्य भाषा में लोगों के अन्दर उनका प्रचार किया जाता है और लोग उन्हें स्वीकार कर लेते हैं।

पुराने जमाने में जिस तरह धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बारीकियाँ, जो चर्च और राज्य मे होनेवाली ज़बरदस्ती और हिंसा का समर्थन करती थीं, केवल पुरोहितों की ही सम्पत्ति थीं और सर्वसाधारण में जिस तरह गढ़े-गढ़ाये सिद्धान्तों को फैलाया जाता था, जिन्हें लोग श्रद्धा-वश स्वीकार कर लेते थे और जिनसे ऐसी बातों का प्रचार किया जाता था कि राजाओं, धर्माचार्यों और अमीरों की सत्ता ईश्वरदत्त है, उसी तरह बाद को यह घोषित किया जाने लगा कि विज्ञान नाम-धारी शास्त्र की दार्शनिक और कानूनी सूक्ष्मतायें विज्ञान के पुरोहितों की ही एकमात्र सम्पत्ति हैं और लोगों के अन्दर यह सिद्धान्त फैलाया जाने लगा कि हमारी सामाजिक अवस्था अर्थात् समाज का संगठन जैसा इस समय है वैसा ही होना चाहिए, इसके विपरीत कुछ नहीं हो सकता। लोगों ने भी बिना तर्क-वितर्क किये श्रद्धा-पूर्वक उसे स्वीकार कर लिया।

आजकल यह कहा जाता है कि श्रम-विभाग का नियम ऐसा है जिसे विज्ञान भी सिद्ध कर सकता है, और इसलिए दुनिया में कुछ लोग ऐसे होने ही चाहिएँ कि जो भूखों मरकर भी मेहनत करें और दूसरे सदा मौज उड़ाते रहें। यही मनुष्य-जीवन का नियम है कि कुछ लोग बरबाद हों और दूसरे मजे करें और हमें इस नियम के ताबे रहना ही होगा।

रेलवे के लोगों से लेकर लेखक या कला-कोविद तक विविध प्रकृतियोंवाले जितने शिक्षित कहे जानेवाले लोग हैं, उनके आलसी जीवन का एकमात्र यही बचाव है। वे कहते हैं कि हम लोगों ने सबके लिए एकसमान लागू होनेवाले मेहनत के कर्तव्य से इसलिए अपने को मुक्त

कर लिया है, ताकि हम दुनिया को उन्नत बना सकें। हम मानव-समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं—इतने उपयोगी कि लोगों की मेहनत का फल छीनकर हम जो हानि पहुंचाते हैं, उस सबकी पूर्ति कर देते हैं।

पहले ज़माने के आलसी लोग अपना बचाव करने के लिए जिस प्रकार जवाब देते थे, उससे आजकल के लोगों का यह जवाब भिन्न मालूम होता है।

किन्तु यह भेद केवल मालूम ही पड़ता है। यह भेद ऊपरी है। बस, कहने के ढंग में अन्तर है, किन्तु वास्तव में वह है वही, क्योंकि वह एक ही सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जो लोग बिना मेहनत किये दूसरों के श्रम से लाभ उठाते हैं जैसे कि फैरोआ और उसके धर्माचार्य, रोमन तथा मध्यकालीन सम्राट और उनके नागरिक; सामन्त, पुरोहित और धर्माचार्य—इन सबके जवाब में सदा दो बातें रहती हैं।

एक तो यह कि हम दूसरे लोगों की मेहनत से जो लाभ उठाते हैं, उसका कारण यह है कि हम विशिष्ट वर्ग के मनुष्य हैं और इन लोगों का शासन करने तथा शिक्षा देने का काम ईश्वर ने हमें सौंपा है।

दूसरा यह कि जिन लोगों के पास से हम श्रम फल को ले लेते हैं वे उस भलाई का मूल्य नहीं आंक सकते, जो हम बदले में उनके साथ करते हैं।

हमारे ज़माने की दलील में और प्राचीन काल की दलील में यदि कुछ अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि हम लोगों की दलील पहले के लोगों की दलील की अपेक्षा अधिक असत्य और सदोष है।

प्राचीन काल के धर्माचार्य और सम्राट तो अपने को दैवी पुरुष मानते थे, और लोग भी उनकी इस बात को क़बूल करते थे। इसलिए वे तो बड़ी आसानी से यह कह सकते थे कि हमें दूसरों की मज़दूरी से लाभ उठाने का हक़ है, वे तो दावा करते थे कि हमें ईश्वर ने पैदा ही इसलिए किया है और ईश्वर का यह उन्हें आदेश था कि ईश्वर की प्रेरणा

से जो दिव्य सत्य उन्हें प्राप्त हो, उनको जनता तक पहुँचा करके लोगों पर शासन करें।

किन्तु आधुनिक शिक्षित लोग, जो अपने हाथ से मेहनत नहीं करते, सब मनुष्यों को समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, इसलिए वे इस शंका का निराकरण नहीं कर सकते कि क्यों वे आराम-तलब और आलसी-जीवन व्यतीत करने के योग्य समझे जायँ, जबकि और भी करोड़ों मनुष्य इस दुनिया में है। शिक्षा भी तो रुपये से होती है न? और रुपये का अर्थ है शक्ति। तब फिर दुनिया-भर के और सब लोगों को छोड़कर यही लोग उस शक्ति का उपभोग करने, शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी क्यों समझे जायें।

: २७ :

जिन लोगों ने श्रम करके कर्तव्य से अपने को मुक्त कर लिया है वे अपना बचाव किस प्रकार करते हैं, यह सीधे-सादे किन्तु साफ़ शब्दों में कहना हो तो यों कहा जा सकता है।

हम लोग खुद काम नहीं करते और ज़बरदस्ती दूसरे लोगों की कमाई पर जीते हैं, किन्तु इससे हम दूसरे लोगों का उपकार करने में अधिक समर्थ हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो हम लोग दूसरे लोगों की कमाई का ज़बरदस्ती उपयोग करके प्रत्यक्ष हानि पहुँचाते हैं और उनके जीवन संघर्ष को और भी कठिन बना देते हैं, किन्तु ऐसा करते हुए भी दरअसल हम उनका हित ही करते हैं—वह हित ऐसा नहीं है जो लोगों को स्पष्ट दिखायी पड़े और जल्दी ही उनकी समझ में आ जाये। यह बात बड़ी विचित्र है, किन्तु पुराने ज़माने के लोगों की तरह ही आजकल के लोग भी जो श्रम न करके दूसरों के बल पर ही जीते हैं, इस बात पर विश्वास करते हैं, और उससे अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेते हैं। वे कहते हैं:—

मैं राजा, अफ़सर या धर्माचार्य की हैसियत से जनता की सेवा करता हूँ, व्यापार, व्यवसाय या नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा संसार का उपकार करता हूँ। ये सब काम भी संसार के लिए उपयोगी हैं।

अब हम एक-एक करके उन सिद्धान्तों की जाँच करते हैं कि जिनके ऊपर से लोग अपने कामों की उपयोगिता का आधार रखते हैं।

एक आदमी दूसरे के साथ जो उपकार करता है उसकी दो कसौटियाँ

हो सकती हैं। एक बाहरी, जिसे लाभ पहुँचाया जाता हो, वह उस लाभ को स्वीकार करे; और दूसरी आन्तरिक, जो उपकारी के काम के मूल में उपकार करने की भावना है या नहीं !

राज्य-संचालकवर्ग, जिसमें राज्य द्वारा स्थापित मठो और मन्दिरों के महन्तों का भी मैं समावेश करता हूँ, कहता है कि हम प्रजा अर्थात् सर्व-साधारण के लिए उपयोगी हैं।

सम्राट्, राज, प्रजा-तन्त्र राज्य का प्रधान, प्रधान-मन्त्री, न्याय-मन्त्री, युद्ध-मन्त्री, शिक्षा-मन्त्री, मठों के महन्त और इन सबके नीचे काम करने-वाले कर्मचारी तथा नौकर-चाकर अपनेको मनुष्य-मात्र के लिए लाज़िमी तौर पर आवश्यक श्रम-धर्म से मुक्त करके अपने भरण-पोषण का भार दूसरों पर जो डाल देते हैं, उसका बस यही कारण है कि वे समझते हैं कि उनके कामों से मज़दूरों की मेहनत का बदला चुक जाता है।

अब हम इनके दावे को पहली कसौटी पर कसते हैं। किसान या और ग़रीब लोग क्या इस बात को स्वीकार करते हैं कि सरकारी कर्मचारियों के कामों से उन्हें लाभ मिलता है ?

हाँ, वे स्वीकार करते हैं। अधिकांश लोग मानते हैं कि सरकार के बिना काम नहीं चलता। बहुत-से लोग सिद्धान्ततः उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु व्यावहारिक रूप से देखने पर यह बात ऐसी मालूम नहीं होती।

ऐसा एक भी राज्य-सम्बन्धी अथवा सामाजिक कार्य नहीं है कि जिसे बहुतेरे लोग हानिकारक न समझते हों। अदालत, बैंक, म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड आदि स्थानीय संस्थायें, पुलिस और मठ आदि ऐसी एक भी संस्था नहीं कि जिसे लोग बुरा और हानिकारक न समझते हों। मन्त्री से लेकर पुलिसमैन तक और पादरी से लेकर कब्र खोदने तक की जितनी राजनैतिक व धार्मिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन सबको एक वर्ग के लोग उप-योगी मानते हैं और दूसरे वर्ग के लोग हानिकारक समझते हैं। और यह स्थिति केवल रूस में ही हो, सो बात नहीं, फ्रांस, अमेरिका और सारी दुनिया का यही हाल है।

राजनीतिज्ञ लोगों के कामों को सभी लोग कभी भी उपयोगी और लाभदायक नहीं समझते; पर इससे भी बड़ी बात यह है कि उन कामों को सम्पादन करने के लिए पशु-बल का प्रयोग करना पड़ता है और उन्हें सफल बनाने के लिए खून-ख़राबी, फाँसी, जेल, अनिवार्य 'कर' आदि-आदि बातें ज़रूरी हो उठती हैं।

इससे यह नतीजा निकलता है कि राजनीतिज्ञों की प्रवृत्तियो की उपयोगिता सब लोग तो कभी स्वीकार नहीं करते। एक वर्ग तो उनकी उपयोगिता से सदा इन्कार ही करता है और इस उपयोगिता की प्राप्ति होती भी है तो सदा शारीरिक बल के द्वारा, यह इसमें एक ख़ास बात है। इसलिए यह बात तो नहीं कही जा सकती कि जिन लोगों के लिए राजनैतिक कार्य किये जाते हैं, वे उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

अब हम दूसरी कसौटी को देखते हैं। हम राजनीतिज्ञों से पूछें—राजा से लेकर पुलिस के सिपाही तक, प्रधान से लेकर क्लर्क तक, महन्त से लेकर कब्र बनानेवाले तक किसीसे भी पूछें और उससे उसके अन्तरात्मा का सच्चा उत्तर माँगें कि वह जो काम करता है उसमें उसका आन्तरिक मूल उद्देश्य लोगों का कल्याण करना है या कुछ और है? राजा का, प्रधान का, मन्त्री का, गाँव के मुखिया का, मन्दिर के चपरासी का या शिक्षक का पद लेने को जो वह तैयार होता है, वह लोक-कल्याण के भाव से अथवा निजी लाभ के ख़याल से ?

सच्चे मनुष्य का जवाब यही होगा कि इन कामों को स्वीकार करने का कारण निजी लाभ है।

तब वह कौन-सी बात है, जो यह साबित करती है कि सरकार मानव-समाज के लिए उपयोगी है ? बस, बात यह है कि जो लोग सरकार चलाते हैं उनका उसकी उपयोगिता में पक्का विश्वास है और वह सदा से चली आरही है। किन्तु सदा से चले आने की बात तो यह है कि गुलामी, वेश्या-वृत्ति और युद्ध आदि कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो केवल

निरुपयोगी ही नहीं, प्रत्युत् अत्यन्त जघन्य हैं और वे सदा से चली आती हैं।

पूँजीपति—जिनमें व्यापारी, कारखानेवाले, रेलवे के संचालक, बैंकर और ज़मींदार भी शामिल हैं—यह विश्वास करते हैं कि वे अपने कार्यों से इस प्रकार लाभ पहुँचाते हैं, जिससे उनके द्वारा होनेवाली हानि की पूर्ति हो जाती है। पर उनके इस विश्वास का क्या आधार है? उनके कार्यों की उपयोगिता को स्वीकार कौन करता है? इस प्रश्न के उत्तर में चर्च और सरकारी कर्मचारी उन हज़ारों और लाखों मज़दूरों की ओर संकेत कर देते हैं, जो सिद्धान्त रूप में राज्य और चर्च की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। किन्तु ये बैंकर, शराब बनानेवाले, मख़मल, पीतल और शीशे का काम करनेवाले लोग—बन्दूकें बनानेवालों का तो कोई ज़िक्र ही नहीं, मगर ये बाक़ी लोग—किसकी ओर संकेत करेंगे, जब उनसे यह पूछा जायगा कि तुम्हारे कामों की उपयोगिता को स्वीकार करनेवाले कौन हैं?

ये दुनिया में कुछ ऐसे आदमी हैं जो छींट, रेल, शराब और ऐसी ही अन्य चीज़ों की उपयोगिता समझते हैं। तो उससे कहीं अधिक ऐसे आदमी होंगे कि जो इन चीज़ों को हानिकारक समझते हैं। रही व्यापारियों और ज़मींदारों की बात; सो उनके काम को ठीक बताने का तो कोई उद्योग भी न करेगा।

इसके अतिरिक्त इस काम से मेहनत-मज़दूरी करनेवाले लोगों को सदा हानि पहुँचती है और उसमें जबरदस्ती भी होती है, जो देखने में सरकारी ज़ुल्म की अपेक्षा भले ही कम मालूम पडे, किन्तु परिणाम उसका उतना ही निठुर होता है। लोगों की हर प्रकार की तंगी का अनुचित लाभ उठाकर ही औद्योगिक और व्यापारिक कार्य चलते हैं। मज़दूरों की तंगी से लाभ उठाकर ही उनसे कठोर और अप्रिय कार्य कराया जाता है, उनके माल को सस्ती-से-सस्ती क़ीमत पर ख़रीदा जा सकता है और उनको जो माल चाहिए, उसे तेज़-से-तेज़ कीमत पर बेचा जा सकता

है। लोगों की तंगी से लाभ उठाकर ही उनके पास से कड़ा सूद वसूल किया जा सकता है। औद्योगिक और व्यापारिक कार्यों को चाहे जिस दृष्टि से देखिए, हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि जिनके फ़ायदे के लिए इनका होना आवश्यक बताते हैं वे लोग तो इस फ़ायदे को मानते ही नहीं, वे सिद्धान्त में भी नहीं मानते कि कल-कारखानों आदि से उन्हें फ़ायदा होता है। बल्कि इसके विपरीत वे यह कहते हैं कि ज़मींदारों, महाजनों और पूँजीपतियों के कामों से तो उलटा नुक़सान होता है।

किन्तु अब दूसरी कसौटी पर कसते हैं और पूछते हैं कि पूँजीपति किस ख़याल से काम करते हैं ? सरकारी कर्मचारियों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो उत्तर मिला था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक ठीक उत्तर मिलेगा।

कोई राज-कर्मचारी यह कहे कि अपने व्यक्तिगत लाभ के साथ ही वह लोक-हित की तरफ़ भी दृष्टि रखता है, तो यह बात असम्भव नहीं कही जा सकती है। हम सभी को ऐसे आदमी मिले होंगे। परन्तु पूँजी-पति तो अपने स्वार्थों के कारण लोक-हित का ख़याल रख ही नहीं सकते। वे यदि धन उपार्जन और संचय करने के अतिरिक्त अपने कार्यों का कोई दूसरा उद्देश्य रक्खें तो अपने साथियों की दृष्टि में बेवक़ूफ़ समझे जायेंगे।

एक अजीब बात यह है कि ये पूँजीपति इस बात को कि उनके कामों से लोगों का हित होता है, इतने विश्वास के साथ मानने लग गये हैं कि इस कल्पित लाभ के बहाने स्वयं परिश्रम करने के कर्तव्य से छुट्टी पाने में क़तई संकोच नहीं करते।

विद्या और कलावाले मनुष्यों ने भी मेहनत से छुट्टी पाकर अपना बोझ दूसरों के सिर पर लाद दिया है। उनको पूर्ण विश्वास हो गया है कि वे अपनी कलामयी कृतियो और विद्या के द्वारा जो लोक-हित करते हैं, उससे उन्होंने अपने भरण-पोषण का दूसरों पर जो बोझ डाला है, उसका बदला मिल रहा है। किन्तु उनके इस विश्वास का आधार क्या है ?

जिस तरह हमने राज-कर्मचारी तथा उद्योग-धन्धेवाले लोगो से पूछा था उसी तरह इनसे भी पूछना चाहिए कि मज़दूरी करनेवाले—सब लोग अथवा उनके ज्यादातर भाग—क्या इस लाभ को स्वीकार करते हैं ? इसका उत्तर बहुत शोकमय मिलेगा।

सरकारी कर्मचारियो तथा धर्मोपदेशकों की प्रवृत्ति उपयोगी है, ऐसा सिद्धान्त-रूप में तो सब कोई मानते हैं और व्यवहार मे भी मजदूरी करने वाले लोगों का एक बड़ा भाग उसकी उपयोगिता को स्वीकार करता है। उद्योग-धन्धे वालों की प्रवृत्ति की उपयोगिता को बहुत-कम मज़दूर स्वीकार करते हैं। परन्तु विद्या-कलावाले लोगों की प्रवृत्ति की उपयोगिता तो मज़दूरो में से कोई भी स्वीकार नहीं करता। मज़दूर विद्या-कलावाले लोगो के समस्त जीवन का भार अपने कन्धों पर उठाता है, वह उन्हे खिलाता है, पिलाता है, और पहनने को कपड़े देता है। फिर भी वह इस बात को तो कभी मान ही नही सकता कि इन लोगों का काम हमारे लिए उपयोगी और लाभदायक है। उसे तो यह काम निरर्थक और नीचे गिरानेवाला मालूम होता है।

ठीक इसी दृष्टि से मज़दूर अपने कमाये हुए पैसो से बनाये गये विद्यापीठों, पुस्तकालयो, संग्रहालयों, चित्रालयों, अजायब-घरों तथा नाटको को देखते हैं। वे तो इस प्रवृत्ति को निश्चित रूप से इतना हानिकारक मानते हैं कि वे अपने बालकों को पढ़ने के लिए पाठशालाओं में भेजते ही नहीं और जहाँ कहीं लोगों को इस काम में शरीक करना ज़रूरी समझा गया, वहाँ कानून बनाकर लोगों को मजबूर किया गया कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें।

मज़दूरी-पेशा लोग इस बात को हमेशा बुरा ही समझते है, लेकिन जब वे खुद मजदूर नहीं रहते हैं और सम्पत्ति-सञ्चय अथवा नामधारी शिक्षा के कारण श्रमिक वर्ग में से निकल कर दूसरों की मेहनत पर जीने वाले वर्ग में चले जाते हैं, तब इसे बुरा मानना भी छोड देते हैं। विद्या तथा कलावाले मनुष्यो की प्रवृत्ति की उपयोगिता को मज़दूर लोगन

तो स्वीकार करते हैं और न कभी स्वीकार कर ही सकते हैं; किन्तु फिर भी इन प्रवृत्तियों के लिए अपना पेट काटकर साधन जुटाने ही पड़ते हैं।

राजकर्मचारी दूसरों को फाँसी दे सकते हैं या जेल भेजकर अपना काम करा सकते हैं। व्यापारी आदमी दूसरे की मज़दूरी से लाभ उठाकर उसके पास से आखिरी कौड़ी तक निकाल लेता है और फिर उसके लिए दो ही मार्ग रह जाते हैं कि या तो योंहीं भूखों मरे या जीवन और स्वास्थ्य का नाश करनेवाली गुलामी करे। किन्तु विद्या और कलावाले लोग तो प्रत्यक्ष रूप में किसी को किसी बात के लिए मजबूर करते ही नहीं। वे तो सिर्फ उन लोगों के सामने अपनी चीज़े पेश कर देते हैं कि जिनको उनकी ज़रूरत है या जो उन्हें लेना चाहते हैं। किन्तु अपनी चीज़ें तैयार करने के लिए (जिनकी मज़दूर-पेशा लोगों को ज़रूरत नहीं होती है) मकान बनाने, विद्या-पीठ, विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, आजायब-घर, पुस्तकालय,संग्रहालय, आदि स्थापित करने और चलाने के लिए तथा अपने और अपने साथियों के निर्वाह के लिए वे सरकारी लोगों के द्वारा ज़बरदस्ती लोगों से मेहनत कराते हैं।

किसी विद्वान या कलाविद से उसकी प्रवृत्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध मे पूछे तो बड़ा ही अजीब उत्तर मिलेगा। राजतंत्री लोग तो कह भी सकते हैं कि उनका उद्देश्य लोकहित करना है और इस कथन में कुछ सचाई भी है। लोकमत भी इस बात को स्वीकार करता है। किन्तु विद्या-कला-वाले मनुष्यों का उत्तर तो एकदम निराधार और उद्धत-सा होता है।

ऐसे लोग बिना किसी प्रकार का प्रमाण दिये यह कहते हैं कि उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसके बिना मानव-समाज बिल्कुल नष्ट हो जायगा। वे यह दावा करते हैं, हालाँकि उनके सिवा और कोई न तो उनकी प्रवृत्ति के महत्त्व को समझता है और न उसे उपयोगी मानता है और खुद उनकी ही व्याख्या के अनुसार सच्ची कला का उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं होना चाहिए। विद्या और कलावाले मनुष्य तो अपने प्रिय व्यवसाय में मस्त रहते हैं और इसकी पर्वा नहीं

करते कि उनकी प्रवृत्ति से लोगों को क्या लाभ होगा ? उनको तो इस बात का सदा विश्वास होता है कि वे लोग जन-समाज के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी कार्य करते हैं।

ग़रज़े कि राजतन्त्री लोग तो ईमानदारी के साथ इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि उनकी प्रवृत्ति का मुख्य कारण व्यक्तिगत लाभ है और उसके बाद श्रमिक लोगों के लिए जितना हो सकता है उतना उपयोगी बनने की कोशिश करते है। व्यापारी तथा कारखानेवाले लोग अपनी प्रवृत्ति की स्वार्थपरायणता को मानकर उसे लोकहित का स्वरूप देने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु वैज्ञानिक और कला-विज्ञ लोग अपनी प्रवृत्ति को झूठमूठ भी उपयोगिता का रूप देने की ज़रूरत नहीं समझते वे तो साफ़ कह देते हैं कि विज्ञान और कला का आधार उपयोगितावाद नहीं होना चाहिए। उन्हें अपनी प्रवृत्ति की उपयोगिता ही नहीं पवित्रता के विषय में भी बड़ा गहरा विश्वास है।

ग़रज़े कि जिन लोगों ने जीवन-निर्वाह के निमित्त की जानेवाली आवश्यक और अनिवार्य मेहनत से अपने को मुक्त कर लिया है उनके पास ऐसा करने का कोई कारण नहीं, यह एकदम निश्चित बात है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि यह सभी लोग अपने जीवन को पवित्र और पूर्ण मानते है और बिलकुल निश्चिन्त होकर अपने जीवन को व्यतीत करते हैं।

इस महा भयंकर भ्रम की तह में कोई बात, कोई खोटा सिद्धान्त अवश्य होना चाहिए।

: २८ :

वस्तुतः जो लोग दूसरों के श्रम पर जीना पसन्द करते हैं, उनकी स्थिति का आधार कोई एकाध छोटा-मोटा ख़याल नहीं प्रत्युत एक पूरा का पूरा सिद्धान्त है। यह अकेला एक ही नहीं, तीन सिद्धान्त हैं। ये एक-एक करके कई शताब्दियों में पैदा हुए और अब उन सबके मिश्रण से यह भयकर भ्रम—यह महान धोखा पैदा होगया है। समाज के अन्याय पर यह भ्रम परदा डाले रहता है।

आजीविका के लिए मेहनत करना मनुष्य-मात्र का मूल कर्तव्य है। इस कर्त्तव्य को छोड़ने का जो सिद्धान्त समर्थन करते हैं, उनमें सबसे पुराना ईसाई-धर्म का है। इसके अनुसार ईश्वर ने ही मनुष्यों को एक समान नहीं बनाया। सूर्य जिस प्रकार चन्द्रमा से और तारों से विभिन्न है, इसी प्रकार मनुष्यों में भी भिन्नता है। कुछ मनुष्यों को तो भगवान ने इसलिए पैदा किया है कि वे और सब मनुष्यों पर शासन करें, कुछ को बहुत से मनुष्यों पर और कुछ को थोड़े मनुष्यों पर शासन करने के लिए बनाया है और बाकी सबको शासित होने के लिए भगवान ने सिर्जा है।

अब इस सिद्धान्त की यद्यपि नींव तक हिल गयी है मगर फिर भी कुछ लोग इसको मानते हैं। बहुत-से लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार में इसे मानते हैं।

शारीरिक श्रम से लोगों को मुक्त करने का पक्ष लेनेवाले दूसरे सिद्धान्त को हम राजनैतिक फ़िलासफी कह सकते हैं। इस सिद्धान्त की

हेगल ने खूब व्याख्या की है। उसका कहना है कि इस समय जो वस्तु-स्थिति है वह ठीक है, और जीवन का जो व्यवस्थित क्रम देखते हैं, वह स्थायी और न्याययुक्त है। यह कुछ मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं है, बल्कि यह तो चैतन्य शक्ति का अथवा यों कहो कि मानव जीवन का एक मात्र सम्भव विधान है—विकसित स्वरूप है। इस सिद्धान्त को भी अब समाज के नेता मानते नहीं हैं किन्तु फिर भी लोगों की मूर्खता के कारण उसका जन-समाज पर प्रभाव है।

तीसरा सिद्धान्त जो इस समय लोगों के दिमाग़ पर शासन कर रहा है और जिसपर प्रमुख राजनीतिज्ञों, व्यापारियों और वैज्ञानिकों तथा कला-कोविदों का आधार है, विज्ञान-विषयक है। यहाँ विज्ञान का अर्थ सर्वमान्य ज्ञान सम्बन्धी बातों से नहीं, बल्कि उस खास विद्या से है, जिसे विज्ञान अथवा साइंस के नाम से पुकारा जाता है। यही वह सिद्धान्त है, जिसे आज का आलसी मनुष्य अपने बचाव में पैदा करता है।

इस सिद्धान्त का आविर्भाव यूरोप में एक ऐसे धनिक और आलसी वर्ग के साथ ही साथ हुआ कि जो न तो चर्च का कोई काम करता था और न राज्य का। इस प्रेमी ने अपनी स्थिति का बचाव करने के लिए इस सिद्धान्त का आविष्कार किया।

बहुत दिन हुए, फ्रांस की क्रांति से कुछ ही पहले यूरोप में जो लोग शारीरिक श्रम नहीं करते थे, उन्हें दूसरे के श्रम से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक था कि कोई न कोई काम अवश्य करें—या तो चर्च की सेवा करें, या राज्य की अथवा फ़ौज में भर्ती हों। जो लोग राज्य की सेवा करते थे, उनका काम था 'लोगों पर शासन करना'; जो चर्च के सेवक थे, उनका काम था लोगों को शिक्षा देना; और जो फौज में भरती होते थे, वे लोगों की रक्षा करते थे।

धार्मिक राजनैतिक और सैनिक—बस, इन्हीं तीनों वर्गों के लोग दूसरों के श्रम पर जीवित रहने का दावा करते थे और ये लोग अपनी लोक-सेवा दूसरों को बता भी सकते थे। अब रहे ये धनिक लोग। इनके

पास ऐसा कोई बहाना नहीं था और इसीलिए उनका तिरस्कार होता था। दूसरों के श्रम का उपयोग करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है, इसको वे स्वयं भी समझते थे, इसीलिए अपनी धनिकता और आलस्य के लिए उन्हें लज्जित होना पड़ता था।

किन्तु समय के साथ ही तीनों वर्गों की बुराइयों के कारण उस धनिक और निठल्ले वर्ग की ताक़त बहुत होगयी और उन्हें अपनी स्थिति की रक्षा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसीलिए इस नवीन सिद्धान्त का बहिष्कार हुआ। अभी एक सदी भी न बीती होगी कि ये लोग जो न चर्च का काम करते थे; न राज्य तन्त्र का, और न सैनिक सेवा का, दूसरों के श्रम पर जीवित रहने के बाकायदा हकदार बन बैठे। उन्होंने अपनी धनिकता और काहिली के लिए लज्जित होना छोड़ दिया हो इतना ही नहीं, बल्कि वे अपनी स्थिति को नितान्त औचित्यपूर्ण मानने लगे। इन लोगों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गयी है और अब भी बराबर बढ़ रही है। किन्तु इससे भी मजेदार बात तो यह है कि ये लोग, जो थोड़े दिन पहले शारीरिक श्रम से मुक्त होने के अधिकारी तक न समझे जाते थे, अब केवल अपने ही को इस बात का अधिकारी नही मानते, बल्कि चर्च, राज-तन्त्र और सेना के सेवकों का यह कहकर विरोध करते हैं कि इनका श्रम से विमुक्त हो जाना अनुचित और अन्याय है। कभी-कभी तो यह लोग यहाँतक कह बैठते हैं कि उनकी यह प्रवृत्ति एकदम हानिकारक है। इससे भी अधिक विचित्र बात यह है कि चर्च राज्य-तन्त्र और सेना के सेवक अब अपने-अपने कार्यों को ईश्वर-प्रदत्त अधिकार नहीं बताते। वे भी अपने पुराने अवलम्बनों को छोड़कर उसी नये सिद्धान्त की सहायता ले रहे हैं, जिसके बल पर नवीन प्रभावशाली-वर्ग खड़ा है और जिसके प्रमुख नेता वैज्ञानिक तथा कलाकार हो रहे हैं।

आजकल भूले-भटके ही कोई विरला सरकारी आदमी उन पुरानी बातों की याद दिलाकर यह कहता है कि शासन करना उसका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, अथवा राज-तन्त्र वैयक्तिक विकास का एक साधन

है। ऐसा कहनेवाला समय से बहुत पीछे होगा और स्वयं इस बात को महसूस किये बिना न रहेगा कि कोई भी उसकी बातों का विश्वास नहीं कर रहा। अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उसे नवीन और वैज्ञानिक बातो का सहारा लेना चाहिए, अब धार्मिक अथवा दार्श-निक सिद्धान्तों से काम नही चलेगा।

अब आज यदि कोई धनी यह कहे कि वह धनवान है, क्योंकि ईश्वर ने ही उसे ऐसा बनाया है, या राज्य की रक्षा के लिए अमीर-उमरावों की ज़रूरत है, तो इसके अर्थ यही हैं कि वह समय से पीछे है। अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसे यह बताना चाहिए कि उत्पत्ति के साधनों को उन्नत बनाकर, आवश्यक पदार्थों को सस्ता करके, और एक दूसरे राष्ट्र में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके वह मानव-समाज की उन्नति में सहायता दे रहा है। उसे वैज्ञानिक भाषा में ही सोचना और बोलना चाहिए, और पहले जैसे पुरोहितो को भेंट दी जाती थीं, वैसे ही अब शासक-वर्ग को अपनाने के लिए उसे भेंट देनी चाहिए। उसे पत्र-पत्रिकायें, पुस्तकें आदि प्रकाशित करनी चाहिएँ, एक चित्रशाला रखनी चाहिए, संगीत आदि का प्रबन्ध करना चाहिए, किण्डरगार्टन अथवा औद्योगिक विद्यालय स्थापित करना चाहिए।

आजकल जो लोग शारीरिक श्रम के कर्तव्य से अपने को मुक्त करने का पूर्णतः अधिकारी मानते हैं, वे अपने को वैज्ञानिक और कला-विज्ञ कहते हैं; और ख़ासकर वे वैज्ञानिक, जो प्रयोगों पर अवलम्बित रहनेवाले, बुद्धि की कसौटी पर ठीक उतरनेवाले, प्रगतिशील भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं।

यदि आज कोई विद्वान अथवा कलाविज्ञ पुराने ढर्रे से लोगों की भाँति भविष्यवाणी, ईश्वर-प्रेरित मंत्र-स्फूर्ति अथवा आध्यात्मिक आवि-र्भावों का ज़िक्र करता है, तो वह अवश्य ही समय से बहुत पीछे है। वह अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करने में सफल न होगा। यदि वह अपनी स्थिति को सुदृढ बनाये रखना चाहता है, तो उसे अपनी

कृतियों को प्रयोगशील, बुद्धिगम्य और आलोचनात्मक विज्ञान से जोड़ने की कोशिश करनी चाहिए और उसीको अपनी प्रवृत्तियों का आधार बनाना चाहिए। जो लोग मेहनत नहीं करते, उन सबका आधार यही प्रयोगशील आलोचनात्मक बुद्धिगम्य विज्ञान है।

धार्मिक और दार्शनिक निराकरणों का समय अब गया; अब जब कभी वे डरते-डराते अपना सिर ऊपर उठाते हैं, तो उनका यह वैज्ञानिक उत्तराधिकारी उन्हें कुचल देता है और प्राचीनकालीन ध्वंसावशेषों को नष्ट करके उनका स्थान छीन लेता है और इस प्रकार अपनी दृढ़ता के विषय में निश्चिन्त होकर गर्व से सिर उठाकर चलता है।

वैज्ञानिक सिद्धान्त कहता है कि धार्मिक और दार्शनिकों की बातें वाहियात और वहम से भरी हुई हैं, इनमें से एक तो धार्मिक युग का फल है और दूसरा दार्शनिक युग का। मानव-जाति के जीवन निर्णय करनेवाले नियमों का अध्ययन करने का केवल एक ही तरीका है; और वह है वही बुद्धिगम्य, आलोचनात्मक और प्रयोग शील विज्ञान। प्राणशास्त्र समस्त बुधि-गम्य विद्वानों पर अवलम्बित है और इस प्राण-शास्त्र के आधार पर बना हुआ जो समाज-विज्ञान है, वही हमें मानव-जीवन के नये-नये नियम बताता है। मानव-समाज अथवा विभिन्न जन-समूह एक ऐसे विराट शरीर के समान है, जो या तो पूर्णता को प्राप्त होचुका है या शरीर विज्ञान के नियमों के अनुकूल पूर्णता प्राप्त कर रहा है। शरीरके विभिन्न अङ्गों में श्रम-विभाग का होना उन नियमोंमें सब से मुख्य है। यदि कुछ लोग शासन करते हैं और दूसरे आज्ञा-पालन करते हैं, कुछ ऐशोआराम से रहते हैं और दूसरे तङ्गी से जिन्दगी बसर करते हैं, तो इसका कारण यह नहीं है कि ईश्वर का ऐसा आदेश है और न यह कि राज्य मनुष्य के विकास का साधन है; बल्कि उसका कारण सिर्फ यह है कि शरीर की भाँति समाज में भी श्रम-विभाग हुआ करता है, यह समाज के जीवन के लिए आवश्यक और अनिवार्य है। समाज के अन्दर कुछ लोग तो शारीरिक श्रम करते हैं और कुछ मानसिक। यही वह सिद्धान्त है, जिसके बल पर आधुनिक युग के लोग अपना बचाव करते हैं।

: २९ :

ईसा ने लोगो को नये ढंग से उपदेश दिया। वह उपदेश बाइबल में लिखा है। लोगो ने पहले तो इस उपदेश का तिरस्कार किया और उसे स्वीकार नहीं किया। तब आमद् के अधःपात का और अधम फरिश्ते की कहानियों का आविष्कार किया गया और इन कहानियो को ईसा की शिक्षा के नाम से प्रचलित किया गया। ये कहानियां बिलकुल वाहियात और निराधार है।

नैतिक उद्योग करके ऊँचा उठने की जिनकी प्रवृत्ति नहीं है ऐसे प्रबल जन-समूह को ये बातें इतनी अनुकूल मालूम होती है कि वे इस मत को झट प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। और यह मनघडन्त सिद्धान्त इतना सर्व-प्रिय हो उठता है कि सदियों तक धर्मशास्त्री लोग उसके आधार पर अपने अपने सिद्धान्तो की रचना करते है। किन्तु समय बीतने पर धर्म-शास्त्रियों की कल्पना के आधार पर जो निर्णय निर्मित हुए थे, जन-समूह को उनकी ज़रूरत नहीं रहती। लोग देखते हैं कि वाहियात धोखेबाजी के सिवा इन निर्णयों मे कुछ भी नहीं है और तब उन्हें अपनी अन्धता पर बडा आश्चर्य होता है।

सभ्य संसार के अन्दर थोडे दिनो के लिए हेगल के सिद्धांत जो इतने लोक-प्रिय हो उठे थे, इसका बस एक ही कारण है कि इस दार्शनिक सिद्धान्त से जो निर्णय निकलते थे, वे मनुष्य-स्वभाव की दुर्बलताओं को पोषित करने वाले थे। वह कहता था—'सब उचित है, सब ठीक है,

किसीको किसी बात के दोषी करार देने की ज़रूरत नहीं ।' किन्तु समय बीतने पर यह सिद्धान्त भी जीर्ण हो गया और इसके स्थान पर एक नया सिद्धान्त आया । पुराना सिद्धान्त बेकार हो गया था; लोगों ने उसका प्रतिपादन करने वाले आचार्यों की गुफा में झांककर देखा तो मालूम हुआ कि वहां सचाई की तो कोई भी बात नहीं है और कुछ अर्थहीन दुर्बोध शब्दाडम्बर के सिवा पहले भी वहां कुछ न था।

झूठी ईसाइयत की तरह हेगल की फ़िलासफी भी खुद अपने आप ही मिट गई । किसीने उसके विरुद्ध जिहाद नहीं किया । मगर नहीं, हेगल की फिलासफी है तो अब भी, जैसे कि वह पहिले थी, बस, विद्वान और शिक्षित संसार को उन दोनों की अब ज़रूरत नहीं रही ।

यह तो मेरी ज़िन्दगी में ही हुआ और इसकी मुझे याद है । किन्तु कहा जाता है कि इन सिद्धान्तों की यह गत इसलिए हुई कि वे धार्मिक तथा दार्शनिक काल की भ्रान्त धारणायें थीं, मगर हमारे पास आलोचनात्मक बुद्धि-गम्य विज्ञान है, जो कभी धोखा नहीं दे सकता, क्योंकि वह प्रकृति-निरीक्षण और अनुभव पर अवलम्बित है । किन्तु ठीक ऐसी ही बात तो पुराने आचार्य भी कहा करते थे और अवश्य ही वे कोई मूर्ख न थे; बल्कि हम जानते हैं कि उनमें से बाज लोग बड़े ही बुद्धिशाली थे ।

एक बहुत ही साधारण अंग्रेज लेखक था । उसने आबादी पर एक ट्रैक्ट लिखा, जिसमें उसने एक काल्पनिक नियम का आविष्कार किया कि आबादी की वृद्धि के साथ-ही-साथ आजीविका के साधनों की वृद्धि नहीं होती । इस झूठे नियम का लेखक ने कुछ निराधार गणित के सूत्रों से सजाकर प्रकाशित किया । ख़याल था कि कोई आदमी उसपर ध्यान न देगा और उक्त लेखक की अन्य पुस्तकों की भांति यह पुस्तिका भी भुला दी जायगी, किन्तु बात बिलकुल उलटी निकली । उक्त पुस्तिका

का लेखक एकदम विज्ञान का अचार्य बन गया और लगभग आधी शताब्दी तक अपने इस पद को बनाये रहा। उसका नाम था माल्थस। उसकी आबादी सम्बन्धी बातें, जिनकी सत्यता कभी सिद्ध नहीं थी, बिलकुल वैज्ञानिक और निस्संदिग्ध सत्य के रूप में मानी जाने लगीं और उन्हें स्वयंसिद्ध सूत्र स्वीकार करके उनसे और भी निष्कर्ष निकाले गये। किन्तु वे उन्हीं लोगों के लिये विश्वासनीय हैं कि जो विज्ञान को चर्च की भांति स्वतः सिद्ध और निर्भ्रान्त मानते हैं और जो यह नहीं समझते कि वे किसी दुर्बल मनुष्य के विचार मात्र हैं कि जो भूल कर सकता है और जो केवल महत्त्व की खातिर अपने विचारों और शब्दों को विज्ञान के शानदार नाम से पुकारता है। माल्थस के नियमों से कुछ व्यावहारिक निष्कर्ष निकालते ही इसका पता लग जाता है कि वे मनुष्य-निर्मित है और उनका कोई निश्चित ध्येय है।

माल्थस के नियमों से जो निष्कर्ष निकाले गये, वे यह हैं—श्रमिक वर्ग की दयनीय स्थिति का कारण बलवान धनी लोगों की निर्दयता, अहकार अथवा अनौचित्य नहीं है; बल्कि उनकी स्थिति ऐसे अपरिवर्तनीय नियम के अनुसार है, जो मनुष्य पर अवलम्बित नहीं है और इसके लिए यदि कोई दोषी है तो भूखों मरनेवाला श्रमिक वर्ग ही इस के दोष का भागी है। ये मूर्ख भला संसार में पैदा ही क्यों होते हैं, जब कि वे जानते हैं कि उन्हें काफी खाना नहीं मिलेगा? इसलिये यह निश्चित है कि धनवान और बलवान लोगों को कोई दोष नहीं दिया जा सकता और वे शान्ति के साथ अपनी ज़िन्दगी बसर कर सकते है, जैसा कि वे अब तक करते रहे हैं। ये निष्कर्ष आलसी धनिकवर्ग को प्रिय मालूम पडे और अकर्मण्य विद्वान लोगो ने उनकी गलती और अपूर्णता के ऊपर ध्यान नहीं दिया। इसका कारण यही था कि ये सिद्धान्त जीवन-निर्वाह के अनुचित ढंग को ठीक साबित करते थे।

इस नवीन बुद्धिगम्य, आलोचनात्मक और प्रयोगशील विज्ञान में जो इतना विश्वास है और लोग उसे जो इतना आदर व मान देते हैं, इस

की तह में भी क्या वही कारण काम नहीं कर रहा है ? पहले-पहल तो वह बड़ा विचित्र-सा मालूम होता है कि विकासवाद का सिद्धान्त लोगों के जीवन-निर्वाह के ढंग का बचाव करे और ऐसा भास होगा कि वैज्ञानिक सिद्धान्त तो केवल वस्तुस्थिति से ही सम्बन्ध रखते हैं और वस्तुस्थिति का निरीक्षण करने के सिवाय और कुछ नहीं करते। किन्तु यह केवल भास ही होता है।

आधुनिक विज्ञान एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार वस्तुस्थितियों का चुनाव करता है। उस सिद्धान्त को भी तो विज्ञान जानता है, कभी वह जानना नहीं चाहता, और कभी कभी वास्तव में यह नहीं जानता कन्तु वह मौजूद तो होता ही है। वह सिद्धान्त यह है। मनुष्य-समाज एक कभी न मरनेवाला शरीर है। मनुष्य इस शरीर के अंग हैं। किसी शरीर के अणु जिस प्रकार समस्त शरीर अस्तित्व के लिए आवश्यक संघर्ष को आपस में बाँट लेते हैं, ज़रूरत के अनुसार किसी अंग को पुष्ट करके उसकी शक्ति बढ़ाते हैं, किसीकी शक्ति कम कर देते हैं और सब मिलकर एक समष्टि के रूप में समस्त शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योग करते हैं, और जिस प्रकार चींटी और मधु-मक्खी जैसे सामाजिक प्राणियों में व्यक्ति परस्पर श्रम-विभाग कर लेते हैं (जैसे रानी-मक्खी अंडा देती है. नर गर्भाधान करते हैं और अन्य मक्खियाँ सबके अस्तित्व को कायम रखने के लिए मेहनत करती हैं), बस वैसे ही मनुष्य-समाज और विभिन्न समाजों में जुदा-जुदा अंग अपना-अपना काम करते है और समस्त मानव-समाज का पालन करने के लिए समष्टि बनकर एकरूप में समाविष्ट हो जाते हैं।

ऐसा सुन्दर सिद्धांत भला कौन स्वीकार न करेगा ? हम मानव-समाज की ओर केवल देख भर लें जैसे वह कोई निरीक्षण करने की चीज़ हो; और फिर हम शांति के साथ भूखों मरते हुए लोगों के मुहँ की रोटी छीनकर खा सकते हैं और अपने को इस बात से संतोष दे सकते हैं कि नृत्य-शास्त्री, वकील, डाक्टर, दार्शनिक, नट अथवा परमाणुओं के

स्वरूप को शोधन करनेवाले की हैसियत से हम जो काम करते हैं, वे मनुष्य-समाज के अंगो की आवश्यक क्रियायें हैं।

भला हम ऐसे सिद्धान्त को कैसे अस्वीकार कर सकते है, जो हमे बाद को इस लायक बना देता है कि हम अपने अन्तरात्मा को जेब मे रखकर बिलकुल निरंकुश पशु-जीवन व्यतीत करते रहे और साथ ही यह विश्वास बना रहे कि हमारे कार्यों का समर्थन करनेवाले वैज्ञानिक सिद्धान्त मौजूद हैं। यही नवीन विश्वास है कि जिसके आधार पर मनुष्यों की अकर्मण्यता और निर्दयता का आजकल समर्थन किया जाता है।

: ३० :

यह सिद्धान्त लगभग ९० वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ। इसका मुख्य संस्थापक फ्रांसीसी दार्शनिक कॉम्टे था। यह भी मनुष्य-समाज को वस्तुतः समस्त मानव-मण्डल का एक समष्टि,—एक शरीर माना जा सकता है और मनुष्यों अर्थात् पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को समाज के भिन्न-भिन्न अंगों के अणु कहा जा सकता है और इनमें से प्रत्येक अणु का समस्त शरीर की सेवा के निमित्त अपना एक विशिष्ट उद्देश्य निश्चित होता है। धार्मिक प्रवृत्ति के कॉम्टे को यह विचार इतना पसन्द आया कि उसने अपने दार्शनिक सूत्र का इसी आधार पर निर्माण किया। वह अपने इस दार्शनिक सूत्र के प्रवाह में कुछ ऐसा बह गया कि वह यह बिलकुल ही भूल गया कि जिस ख़याल के आधार पर वह अपना तत्व-ज्ञान निर्माण करनेवाला है, वह एक साहित्यिक उपमा-मात्र है और इस योग्य नहीं है कि उसे तत्वज्ञान की नींव बनाया जाय। उसने अपनी उस प्रिय कल्पना को स्वयं-सिद्ध सूत्र मान लिया और वह कल्पना करने लगा कि उसका सिद्धान्त अटल और बुद्धिगम्य आधार के ऊपर बना है।

इस सिद्धान्त के अनुसार तो यह बात निकली कि मानव-समाज चूँकि एक शरीर है, इसलिए मनुष्य क्या है और संसार के साथ उसका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए, इस बात का ज्ञान तो शरीर के गुणों का अध्ययन करने ही से हो सकता है। और इन गुणों का अध्ययन करने के लिए मनुष्य को दूसरे छोटे-छोटे जीवों का निरीक्षण करना चाहिए।

इसलिए कॉम्टे के सिद्धान्तानुसार पहली बात तो यह है कि विज्ञान का सच्चा साधन तो अनुभव है। विज्ञान तभी विज्ञान कहा जा सकता है कि जब वह अनुभव के आधार पर बना हो। दूसरी यह कि विज्ञान का उद्देश्य और अन्तिम लक्ष्य अब वह नया विज्ञान बन जाता है, जो मनुष्य-समाज के काल्पनिक शरीर पर विचार करता है। कल्पना के आधार पर बना हुआ वह नया विज्ञान समाज-शास्त्र कहलाता है। विज्ञान को ऐसा मानने का अर्थ यह है कि पहले का सारा ज्ञान झूठा था। मानव-जाति सम्बन्धी समस्त इतिहास तीन, बल्कि दो ही युगों में विभक्त किया जा सकता है। (१) वह धार्मिक और दार्शनिक युग था, जो संसार के प्रारम्भ से लेकर कॉम्टे तक रहा, और (२) वह आधुनिक वैज्ञानिक युग है, जो सच्चे और बुद्धिगम्य विज्ञान का युग है। (३) जिसका प्रारम्भ कॉम्टे से होता है।

यह सब बड़ा ही सुन्दर है किन्तु इसमें केवल एक भूल है, और वह यह कि यह सारी इमारत बनायी गयी है रेत पर—इस निराधार और ग़लत विचार पर कि सामूहिक दृष्टि से मानव-समाज एक शरीर के समान है। यह विचार निराधार है। यदि हम मानव-समाज को एक शरीर मानने की अप्रत्यक्ष कल्पना को मान लें तो हम त्रिदेव (Trinity)* के अस्तित्व को और इसी प्रकार की साम्प्रदायिक बातों से इन्कार कैसे कर सकते हैं ?

यह विचार ग़लत था, क्योंकि मानव-समाज और सजीव शरीर की उपमा ही ठीक नहीं है। सजीव शरीर में जो एक अनिवार्य और आवश्यक गुण हुआ करता है वह मनुष्य-समाज में मौजूद नहीं है—और वह है अनुभूति या ज्ञान-शक्ति का केन्द्र। हम हाथी और कीड़ी दोनों

*ईसाई धर्म के अनुसार परमात्मा में तीन तत्व रहते हैं। (१) पिता (स्वर्ग निवासी ईश्वर), (२) पुत्र (ईसा) और (३) पवित्र आत्मा (जो मनुष्य-मात्र में विद्यमान है और सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता है।

ही को शरीर कहते हैं, क्योंकि इनके अन्दर ज्ञान-शक्ति अथवा अनुभूतिओं का एकीकरण रहता है। किन्तु मनुष्य-समाज में इस ख़ास बात का अभाव होता है और इसलिए और कितनी ही समानतायें मनुष्य-समाज और शरीर-तंत्र में हुआ करें, किन्तु इसके बिना मनुष्य-समाज को सजीव शरीर कहना ग़लत है।

किन्तु आदिभौतिकवाद का यह मूल सूत्र निराधार और ग़लत होने पर भी शिक्षित कहलानेवाले संसार ने उसे बड़ी सहानुभूति के साथ स्वीकार कर लिया। उसके स्वीकार कर लिये जाने का एक महान् कारण था। मौजूदा श्रम-विभाग के औचित्य को मान लेने के बाद उससे वर्तमान की परिस्थिति का एक प्रकार से समर्थन होता था, अर्थात् यह सिद्ध होता था कि मानव-समाज मे इस समय जो अनाचार और क्रूर वैषम्य फैला हुआ है वह लाज़िमी है और एक आदमी का दूसरे के श्रम से ज़बरदस्ती लाभ उठाना जीवन के नियमों के विरुद्ध नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। कॉम्टे की कृतियाँ दो भागों में विभक्त थीं—आधिभौतिक, दर्शन-शास्त्र और आधिभौतिक राजनीति। प्रथम भाग ही मानव-समाज की वर्तमान बुराइयों को अनिवार्य बताकर उनका समर्थन करता था। इसे विद्वानों ने स्वीकार कर लिया। दूसरा भाग केवल ग़ैरजरूरी ही नहीं बल्कि अवैज्ञानिक भी समझा गया। यह शायद इसलिए कि जिसमें उन नैतिक और आध्यात्मिक मानवी कर्तव्यों की चर्चा की गयी थी, जो मानव-समाज को एक सजीव शरीर मान लेने से स्वभावतः मनुष्यों के लिए अनिवार्य हो जाते हैं।

किन्तु कॉम्टे का आधिभौतिक दर्शनशास्त्र जिसे लोगों ने स्वीकार किया था, कपोल-कल्पित और भ्रमात्मक सिद्धान्तों पर अवलम्बित होने के कारण बिलकुल आधार-हीन और अस्थिर था, इसलिए ख़ुद अपने बल पर वह टिका नहीं रह सकता था।

और अब वैज्ञानिक नामधारी लोगों की कपोल कल्पनाओं मे से एक ऐसा ही निराधार और ग़लत सिद्धान्त पैदा हुआ, जो यह कहता था

कि समस्त प्राणी अर्थात् शरीर-तंत्र (Organism) एक दूसरे से ही पैदा होते हैं। यही नही कि एक शरीर-तंत्र दूसरे शरीर-तन्त्र से पैदा होता हो, बल्कि एक शरीर-तन्त्र कई शरीर-तन्त्रो से पैदा हो सकता है—बहुत लम्बे अर्से मे, उदाहरणार्थ एक करोड वर्ष में मछली या बतक ने किसी एक योनि में से बदलते-बदलते अपनी योनि प्राप्त की हो; इतना ही नहीं प्रत्युत् एक जीवसृष्टि अन्य अनेक प्राणियों के समूह में से रूपान्तरित होती हुई अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। अर्थात् मधु-मक्खियों के झुण्ड में से कोई एक नया प्राणी पैदा हो सकता है। यह कल्पित और भ्रमात्मक सिद्धान्त शिक्षित लोगों द्वारा और भी अधिक उत्साह के साथ अपनाया गया।

यह सिद्धान्त कल्पित है, क्योंकि किसी ने भी कभी यह नहीं देखा है कि किस प्रकार एक जीव-सृष्टि दूसरी तरह के जीवों से आविर्भूत होती है। इसलिए जीव-योनियों की उत्पत्ति की कल्पना सदा कल्पना ही बनी रहेगी और कभी भी प्रयोग-सिद्ध बात नहीं हो सकती।

हज़रत मूसा ने इस समस्या का जो हल बताया था, उससे मालूम होता है कि जीवों की विभिन्न योनियाँ ईश्वर की इच्छा और उसकी अनन्त शक्ति से पैदा हुईं। विकास-वाद के सिद्धान्त से यह मालूम होता है कि विभिन्न जीव-योनियाँ पैतृकता तथा परिस्थिति की अनन्त विभिन्नताओं के परिणाम-स्वरूप, असीम दीर्घकाल में, खुद एक दूसरे से ही पैदा हुईं।

यदि स्पष्ट शब्दों मे कहा जाय तो इसका अर्थ यह है कि विकासवाद का सिद्धान्त यह कहता है कि (इत्तफ़ाक से) किसी निस्सीम काल में कोई भी चीज़ किसी भी चीज़ से पैदा हो सकती है। यह तो प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। यह तो उसी प्रश्न का रूपान्तरमात्र है! ईश्वरेच्छा के बजाय इत्तफाक का नाम लिया गया है, और अनन्त शब्द को सर्वशक्ति-मान के सामने से हटाकर काल के सामने रख दिया है।

किन्तु डार्विन के अनुयायी लोगों के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त ने कॉम्टे के प्रथम सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और इसलिए वह हमारे

ज़माने के लिए तो वेद-वाक्य के समान हो गया। वह समस्त विद्याओं—यहाँतक कि इतिहास, दर्शन और धर्म का भी आधार बन गया। इस के अलावा, स्वयं डार्विन ने भी साफ़ तौर पर यह स्वीकार किया था कि यह विचार उनके मन में माल्थस के सिद्धान्त से सूझा था। इसलिए उसने जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। आलसी लोगों के लिए बचाव की भला इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी ?

दो ऐसे अस्थिर सिद्धान्त जो अलग रहकर अपने पैरों पर नहीं खडे हो सकते थे, एक दूसरे का समर्थन करके स्थायी-से बन गये। दोनों ही सिद्धान्तों में एक ऐसा भाव था, जो आलसी लोगों को पसन्द था। अर्थात् मानव-समाजों में जो बुराइयाँ फैली हुई हैं उनके लिए मनुष्यों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता और वर्तमान स्थिति बिलकुल ठीक है। बस, इसी कारण इस नये सिद्धान्त का लोगों ने पूर्ण विश्वास और अनुपम उत्साह के साथ स्वागत किया।

इस प्रकार यह नया वैज्ञानिक सिद्धान्त तो निराधार और भ्रमात्मक विचारों के ऊपर बना और उसे लोगों ने उसी प्रकार अन्ध-श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लिया कि जिस प्रकार धार्मिक सिद्धान्त मानलिये जाते हैं। गुण और रूप दोनों ही में यह नया सिद्धान्त ईसाई 'चर्च' के सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। गुण की दृष्टि से यह समानता है कि इन दोनों ही सिद्धान्तों मे कुछ चीज़ों को बिलकुल विचित्र ही रूप दिया जाता है; और उस कृत्रिम रूप को ही हम अपनी शोध का लक्ष्य बना लेते हैं।

'चर्च' के सिद्धान्त के अनुसार ईसा के वास्तविक और ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ ईश्वरत्व के भाव का विचित्र आरोप किया जाता है। आधिभौतिकवाद में वास्तव मे अस्तित्व रखनेवाले मनुष्यो में विराट शरीर के गुणों का प्रतिपादन किया जाता है।

रूप की दृष्टि से भी इन दोनों में ख़ासी एकता है। क्योंकि दोनों ही जगह किन्ही विशिष्ट लोगों की बताथी हुई बातें ही निर्भ्रान्त रूप से सच मानी जाती हैं। चर्च के सिद्धान्त के अनुसार तो ईश्वरोक्त विधानों की

पादरियों द्वारा की हुई व्याख्या ही पवित्र और सत्य मानी जाती है और आधिभौतिक विज्ञान के नियमानुकूल नामधारी वैज्ञानिकों के ढंग को ठीक और सच्चा समझा जाता है।

जिस प्रकार चर्च का सिद्धान्त यह कहता है कि उस विशिष्ट चर्च की स्थापना से ही ईश्वरीय ज्ञान प्रारम्भ होता है और केवल सौजन्य की ख़ातिर यह कह देते हैं कि पूर्वकालीन ईश्वर-भक्त लोगों को भी एक प्रकार का चर्च का अनुयायी माना जा सकता है, बस ठीक इसी प्रकार आधिभौतिक विज्ञान कॉम्टे को अपना जनक मानता है और इसके प्रतिनिधि भी केवल सौजन्य की ख़ातिर पूर्वकालीन विद्याओं को स्वीकार कर लेते हैं और वह भी अरस्तू जैसे ख़ास-ख़ास विचारकों से सम्बन्धित विद्याओं को। चर्च और आधिभौतिक विज्ञान दोनों ही बाक़ी समस्त मनुष्यों का विचार दिमाग़ से निकाल देते हैं और अपने दायरों के बाहर के समस्त ज्ञान को भ्रमात्मक बताते हैं।

: ३१ :

"श्रम-विभाग एक ऐसा नियम है, जो सभी चीज़ों में पाया जाता है और इसलिए मानव-समाज में भी यह नियम अवश्य होना चाहिए।" यह हो सकता है, किन्तु प्रश्न फिर भी बना ही रहता है, कि जो श्रम-विभाग प्रचलित है, क्या वही सच्चा श्रम-विभाग है और क्या ऐसा ही श्रम-विभाग होना चाहिए ? और जब लोग किसी ख़ास श्रम-विभाग को अनुचित और अन्यायपूर्ण मानते हो तो कोई भी विज्ञान यह नहीं कह सकता कि जिसे वे अनुचित और अन्याय-पूर्ण मानते है, वह जारी रहे।

धर्मशास्त्रियों ने बताया कि "शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है।" किन्तु प्रश्न यह है कि वह शक्ति दी किसे गयी है—राजा को या विद्रोही को ? धर्म की कोई भी व्याख्या इस कठिनाई को हल नहीं कर सकी। नैतिक दर्शन-शास्त्र यह कहता है कि "राज्य व्यक्तियो के सामाजिक विकास का केवल एक रूप है।" किन्तु प्रश्न उठता है, क्या नीरो या चंगेज़खाँ के राज्य को सामाजिक विकास का एक साधन कहा जा सकता है ? कोई भी सिद्धान्त, चाहे वह कितनी ही उत्कृष्टता का दावा क्यों न करे, इस कठिनाई को हल नहीं कर सकता।

वैज्ञानिक शास्त्रों के सम्बन्ध में यह बात है। किसी भी जीव-सृष्टि और मानव-समाज के निर्वाह के लिए श्रम-विधान आवश्यक है, यह ठीक; किन्तु मानव-समाज मे क्या कोई ऐसी चीज है, जिसे शरीर-धर्म के अनुसार स्वाभाविक श्रम-विभाग कहा जा सके ? किसी विशेष कीट

के परमाणुओं में, विज्ञान कितना ही श्रम-विभाग क्यों न देखे, किन्तु उसका समस्त निरीक्षण मनुष्यों को किसी ऐसे श्रम-विभाग को स्वीकार करने के लिए विवश नहीं कर सकेगा कि जिसे उनकी विवेक-बुद्धि स्वीकार न कर सकती हो।

निरीक्षित जीव-सृष्टियों में विज्ञान को श्रम-विभाग के कितने ही विश्वसनीय प्रमाण क्यों न मिल जायें; किन्तु कोई भी आदमी, जिसकी बुद्धि बिलकुल मारी नहीं गयी है, यही कहेगा कि यह अन्याय है कि कुछ आजीवन कपड़ा ही बुना करें। इसे वह श्रम-विभाग नहीं, मनुष्यों के ऊपर अत्याचार कहेगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर और अन्य वैज्ञानिक कहते हैं—चूँकि जुलाहों की एक बस्ती की बस्ती है, इसलिए यह निश्चित है कि श्रम-विभाग के अनुसार ही उनकी यह प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। ऐसा कहते समय पुराने धार्मिक आचार्यों की तर्क-शैली का अनुसरण-सा करते हैं। संसार में शक्ति है, इसलिए यह ईश्वर-प्रदत्त है—फिर चाहे वह कैसे ही क्यों न हो; दुनिया में जुलाहे हैं, इसलिए वे श्रम-विभाग के नियम के अनुसार ही अस्तित्व में आये हैं। इस बात मे कुछ सचाई हो सकती थी, यदि वह शक्ति और जुलाहों की स्थिति स्वतः ही पैदा हुई होती; किन्तु हम जानते है कि वह स्वत. नही पैदा हुई है, बल्कि हमीं लोगो ने उसको जन्म दिया है। अच्छा तो अब हमें यह देखना होगा कि हमने उस शक्ति को ईश्वर की इच्छानुसार स्थापित किया है या केवल अपनी मर्जी से, और जुलाहों के समुदाय को भी हम शरीर-धर्म के अनुसार अस्तित्व में लाये हैं, दूसरे किसी कारण से ?

कल्पना कीजिए कि कुछ लोग कृषि करके अपना निर्वाह कर रहे हैं, जैसा कि हर किसी को करना चाहिए। इसी बीच मे एक आदमी ने लोहार की भट्टी बनाकर अपने हल की मरम्मत की। उसका पड़ौसी आया और उसने भी अपने हल की मरम्मत करने के लिए उससे कहा और बदले में कुछ नाज या पैसे देने का वादा किया। दूसरा भी यही प्रार्थना लेकर आता है और यह सिलसिला जारी होजाता है। इस प्रकार

इस समाज में श्रम-विभाग के एक रूप की स्थापना हो जाती है—एक आदमी लोहार बन जाता है।

दूसरे आदमी ने अपने बच्चे को अच्छी शिक्षा दी है। उसके पड़ोसी अपने बच्चों को लाकर पढ़ाने का अनुरोध करते हैं और इस प्रकार उस गाँव में वह शिक्षक बन जाता है। किन्तु ये लोहार और शिक्षक बने ही केवल इसलिए हैं कि समाज को उनकी ज़रूरत है और वे केवल उसी समय तक रहते हैं कि जबतक समाज को उनकी ज़रूरत रहती है। यदि ऐसा हुआ कि बहुत से लोहार या शिक्षक पैदा होगये, या अब उनकी लोगों की ज़रूरत न रही, तो साधारण विवेक-बुद्धि के अनुसार वे अपना पेशा छोड़ देते हैं और फिर पहले ही की भाँति किसान या मज़दूर बन जाते हैं। ऐसा ही हमेशा और हर जगह हुआ करता है, जबतक कि उचित श्रम-विभाग के नियमों के भंग होने का कोई कारण नहीं होता। और यह श्रम-विभाग उचित भी है। किन्तु यदि ऐसा हो कि लोहार यह समझकर कि वह दूसरे लोगों को अपने लिए काम करने को बाध्य कर सकता है, ऐसी हालत में भी घोड़े की नालें बनाना जारी रक्खे जबकि उनकी कोई ज़रूरत न रह गयी हो, या शिक्षक विद्यार्थियों के अभाव में भी यही इच्छा करे कि मैं तो पढ़ाने का ही क़ाम करूँगा, तो प्रत्येक विवेकशील निष्पक्ष मनुष्य साफ कह देगा कि यह सच्चा श्रम-विभाग नहीं है, यह तो दूसरों के श्रम को हड़प करने का ढोंग है। श्रम-विभाग के खरे-खोटे होने की जाँच करने के लिए ठीक कसौटी यह है—दूसरे लोग उस प्रकार के श्रम को चाहते हों और उसके बदले स्वेच्छा-पूर्वक इनाम देने को तैयार हों। किन्तु विज्ञान इससे बिलकुल उलटी ही बात को श्रम-विभाग कहता है।

दूसरों को जिस चीज़ की ज़रूरत का स्वप्न में भी ख़याल नहीं आता उसको लोग किये जाते हैं। ऐसे काम का परिश्रम भी वे माँगते हैं, और कहते हैं कि उनका यह काम ठीक है, क्योंकि यह श्रम-विभाग के अनुकूल है।

लोगों के ऊपर जो सबसे ज़बरदस्त आफत है—और वह एक ही जगह नहीं, सब देशों में है—वह सरकार या उसके असंख्य अहलकारों के भार की है। हमारी दरिद्रता का कारण आवश्यकता से कहीं अधिक होनेवाली माल की उत्पत्ति है। अनेक प्रकार की वस्तुएँ इतने ज्यादा परिमाण में बनती हैं कि उन सबकी खपत हो नहीं सकती और उनकी लोगों को ज़रूरत भी नहीं होती। यह सब श्रम-विभाग सम्बन्धी विचित्र कल्पनाओं का ही परिणाम है।

यदि कोई मोची बिना माँग और बिना किसी ज़रूरत के ही बूट बनाता रहे और उसके बदले में लोगों से ज़बरदस्ती खाना माँगे, तो यह आश्चर्य की बात होगी। किन्तु गवर्नमेंट, चर्च, विज्ञान और कला से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों के लिए हम क्या कहें, जो कोई लोकोपयोगी चीज़ तो पैदा नहीं करते और जो पैदा करते है, उसकी लोगो को ज़रूरत नहीं होती, मगर फिर भी बडी दिलेरी के साथ श्रम-विभाग के अनुसार इस बात का दावा करते हैं कि उन्हें अच्छा खाना और अच्छा कपडा दिया जाय।

कुछ ऐसे मदारी तो हो सकते हैं कि जिनके खेलों की जनता में माँग हो और जिनको खेलों के बदले लोग खाने-पीने की चीज़ें देना पसन्द करते है, किन्तु हम ऐसे जादूगरों की तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि जिनकी खेलों की तो लोगों को ज़रूरत न हो, मगर जो लोगों से अपने भरण-पोषण की आशा करें—केवल इसलिए कि वे खेल तो करते हैं। किन्तु हमारी इस दुनिया में, चर्च और गवर्नमेण्ट के अहलकारों और वैज्ञानिकों तथा कला-विज्ञों की बिलकुल यही हालत है और इस सारी विचित्रता की जड़ वही श्रम-विभाग की मिथ्या कल्पना है, जो बुद्धि और तर्क पर अवलम्बित नहीं है, बल्कि जिसका आधार कुछ ऐसे नतीजे हैं, जिन्हें ये वैज्ञानिक लोग एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि श्रम-विभाग सदा ही रहा है, किन्तु यह उचित तभी होता है कि जब मनुष्य उसे अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा से पसन्द

करता है। मनुष्य का विवेक और उसका अन्तरात्मा इस प्रश्न को बड़ी ही सरलता के साथ तय कर सकता है। वे इस प्रश्न का फैसला हमेशा इस प्रकार करते हैः—मनुष्य जो काम करता है, वह यदि दूसरों के लिए इतना आवश्यक होता है कि लोग उसके बदले मे खुशी से उसके खिलाने-पिलाने का भार अपने ऊपर लेने को तैयार होते है, तो वह श्रम उचित समझा जाता है। मगर जब कोई व्यक्ति बचपन से लेकर ३० वर्ष की अवस्था तक दूसरों के सहारे जीता है—इसलिए कि जब वह अध्ययन समाप्त कर चुकेगा तब वह कोई बहुत ही उपयोगी काम करेगा, जिसे किसी ने करने को उससे कहा नहीं है—और फिर अपना शेप जीवन भी उसी प्रकार व्यतीत करता है, केवल लोगों को यह दिलासा देता रहता है कि वह जल्दी ही कोई अच्छा काम करेगा, जिसे किसी ने उससे करने को कहा नहीं, तो अवश्य ही यह सच्च श्रम-विभाग नहीं है। यह तो वास्तव में ज़बरदस्त आदमी का दूसरों के श्रम को अन्याय-पूर्वक हथिया लेना है। इसीको पहले ज़माने में धर्म-शास्त्री ईश्वरीय विधान कहते थे, दर्शनशास्त्र अनिवार्य जीवन संघर्ष के नाम से पुकारता था, और अब वैज्ञानिक विज्ञान उसे शरीर-धर्म के अनुसार बना हुआ श्रम-विभाग बताता है।

आजकल जिस विज्ञान का बोलबाला है, उसका सारा महत्त्व बस इसी एक बात में है। यह विज्ञान ही लोगों को अकर्मण्यता के लिए प्रमाणपत्र दिया करता है, क्योकि अपने क्षेत्र में इस बात का निर्णय करने का अधिकार उसीको है कि कौन-सी प्रवृत्ति हानिकारक है और कौन-सी लाभप्रद, मानो इस बात का निर्णय हरएक आदमी खुद अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा से कर ही नहीं सकता।

विज्ञान का मायाजाल यह है—लोगों की बुद्धि और अन्तरात्मा को जो अच्छा लगता है, उसके अनुसार व्यवहार करने से अक्सर बहुत बडी भूल हो जाती है, ऐसा कह-कहकर बुद्धि और अन्तरात्मा पर से लोगों का विश्वास उठा दिया। अपने पाखण्ड को वैज्ञानिक सिद्धान्तों

का रूप देकर वैज्ञानिक उसे लोगों की नज़रों से छिपाकर कहते हैं कि हम बाह्य घटनाओं का निरीक्षण मनुष्य-जीवन के नियमों का अध्ययन करते हैं। अभी तक तो बातें विवेक और अन्तरात्मा के क्षेत्र की थीं, अब केवल निरीक्षण द्वारा उनका पता लगाया जाता है। इन लोगों के मन से अच्छे बुरे, धर्म-अधर्म का विचार भी जाता रहता है। विवेक और अन्तरात्मा को वे अपनी अनादर-सूचक भाषा में 'अनिश्चित और कल्पित' का नाम देते हैं और कहते हैं; ये सब त्याज्य हैं।

बेचारे भोले-भाले नवयुवक इस सिद्धान्त की नवीनता से आकर्षित होकर प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिए दौड़ पड़ते हैं और उस मार्ग का अनुसरण करते है, जिसके अलावा वैज्ञानिकों के कथनानुसार जीवन के प्रश्नों को हल करने के लिए और कोई मार्ग ही नहीं है। किन्तु विद्यार्थी जितना ही इसका अध्ययन करते हैं, उतना ही वे जीवन के प्रश्नों को हल करने की सम्भावना से दूर हटते जाते हैं। इतना ही नहीं, वे उसका ख़याल तक भुला बैठते हैं। और ज्यों-ज्यों वे अभ्यास करते हैं, त्यों-त्यों स्वयं निरीक्षण न करने की और दूसरे लोगों द्वारा किये गये निरीक्षणों को श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार कर लेने की आदत पड़ती जाती है। और बाह्य रूप से ढककर अन्तर का तत्व अधिकाधिक प्रच्छन्न होता जाता है। धर्म अधर्म का उन्हें भान नहीं रहता और मानव-जाति ने अपने इतने दीर्घ अनुभव से अच्छे-बुरे की, धर्म-अधर्म की, जो व्याख्या की और उसके विषय में जो कुछ कहा, उसके समझने के अधिकाधिक अयोग्य होते जाते हैं। अज्ञानयुक्त निरीक्षण के दलदल में ये ज्यों-ज्यों गहरे उतरते जाते हैं, त्यों-त्यों अपने शास्त्र के बाहर की किसी भी नयी बात पर स्वतन्त्ररूप से विचार करने की बात तो दूर रही, वे दूसरे लोगों के ताज़े मानवीय विचार को समझने में भी असमर्थ होते जाते हैं। ख़ास बात तो यह है कि वे अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट समय जीवन के नियम को अर्थात श्रम करने की आदत को भुलाने में ही खो देते हैं और बिना मेहनत किये ही संसार की चीज़ों का उपभोग करने

का अपने को हकदार मानने लग जाते हैं। इस प्रकार वे बिलकुल निकम्मे और समाज के लिए हानिकारक बन जाते हैं। उनके दिमाग़ बिगड जाते है और विचार करने की शक्ति ही नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार उनकी शक्तियाँ दिन-ब-दिन कुन्द होती जाती हैं और धीरे-धीरे उनके मन में एक प्रकार का आत्म-सन्तोष-सा हो जाता है, जिससे सीधे-सादे और मेहनती जीवन तथा स्पष्ट स्वच्छ-साधारण और मनुष्यतापूर्ण विचार-पद्धति की ओर उनके लौटने की सम्भावना सदा के लिए जाती रहती है।

: ३२ :

श्रम-विभाग संसार में हमेशा से चलता आया है और आगे भी जारी रहेगा, यह ठीक है। पर हमारे सामने उसके जारी रहने या न रहने का प्रश्न नहीं है, प्रश्न तो यह है कि श्रम-विभाग के औचित्य का निर्णय करने के लिए कौन-सी कसौटी स्वीकार की जाय? निरीक्षण को कसौटी मानने का अर्थ है कि हम औचित्य का निर्णय करनेवाली और कोई भी कसौटी नहीं मानते। मनुष्यों में जो श्रम-विभाग हम प्रचलित देखेंगे और जो हमें ऊपरी दिखाव से ठीक मालूम पड़ेगा, उसीको हम ठीक समझने लगेंगे। और इसीकी ओर आजकल का प्रभावशाली विज्ञान हमें ले जा रहा है।

श्रम-विभाग! कुछ लोग मानसिक और आध्यात्मिक श्रम करते हैं और कुछ शारीरिक। कितनी दिलेरी के साथ लोग यह बात कहते हैं? ये लोग ऐसा समझना चाहते हैं, उन्हें ऐसा मालूम भी होता है, कि यह सेवा का सुन्दर विनिमय मात्र है; पर सच्ची बात तो यह है कि यह पुराने ज़माने से चले आनेवाले बलात्कार का एक स्पष्ट स्वरूप है।

"तू या तुम लोग (क्योंकि एक आदमी को खिलानेवाले प्रायः अनेक आदमी होते हैं) मुझे खाना खिलाओ, कपड़े दो, और मेरी हर तरह की कठोर सेवा करो। मैं बदले में तुम्हारे लिए मानसिक कार्य करूँगा। तुम मेरे शरीर को भोजन दो, और मैं तुम्हें आत्मिक भोजन प्रदान करूँगा।"

यह हिसाब मालूम तो ठीक होता है और सचमुच ही बहुत ठीक रहे, यदि सेवाओं का यह विनिमय स्वेच्छापूर्वक हो और वे लोग, जो शारीरिक भोजन देते हैं, आध्यात्मिक भोजन मिलने के पहले ही उसे देने के लिए लाचार न किये जायँ। आध्यात्मिक भोजन पैदा करनेवाला कहता है—"मैं तुम्हें आध्यात्मिक भोजन देने लायक बनूँ, इसके लिए यह ज़रूरी है कि तुम मुझे खाना, कपड़ा दो और मेरे घर का मैला उठाओ।"

किन्तु शरीरिक भोजन का उत्पादक कोई ऐसा दावा नहीं कर सकता, उसे तो शारीरिक भोजन देना ही होता है - चाहे उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले। यदि विनिमय स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक होता तो दोनों ओर की शर्तें एक-सी रहतीं। हम मानते हैं कि मनुष्य के लिए आध्यात्मिक भोजन उतना ही जरूरी है, जितना शारीरिक भोजन।

किन्तु विद्वान् और कलाविज्ञ कहते हैं--पेश्तर इसके कि लोगों को हम आध्यात्मिक भोजन दें; हमें ऐसे आदमियों की ज़रूरत है, जो हमारे लिए शारीरिक भोजन का प्रबन्ध करते रहें। शारीरिक भोजन के उत्पादक भी तो यह कह सकते हैं न, कि 'पेश्तर इसके कि हम तुम्हें शारीरिक भोजन दें, हमें आध्यात्मिक भोजन मिलना चाहिए और जबतक वह हमें मिल न जायेगा उस समय तक हम कोई श्रम नहीं कर सकते ?'

तुम कहते हो कि मैं जो आध्यात्मिक भोजन देना चाहता हूँ, उसे तैयार करने के लिए किसान, लोहार, मोची, बढ़ई, राज तथा अन्य लोगों के श्रम की ज़रूरत है।

प्रत्येक श्रमिक भी इसी तरह कह सकता है—पेश्तर इसके कि मैं तुम्हारे लिए भोजन पैदा करने जाऊँ, मुझे मानसिक भोजन चाहिए। मन लगाकर मेहनत करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए धार्मिक शिक्षा, सामाजिक सुव्यवस्था, काम में विज्ञान का उपयोग—ये सब मुझे अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होते हैं। जीवन का अर्थ खोज निकालने का मुझे समय नहीं है, इसलिए वह तुम मुझे बतादो। अन्याय को रोकने-

वाले नियम बनाने का मुझे समय नहीं है, इसलिए वे भी मेरे लिए बना दो। यंत्र-शास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, रसायन, शिल्प-विद्या—इन सबका अध्ययन करने लायक़ मेरे पास समय नहीं है, इसलिए मुझे कुछ ऐसी पुस्तकें दो, जिनसे मैं अपने औज़ारों को, कार्य-पद्धति को, घरों को और गर्मी तथा प्रकाश प्राप्त करने की पद्धति को सुधार सकूँ। साहित्य, संगीत और कला के अध्ययन में व्यतीत करने के लिए मेरे पास समय नहीं है, इसलिए आवश्यक जीवनोपयोगी प्रेरणा तथा आनन्दमय आश्वासन मुझे दो। कला की कृतियाँ मुझे प्रदान करो।

तुम कहते हो कि यदि मज़दूर लोग तुम्हारा काम न करें तो तुम अपना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक काम न कर सकोगे। एक मज़दूर भी इसी प्रकार ऐलान कर सकता है कि यदि मुझे अपने दिल व दिमाग की माँग के अनुसार धार्मिक शिक्षण, एक उचित राज-व्यवस्था—जो मेरी मेहनत के फल को सुरक्षित रख सके—मेहनत की कठोरता को मधुर बनानेवाला ज्ञान और उसे स्फूर्ति प्रदान करनेवाला कला का आनन्द नहीं मिलता, तो मेरे लिए यह असम्भव है कि मैं अपना महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकूँ। जैसे हल जोतना, मैला उठाकर ले जाना और तुम्हारे घरों का साफ़ करना। ये तुम्हारे कामों से कम महत्त्वपूर्ण और आवश्यक नहीं हैं। अभी तक तुमने आध्यात्मिकता के नाम पर जो-कुछ मुझे दिया है, वह मेरे लिए किसी काम का नहीं। और जबतक कि मुझे यह खुराक नहीं मिल जाती, जो हर एक मनुष्य के लिए ज़रूरी है, तब तक मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन पैदा नहीं कर सकता।

किसान, कारीगर और मजदूर लोग यदि ऐसा कहें, तो यह कोई मजाक नहीं बल्कि बिलकुल सीधी-सादी ठीक ही बात होगी। यदि मज़-दूर ऐसा कहे तो वह बुद्धिजीवी मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य पर होगा; क्योंकि श्रमिकों द्वारा तैयार की गयी वस्तु बुद्धि-जीवी मनुष्य की वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक जरूरी और लाज़िमी है। एक बात और। बुद्धि-जीवी जो आध्यात्मिक भोजन देने का वचन देता है, वह यदि दे

तो उसे कोई अड़चन न होगी; पर मज़दूर को शारीरिक भोजन देने मे एक अडचन होती है और वह यह कि उसके पास जो भोजन-सामग्री है, वह खुद उसीके ही लिए काफ़ी नही है।

इस सरल और न्यायोचित बात का हम बुद्धि-जीवी लोग क्या उत्तर देंगे ? हम उनको किस प्रकार संतोष देगे ? उनकी धार्मिक शिक्षा की माँग को क्या हम अपने मठों और मन्दिरों में जो-कुछ होता है वह देकर पूरा करेंगे ? सामाजिक सुव्यवस्था की माँग पर क्या हम उन्हें क़ानूनी पुस्तकें देकर सन्तुष्ट करेंगे, या प्रत्येक प्रकार के विभाग के फैसलों अथवा कमिटियों और कमीशनों की रिपोर्टें देकर ? उनकी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए क्या हम नक्षत्रों और ग्रहों की बनावट, आकाश-गंगा का हाल, काल्पनिक भूमिति, सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा की हुई शोधों, आत्म-अनात्मवाद तथा घटाकाश-पटाकाश का वितण्डावाद और वैज्ञानिक विद्यालयों की बातें पेश करके उन्हे सन्तुष्ट करेंगे ? और उनकी कला-सम्बन्धी माँग के लिए हम क्या करेंगे ? क्या हम अपने प्रसिद्ध कलाविज्ञों की पुस्तकें उनके सामने रक्खेंगे ? अथवा फ्रांस देश के तथा अपने कलाविज्ञों के बनाये हुए नंगी स्त्रियों के चित्र, साटिन और मख़मल से सजे हुए दीवानखानों के प्राकृतिक दृश्यों अथवा परिवारिक-जीवन के चित्र उनके सामने रक्खेंगे ? इनमें से कोई भी चीज़ उनके काम की नहीं है, और न कभी किसी के काम आ ही सकती है। दर-असल हम लोग दूसरों के श्रम पर जीवित रहने का अधिकार प्राप्त करके और मज़दूरों के लिए आध्यात्मिक भोजन तैयार करने की ज़िम्मेवारी महसूस न करके अपने मुख्य लक्ष्य को ही बिलकुल भूल गये हैं। हमें तो इस बात का पता तक नही है कि मज़दूरों को किस बात की ज़रूरत है; हम उनके जीवन के ढंग को, उनके विचारों को और उनकी भाषा तक को भूल गये हैं। हम तो उनके अस्तित्व को ही एकदम भूल गये हैं और अब किसी नये निकले हुए प्रदेश अथवा किसी नवीन जाति की भाँति हम उनका अध्ययन करने बैठते हैं।

अपने लिए शारीरिक भोजन की व्यवस्था कराके हमने आध्यात्मिक भोजन की तैयारी का भार अपने ऊपर लिया था। किन्तु उस कल्पित श्रम-विभाग के परिणाम-स्वरूप, जिनके अनुसार हम काम करने से पहले भोजन कर सकते हैं। इतना ही नहीं पीढ़ियों तक बिना काम किये खूब ऐशो-आराम के साथ रह सकते हैं। हमने अपने भोजन के एवज़ में कुछ चीज़ें तैयार कीं, जो हमें अपने तथा कला विज्ञान के लिए उपयोगी मालूम होती हैं। किन्तु वे चीजें उन लोगों के तो किसी मसरफ की नहीं जिनकी मेहनत से हम इस बहाने लाभ उठाते हैं कि बदले में हम मानसिक यथा आध्यात्मिक भोजन उन्हें देंगे। और हमारी बनाई हुई कुछ चीज़ें ऐसी हैं, जो उनकी समझ में ही नहीं आतीं और उन्हें वे बुरा समझते हैं।

हमने जो कर्तव्य अपने लिए स्वीकार किया था उसे हम अपनी मूर्खता वश इतना भूल बैठे कि हमें यह भी याद नहीं रहा कि हम जो काम करते हैं, वे किसके लिए कर रहे हैं। जिन लोगों की सेवा का भार हमने अपने ऊपर लिया था उन्हींको हम अपनी वैज्ञानिक तथा कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का विषय बनाते हैं। हम उनका अध्ययन करते हैं और अपने विनोद के लिए उनके जीवन को चित्रित करते हैं। हम बिलकुल भूल गये कि उनका अध्ययन करना या उनके जीवन को चित्रित करना नहीं, उनकी सेवा करना हमारा धर्म है।

हमने अपने कर्तव्य को ध्यान से इतना उतार दिया है कि हमने यह भी नहीं देखा कि विज्ञान और कला-सम्बन्धी जिस कार्य का भार हमने लिया था, उसे बहुत से दूसरे लोग कर रहे हैं और हमारा स्थान भरा हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि बीज-विहीन सृष्टि होती है कि नहीं, जीवों की स्वयम्भू उत्पत्ति कैसे होती है? आदि बातों की बहस मे हम पड़े रहे और उधर लोगों को आध्यात्मिक भोजन की ज़रूरत महसूस हुई, इस लिए विज्ञान की दृष्टि में जो तिरस्कृत और बहिष्कृत लोग थे उन्होंने इस काम को हाथ में लिया और लोगों की योग्यतानुसार उन्हें आध्यात्मिक भोजन देने लगे। यूरोप में लगभग ४० वर्ष से और रूस मे १० वर्ष से

सैकड़ों पुस्तकें,चित्र और गीत छपकर बँट रहे हैं, जिन्हें लोग पढ़ते हैं और गाते हैं और उनसे आध्यात्मिक शान्ति पाते हैं। किन्तु यह सब बात उन लोगों के द्वारा नहीं होती, जिन्होंने आध्यात्मिक भोजन देने का ठेका लिया था। और हम लोग, जो इसी काम की रोटी खाते है, कुछ करते-धरते नहीं, चुपचाप बैठे देखा करते हैं।

हम किसी ख़ास विषय के विशेषज्ञ हैं और हमारा एक ख़ास काम है। हम लोगो के दिमाग़ हैं। वे हमें भोजन देते हैं और हमने उनको शिक्षा देने का भार अपने ज़िम्मे लिया है। इसी कारण हम शारीरिक श्रम से मुक्त हुए हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हमने उन्हें शिक्षा दी है? लोगो ने दसियो-बीसियों-सैकडों वर्षों तक राह देखी, पर हम अभी तक आपस में ही बहस कर रहे हैं, एक दूसरे से विनोद करते हैं। उन लोगों को तो हम बिलकुल भूल ही गये, इतना भूल गये कि दूसरे लोगों ने इन श्रमिकों को सिखाने-पढ़ाने और रिझाने का काम अपने ज़िम्मे ले लिया और हम श्रम-विभाग की वाहियात बातों में ऐसे मशगूल रहे कि हमें इस बात का भी पता न चला। इन सब बातों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि लोगों के लिए अत्यन्त उपयोगी होने की जो बड़ी-बड़ी बातें हमने की थीं, वे और कुछ नहीं, बेशर्मी और बहाना-मात्र थी।

: ३३ :

एक समय था, जब हमारे समाज का आध्यात्मिक जीवन धर्माचार्यों के हाथ मे था। धर्माचार्यों ने लोगों को सुखी बनाने का ज़िम्मा लिया और इसके बदले में जीवन-निर्वाह के लिए ज़रूरी जीवन-संघर्ष में योग देने से अपने को मुक्त कर लिया किन्तु ज्योंही ऐसा हुआ, वे अपने काम को छोड बैठे और लोग उनसे विमुख हो गये। चर्च का सर्वनाश वस्तुत: और किसी कारण की अपेक्षा इसलिए हुआ कि कान्स्टैण्टाइन के ज़माने में राज्य-शक्ति पाकर धर्माधिकारियों ने श्रम के नियम को भंग किया—और उसके परिणाम-स्वरूप जो आलस्य और विलासिता उनमें घुसी, उसीने सर्वनाश को जन्म दिया। श्रम से मुक्ति मिलते ही चर्च ने उस मानव-समाज की सेवा का ख़याल छोड दिया, जिसकी सेवा का भार उसने अपने ऊपर लिया था। वह केवल निजी स्वार्थ-साधन में लग गया और चर्च के अधिकारी आलस्य और विलास में फँस गए।

इसके बाद राज-तंत्र ने लोक जीवन का नेतृत्व गृहण किया। उसने समाज के लिए न्याय, शान्ति, संरक्षण, व्यवस्था, शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति आदि का भार अपने ज़िम्मे लिया और इसके बदले में राज के सेवकों ने जीवन-संघर्ष में योग देने के कर्तव्य से अपने को मुक्त कर लिया। लेकिन ज्योंही उन्हें दूसरों के श्रम का उपभोग करने का अधिकार मिल गया, त्योंही उन्होंने भी चर्च के अधिकारियों की तरह व्यवहार करना शुरु कर दिया। तब प्रजा उनके ध्यान से उतर गयी और

राजा से लेकर छोटे-से-छोटे सिपाही तक सब आलसी और दुराचारी हो गये। कहीं एक जगह नहीं—रोम, फ्रांस, इंग्लैण्ड, रूस और अमेरिका—सभी जगह यही हुआ। अब लोगों का राज्य पर से विश्वास उठ गया है। और वे अराजकता को आदर्श मानकर उसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

राज्य-शक्ति की सहायता पाकर कला और विज्ञान ने भी बिलकुल ऐसा ही किया। उन्होंने राज्य को मदद देने का वचन दिया और बिना कुछ श्रम किये दूसरो के श्रम से लाभ उठाने और आलसी रहने का अधिकार प्राप्त कर लिया। पर इस प्रकार वे भी अपने कर्तव्य से च्युत होगये।

इनमें जो खराबियाँ पैदा हुईं वे भी इसीलिए कि भ्रमात्मक श्रम-विभाग की कल्पना के अनुसार उन्होंने दूसरों के श्रम पर जीने का अधिकार माँगा। वे अपने जीवन का ध्येय भूल बैठे। उन्होंने लोक-हित को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र न बनाकर कला और विज्ञान की कुछ विचित्र बातों को अपना ध्येय बनाया। वे भी अपने पूर्ववर्ती धर्माचार्यों तथा राज्याधिकारियों की भाँति आलस्य और दुराचार में फँस गये—यह ठीक है कि इनका पतन केवल बौद्धिक है, शारीरिक नहीं।

यह कहा जाता है कि विज्ञान और कला ने मनुष्य-समाज के लिए बहुत काम किया है। मैं इनसे इन्कार नहीं करता।

लेकिन इस तरह चर्च और सरकार द्वारा भी लोगों को बहुत लाभ पहुँचा है, किन्तु वह इसलिए नहीं कि उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया और न इसलिए कि उन्होंने मनुष्य-जीवन के लिए लाज़िमी श्रम-धर्म को छोड दिया था; बल्कि इसलिए कि उनके अन्दर ऐसे लोगों की भी संख्या काफ़ी रही, जो ईमानदार और अपने कर्तव्य के प्रति सच्चे थे।

विज्ञान और कला के सम्बन्ध में भी यही बात है। विज्ञान और कला ने संसार के लिए बहुत कुछ किया है; किन्तु जो कुछ हुआ है, वह इसलिए नहीं कि इन विद्याओं से सम्बन्ध रखनेवालों को पुराने ज़माने में कभी-कभी और आजकल हमेशा अपनेको श्रम से मुक्त करने का मौका मिला, बल्कि इसलिए कि इनमें से कुछ प्रतिभाशाली पुरुष अपने इन अधिकारों

को काम में न लाकर मनुष्य-समाज की प्रगति को आगे बढ़ाते रहे है। रोम का प्रजा-तन्त्र इतना बलवान था, इसका कारण यह नहीं था कि उसके नागरिक व्यभिचारी जीवन व्यतीत कर सकते थे। इसकी उन्नति का कारण तो यह था कि उसमें बहुत से सुयोग्य और चरित्रवान लोग थे। कला और विज्ञान के लिए भी यही बात है।

विद्वानों और कलाविज्ञों का जो वर्ग झूठे श्रम-विभाग के आधार पर दूसरे लोगों के श्रम से लाभ उठाने का अधिकार माँगता है, वह सच्चा विज्ञान और सच्ची कला कभी तैयार ही नहीं कर सकता, क्योंकि झूठ सत्य को पैदा नहीं कर सकता।

हम खा-पीकर मस्त रहनेवाले किन्तु निर्बल और अशक्त बुद्धिजीवी अपनी स्थिति के कुछ इतने आदी हो गये हैं कि यदि हम किसी विद्वान् अथवा कला-विज्ञ को हल जोतते तथा खाद की गाड़ी हाँकते हुए देखें तो यह बात हमे बडी अजीब-सी मालूम होगी। सचमुच इस स्थिति के हम इतने आदी हो गये है कि हमें इस बात पर आश्चर्य नही होता कि हमारे विज्ञानाचार्य—अर्थात् वे लोग जिनका काम सत्य की शोध और उसका प्रचार करना है—दूसरे लोगों को अपने निजी काम करने के लिए लाचार करते हैं और अपना बहुत-सा समय खाने-पीने, हुक्का, सिग्रेट पीने वाग्विनोद, उपन्यास और पत्र पढ़ने तथा नाटक-सिनेमा देखने में गुज़ार देते हैं। हम अपने दार्शनिकों को होटल, नाटक या नाच में देखते हैं, तो हमें आश्चर्य नहीं होता। हम जब सुनते हैं कि कलाविज्ञ लोग, जो हमारी आत्मा को आनन्द और स्फूर्ति प्रदान करते हैं, शराब पीते हैं, ताश, खेलते हैं, दुश्चरित्र स्त्रियों की संगति में जीवन व्यतीत करते हैं, या इनसे भी बुरे-बुरे काम करते हैं तो हमें ज़रा भी आश्चर्य नहीं होता!

विज्ञान और कला सुन्दर चीज़ें हैं। यह ठीक है और इसीलिए तो उन्हें दुराचार के संसर्ग से बचाने की और भी ज़रूरत है अर्थात् मेहनत करके अपनी और दूसरों की सेवा करने के स्वाभाविक कर्तव्य से मुक्त होकर अपने को कर्तव्य-भ्रष्ट न होने देना चाहिए।

: ३४ :

किन्तु, आप कहेंगे आज विज्ञान और कला मे जो असाधारण सफलता हम देख रहे हैं वह श्रम-विभाग का ही तो फल है। इसीके अनुसार वैज्ञानिक तथा कलाविज्ञ लोग अपनी रोज़ी कमाने के कर्तव्य से मुक्त कर दिये जाने के कारण कला की ओर ध्यान दे सकते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य के लिए हल जोतना लाज़िमी होता तो इतनी ज़बरदस्त उन्नति होना असम्भव था और प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता बढ़ाने वाली यह आश्चर्यजनक सफलता नामुमकिन थी। मनुष्यों को आश्चर्य में डालनेवाली ज्योतिष-सम्बन्धी वे शोधें आपको न मिलतीं, जिनसे जहाज़ चलाने में मदद मिल रही है। इसके बिना ये जहाज़, रेल, तार, पुल, पहाड़ी, सुरंगें, फोटो, टेलीफोन, सीने की मशीनें, फोनोग्राफ़, आदि बाजे, बिजली दूरदर्शी-यन्त्र, सूक्ष्मदर्शी-यन्त्र, दूर की चीजें अर्थात् तारे आदि किन तत्वों के बने हैं, इस बात को बतानेवाले यन्त्र और क्लोरोफार्म, कारबोलिक एसिड आदि कहाँसे आते ?

इन सब पर हमारे ज़माने को गर्व है। हम इन बातों की बारबार चर्चा करते हैं और अपनी प्रगति पर ऐसे फ़िदा हो रहे हैं कि अपनी तारीफ़ करते नहीं अघाते। ऐसा मालूम होता है कि सचमुच हम यह विश्वास करने लग गये हैं कि विज्ञान और कला की हमारे ज़माने में जैसी उन्नति हुई है, वैसी कभी नहीं हुई। और चूँकि यह सब प्रगति इसी श्रम-विभाग के कारण हुई है, इसीलिए यह कैसे हो सकता है कि हम उसका समर्थन न करें ?

थोडी देर के लिए मान लीजिए कि हमारे देश की उन्नति वास्तव में असाधारण और आश्चर्यजनक है, किन्तु आज जिन सफलताओं पर हम इतने फूल रहे हैं, उनका वास्तव में कितना मूल्य है, यह जानने के लिए श्रम-विभाग के उसी सिद्धान्त के अनुसार हमें यह देखना होगा कि इन सब आविष्कारों से उन लोगों को कितना फ़ायदा पहुँचा है, जिनके सिर पर अपना बोझ डालकर वैज्ञानिक अपनेको श्रम के कर्तव्य से मुक्त कर लेते हैं। किसी दुर्भाग्य के कारण, जिसे वैज्ञानिक लोग भी मानते हैं, उससे अभी तक मजदूर लोगों कि स्थिति सुधरी नहीं, कुछ बिगड ही गयी है।

यह ठीक है कि एक मज़दूर आज पैदल चलने के बजाय रेल में सफ़र कर सकता है, किन्तु इसी रेल के कारण उसके जंगल जला दिये गए हैं और उसकी आँखों के सामने से उसकी रोटी लेकर बहुत दूर पहुँचा दी गयी है और वह रेल के मालिकों का क़रीब-क़रीब गुलाम-सा बना दिया गया है।

भाप के इञ्जनों और मशीन की कृपा से आज वह सस्ता और ख़राब कपडा ख़रीद सकता है सही, किन्तु इन्हीं इंजन और मशीनों के बदौलत तो उसकी रोज़ी छिन गयी है और वह कारखाने के मालिकों का खरीदा हुआ ग़ुलाम हो रहा है।

यह ठीक है कि तार का उपयोग करने की उसे मनाई नहीं है, पर वह उसका उपयोग नहीं करता, क्योंकि उसके पास इतने पैसे ही नही हैं। किन्तु इस तार-वर्क़ी ही की बदौलत उसे यह मालूम होने से पहले ही कि इसकी चीज़ की इस समय माँग है और उसकी कीमत बढ़ गयी है, उसकी आँखों के आगे ही धनी सस्ते मूल्य पर उसकी चीज़ें ख़रीद ले जाते हैं।

आज टेलीफोन, टेलिस्कोप, उपन्यास, सिनेमा, चित्र-शालायें आदि बहुत-सी चीज़ें मौजूद हैं, किन्तु मज़दूरों को इनसे कुछ लाभ नहीं मिल पाता क्योंकि ये चीज़ें उसकी बुरी आर्थिक अवस्था के कारण उसकी पहुँच से बाहर हैं। इस प्रकार इन आश्चर्य-जनक शोधों, आविष्कारों और

कला-मय कृतियों ने मज़दूरों के जीवन को यदि हानि नहीं, तो लाभ भी नहीं पहुँचाया है—और यह वैज्ञानिक भी मानते हैं।

हम अपने स्वार्थ और सुख-सन्तोष की बात छोड़कर यदि आजकल के विज्ञान और कला की सफलता को उसी कसौटी पर कसें—अर्थात् मज़दूर श्रेणी के लाभ से ख़याल से देखें, जिसके कारण वर्तमान श्रम-विभाग का समर्थन किया जाता है, तो हमें पता चलेगा कि हम जो इतना सन्तोष प्रकट करते हैं, उसका वास्तव में कोई कारण नहीं है।

एक किसान रेल पर बैठता है, उसकी स्त्री कपड़ा खरीदती है, झोपड़ी में मिट्टी के तेल का दिया जलता है और किसान दियासलाई के द्वारा अपनी बीड़ी पीता है—यह सब बड़ा अच्छा है, किन्तु इतने ही से रेल और कल-कारख़ानों से इन लोगों का कल्याण हुआ है, यह हम कैसे कह सकते हैं?

यदि कोई किसान रेल में सफ़र करता है, लैम्प, कपड़ा और दियासलाई ख़रीदता है, तो सिर्फ़ इसलिए कि हम उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकते, किन्तु यह बात तो हम सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि रेल और कल-कारखाने इन लोगों के लाभ के लिए नहीं बनाये गये थे। तब फिर राह चलते यदि कुछ लोगो को लाभ पहुँच जाता हो तो इस बात को साबित करने के लिए दलील कैसे पेश की जा सकती है कि ये चीज़ें लोगो के फ़ायदे के लिए बनी हैं ?

हम सब लोग अच्छी तरह जानते हैं कि इन्जीनियर और पूँजी-पति रेल और कल-कारख़ाने बनाते समय मजदूरों का ख़याल करते हैं तो केवल इसलिए कि उनका किस प्रकार अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है और इस बात में वे यूरोप में, अमेरिका में और रूस में भी पूरी तरह कामयाब हुए हैं।

प्रत्येक हानिकारक चीज़ के साथ कुछ लाभदायक बात भी रहती है। घर में आग लग जाने पर हम वहाँ जाकर हाथ ताप सकते हैं और कोई जलती हुई लकड़ी उठाकर हम बीड़ी भी सुलगा सकते हैं। पर क्या हम यह कहते हैं कि आग लग जाना उपयोगी है ?

हमें अपने को धोखे में नहीं डालना चाहिए। रेल और कल-कारख़ाने तथा मिट्टी का तेल और दियासलाई किसलिए बनाये जाते है, यह हम सब जानते हैं। एक शिल्पी जब रेल बनाता है तो या तो सरकार के लिए बनाता है, जिससे युद्ध में आसानी हो, या पूँजीपतियों को आर्थिक लाभ पहुँचाने की खातिर। वह जो-कुछ बनाता है, या सोचता है वह सब सरकार, पूँजीपति तथा धनिक लोगों के लिए ही करता है। उसके जो सबसे अधिक चातुर्य-पूर्ण आविष्कार होते हैं, वे या तो तोप, बन्दूक, नौका-नाशक यन्त्र और कैदखानो की भाँति लोगों को एकदम हानि पहुँचानेवाले ही होते हैं, या फिर वे केवल व्यर्थ ही नहीं, बल्कि उनकी पहुँच से बिलकुल बाहर होते हैं—जैसे बिजली की रोशनी, टेलीफोन और ऐशो-आराम की अनेक चीज़ें, या फिर वे ऐसी चीज़ें होती है, जो उन्हें पतित बना देती हैं और उनकी जेब से अन्तिम पाई भी निकाल लेती हैं—जैसे शराब, अफीम, तम्बाकू, जेवर आदि चमक-दमकवाली शौकीनी तथा ऐसी ही अन्य बहुत सी छोटी-मोटी चीज़ें।

विज्ञान और कला के पुजारी तभी अपनी प्रवृत्ति को लोकोपयोगी कह सकते थे जबकि उन्होंने लोगों को लाभ पहुँचाने के लिए उन कामों को किया होता न कि सिर्फ सरकार और पूँजीपतियों को।

विद्वान लोग तो अपने-अपने पवित्र कामों में लगे हुए हैं। वे परमाणुओं के पृथक्करण और सितारों के रंग से उनके तत्त्वों को पहचानने की क्रिया में तथा ऐसी ही शोधों में मस्त रहते हैं, किन्तु कुल्हाडी किस प्रकार बनायी जाय, किस प्रकार की कुल्हाडी से लकडी काटना अच्छा है, कौनसा आटा अधिक अच्छा होता है, किस प्रकार के आटे की रोटी बनायी जाय, आटा किस प्रकार गूँधा जाय, ख़मीर किस प्रकार उठाया जाय, अङ्गीठी किस प्रकार बनायी और गरम की जाय, किस प्रकार के खाने-पीने और बर्तन आदि का उपयोग अधिक लाभदायक होगा और इन चीज़ों को आसानी से कैसे तैयार किया जा सकता है-इन बातों की ओर विज्ञान

कभी ध्यान देने का कष्ट ही नहीं उठाता और कभी ध्यान देता भी है तो बहुत थोड़ा।

किन्तु सच पूछिये तो यह सब विज्ञान के ही काम हैं।

विज्ञान का काम लोगों की सेवा करना है। हमने तार, टेलीफोन, फोनोग्राफ तो बनाये, किन्तु लोगों के जीवन में हमने कौन-सा सुधार और कौन-सी उन्नति की ? हमने कीडों को लाखों की संख्या में खोज निकाला, तो इससे क्या, बहुत पुराने ज़माने से जो पालतू जानवर चले आते हैं उनमें हमने एक भी जानवर की वृद्धि की ? अभी बहुत से जंगली पशु-पत्ती हैं, पर क्या हमने कभी उन्हें पालतू बनाने का उद्योग किया ? बनस्पतिशास्त्रियों ने कोष्टों (cells) की शोध की, कोष्टों में से अणुओं को खोज निकाला, इन अणुओं में से किसी अन्य चीज़ को और उस अन्य चीज़ में से भी किसी अन्य चीज़ को खोजने की चेष्टा की। प्राचीन-तम समय में गेहूँ और दालों आदि की खेती होती थी। लेकिन अबतक आलू को छोडकर मनुष्य को पोषण देनेवाला एक भी नया पौधा नहीं निकला। और आलू की खोज का श्रेय भी वैज्ञानिकों को नहीं है। हमने जलमग्न नौका-नाशक यन्त्र का आविष्कार किया, घर में नालियों की व्यवस्था की; किन्तु चर्खा, कर्घा, हल, कुल्हाडी, नाज निकालने का यन्त्र, बाल्टियाँ और खेती तथा रोज़मर्रा के इस्तैमाल की चीज़ें बिलकुल पहले ही जैसी हैं। यदि इनमें से किसी चीज़ में उन्नति हुई है तो वह विद्वानों द्वारा नहीं, बल्कि बेचारे बिना पढ़े-लिखे लोगों के द्वारा ही हुई है।

कला के सम्बन्ध में भी यही बात है। बहुत से लोगों को महान् लेखक माना जाता है। हमने उनपर ढेरो आलोचनायें लिखी हैं और उन आलोचनाओं पर अनेकों आलोचनायें लिखीं; हमने चित्रशालाओं में चित्रो का संग्रह किया और कला के विभिन्न विभागों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया; हमने ऐसे मिश्रित वाद्य-संगीतों और नाट्य-संगीतों का आविष्कार किया है, जिन्हें स्वयं हम ही मुश्किल से सुन-समझ पाते हैं; किन्तु हमने लोग-प्रिय वाद्यों में, गीतों मे, कहानियों और लोगों के लिए

रूपकों में कितनी वृद्धि की है ? हमने लोगों के लिए कौन-से चित्र, कौन-से गीत बनाये हैं ? पुस्तकें और चित्र प्रकाशित होते हैं सही, और हारमोनियम भी बनते हैं, किन्तु हमने इनके बनाने में कोई भाग नहीं लिया।

विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन क्षेत्रों में विज्ञान और कला को लोगों के लिए अधिक उपयोगी होना चाहिए, उन्हीं क्षेत्रों में उन्होंने ग़लत रास्ता अख्तियार किया है। इस कारण वे उपयोगी होने के स्थान पर हानिकारक हो उठे हैं। शिल्पी, यन्त्रशास्त्री, शिक्षक, कलाकार और लेखक—इन सबके पेशे ऊपर से देखिए तो लोगों की सेवा के लिए बने हुए दिखायी देते हैं। किन्तु होता क्या है ? आज जो-कुछ हो रहा है, उससे लोगों की उल्टी हानि पहुँचती है।

शिल्पी तथा यन्त्र-शास्त्री बिना पूँजी के कुछ नहीं कर सकते। इनका सारा ज्ञान इस प्रकार का है कि उसका उपयोग करने के लिए अच्छी पूँजी और काफी संख्या में मज़दूर चाहिएँ। खुद अपने ख़र्चे के लिए उन्हें प्रति वर्ष हज़ार-पंद्रह सौ रुपया चाहिए। इसलिए वे किसी गाँव में जाकर नहीं रह सकते, क्योंकि वहाँ उनको कोई इतना पैसा न देगा। वे अपने पेशों के कारण ही लोगों की सेवा के लायक नहीं रहते।

पुल की महराव कितनी बड़ी है, यह वे उच्चगणित के द्वारा बता सकते हैं। इञ्जिन की ताक़त को भी वे मालूम कर सकते हैं; किन्तु साधारण शारीरिक श्रम करने में वे असमर्थ हैं। हल या गाड़ी की मरम्मत करना या उनमें सुधार करना वे नहीं जानते, नदी को किस प्रकार पार किया जा सकता है, इसका उन्हें किसानों की अपेक्षा बहुत ही कम ज्ञान है।

वे इस जीवन को बिलकुल नहीं समझ पाते—उतना भी नहीं जितना कि ग़रीब-से-ग़रीब किसान समझता है। उनके लिए कारख़ाने और बहुत-से आदमी काम करने के लिए चाहिए। बाहर से मशीनें भी मँगा दी जायें, तब वे अपना काम कर सकेंगे। किन्तु आज जो लाखों-करोड़ों

किसान दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं, उनको किस प्रकार मदद दी जाय और उनकी कठोर ज़िन्दगी को किस तरह सुगम बनाया जाय, यह न तो वे जानते ही हैं और न ऐसा कुछ कर ही सकते हैं।

डाक्टरों की स्थिति तो और भी ख़राब है। उनकी कल्पित विद्या तो कुछ ऐसी है कि उन्हीं लोगों के रोगों को दूर कर सकती है, जो बिलकुल निकम्मे हैं और जो दूसरे लोगों की मेहनत का लाभ उठा सकते हैं। ठीक शास्त्रीय विधि से काम करने के लिए तो उन्हें औज़ार, औषधि, स्वास्थ्यप्रद मकान, खाना, नालियाँ आदि कितनी ही ख़र्चीली चीज़ों की ज़रूरत है। अपनी फ़ीस के अलावा वे ऐसे ख़र्चों का मतालबा करते हैं कि एक रोगी को अच्छा करने के लिए बेचारे सैकड़ों लोगों को भूखों मरना पडता है। इन लोगों ने बडी-बडी राजधानियों में बड़े-बड़े विद्वान् लोगों से शिक्षा पायी है। जो सिर्फ़ ऐसे ही बीमारों का इलाज करते थे कि जिनको वे अस्पताल में रख सकते थे, या जो स्वयं अपने पैसे से सब ज़रूरी दवाइयाँ तथा औज़ार ख़रीदकर रख सकते हैं और जो सलाह मिलते ही उत्तर से दक्षिण को जलवायु के परिवर्तनार्थ जाने में समर्थ हैं।

यह डाक्टरी विद्या इस प्रकार की है कि प्रत्येक गाँव का डाक्टर इस तरह की शिकायतें करता रहता है कि गाँव के ग़रीब किसानों और मज़दूरों का इलाज करना बड़ा मुश्किल है, क्योंकि स्वास्थ्यप्रद घर रहने के लिए वे पा नहीं सकते, कोई अस्पताल नहीं है, अकेले वह सारा काम नहीं देख सकता, उसे सहायता के लिए सब-असिस्टेन्ट-सर्जन की ज़रूरत है। किन्तु वास्तव में इन सब बातों के अर्थ क्या है ? इसके अर्थ यह हैं कि पेट भरने के लिए उसके पास भोजन नहीं है। और यही सब रोगों का कारण है। इसीसे वे फैलते हैं और अच्छे नहीं हो पाते।

अब विज्ञान श्रम-विभाग के झण्डे-तले खड़ा हुआ अपने समर्थकों को सहायता के लिए बुलाता है। विज्ञान तो अमीरों के चारों ओर सन्तोष के साथ अपना स्थान बना लेता है और उन लोगों को अच्छा करने की कोशिश करता है कि जो सभी ज़रूरी चीज़ें प्राप्त कर सकते हैं।

लोगों के लाभ के लिए वैज्ञानिक सहयोग बिलकुल दूसरी ही तरह का होना चाहिए और जैसा वास्तव में होना चाहिए वह अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है। उसका प्रारम्भ तब होगा, जब विज्ञान-वेत्ता, शिल्पी और डाक्टर लोग उस श्रम-विभाग को अथवा यों कहिए कि दूसरों का श्रम छीन लेने की प्रचलित पद्धति को उचित और न्यायपूर्ण समझना छोड़ देंगे और जब वे यह समझने लगेंगे कि हज़ारों लाखों की तो बात ही नहीं, हज़ार-पाँच सौ की रकम भी अपनी सेवाओं के बदले में लेना अनुचित है। जबकि विज्ञान-वेत्ता लोग मज़दूर लोगों के साथ बिलकुल उन्हींकी तरह हिल-मिलकर रहने लगेंगे और केवल सेवा-भाव से अपनी शिल्प-विद्या, कला-कौशल और औषध-ज्ञान का उपयोग लोगों के लाभ के लिए करेंगे, तब विज्ञान आम लोगों को लाभ पहुँचा सकेगा। किन्तु इस समय तो वैज्ञानिक लोग जो मज़दूरों की मेहनत पर जीवन व्यतीत करते हैं, सर्व-साधारण के रहन-सहन को बिल्कुल भूल गये हैं।

चिकित्सा-शास्त्र और शिल्प-शास्त्र तो अभी तक लोगों का कुछ भी भला नहीं कर पाये। श्रम के समय को किस प्रकार विभक्त किया जाय; कौन-सा खाना अधिक उपयोगी होगा, किस तरह के कपडे पहनना ज्यादा अच्छा है; सर्दी और नमी को किस प्रकार दूर किया जाय, बच्चों को किस तरह नहलाया-धुलाया जाय, किस तरह उन्हें दूध पिलाया जाय, पाला-पोसा जाय—ये प्रश्न है, जो मज़दूरों की आजकल की स्थिति में आवश्यक मालूम होते हैं किन्तु जिनको आजकल किसीने हल करने की कोशिश नहीं की।

वैज्ञानिक शिक्षकों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। विज्ञान ने शिक्षण का प्रबन्ध भी कुछ इस ढंग से किया है कि केवल धनिकों को ही शिक्षा प्राप्त हो सकती है। इञ्जिनियरों व डाक्टरों की भाँति ये शिक्षक भी अनजान में धन की ओर आकर्षित हो जाते हैं।

इसके सिवा और हो ही क्या सकता है? क्योंकि बेञ्चों, ग्लोब, नक्शों, पुस्तकालयों आदि से सज्जित सुव्यवस्थित स्कूल एक ऐसी चीज़

है कि जिसको जारी रखने के लिए लोगों पर लगान दोहरा कर देना पड़ेगा। अब बच्चों के लिए भी मेहनत करना ज़रूरी हो जाता है, नहीं तो लोग दोहरा कर अदा नहीं कर सकते—ख़ासकर ग़रीब लोग। यदि शिक्षा-शास्त्रियों के कथनानुसार और ऐसे स्कूल खोले गये और उनका ख़र्च लोगों पर डाला गया तो लोग और भी अधिक ग़रीब हो जायेंगे।

तब फिर क्या किया जाय?

'सरकार स्कूल स्थापित करेगी और यूरोप के अन्य देशों की तरह शिक्षा अनिवार्य कर देगी। किन्तु रुपया तो फिर भी लोगों ही से लिया जायगा और इसलिए उन्हें मेहनत और भी अधिक करनी होगी, उनके पास समय और भी कम बचेगा, और इसलिए अनिवार्य शिक्षा सफल नहीं होगी। इसका भी बस एक ही इलाज है—शिक्षक भी मज़-दूरों की तरह उनके साथ जाकर रहे और स्वेच्छापूर्वक उसे जो-कुछ दे दिया जाय, वही स्वीकार करके शिक्षा दे।'

विज्ञान तो अपना वह वाहियात वहाना पेश भी कर सकता है कि 'विज्ञान विज्ञान के लिए ही काम कर रहा है' और जब उसका पूरा विकास हो जायगा, तब वह लोगों को प्राप्त होगा। किन्तु कला, यदि वह वास्तव में कला है, तो सभी को सुलभ होनी चाहिए—विशेषतः उनको, जिनके लिए वह बनी है। हमारी कला की दशा तो ऐसी हो रही है कि कला से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों पर यह दोष लगाया जा सकता है कि वे लोगों के लिए लाभदायक होना चाहते ही नहीं। लोगों को किस प्रकार लाभ पहुँ-चाया जा सकता है, यह वे जानते नहीं। लोकोपयोगी बन भी नहीं सकते।

चित्रकार को अपनी महान् कृतियाँ बनाने के लिए एक खास कमरा चाहिए और वह इतना बड़ा होना चाहिए कि जिसमें ४० बढ़ई या मोची समा सकते हों, जो आज स्थानाभाव से या तो सर्दी से ठिठुर रहे हैं या बन्द हवा में रहने के कारण दम घुट-घुटकर मर रहे हैं। परन्तु इतना ही काफ़ी नहीं है। उन्हें तो प्रकृति-निरीक्षण भी करना चाहिए और इसके

लिए सैर ज़रूरी है, जिसके लिए पुष्कल साधनों की आवश्यकता है। कला-शालायें कला को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए लोगों से ले-लेकर लाखों रुपया ख़र्च कर रही हैं। मज़दूरों के रुपये से संचालित कला की कृतियाँ महलों में लटकती हैं, जो न तो मजदूरों की समझ में आती हैं और न जिनकी उन्हें कोई ज़रूरत ही है। संगीत-शास्त्रियों का भी यही हाल है।

लेखकों और ग्रन्थकारों के विषय मे तो ऐसा मालूम होता है कि उन्हे कोई खास तरह के मकान, रंग-मञ्च, कलाशाला या नटों आदि की ज़रूरत नहीं होती, किन्तु उनके लिए भी इतना ज़रूरी हो उठता है कि यदि वे कोई महान् ग्रन्थ लिखना चाहते हैं तो उन्हें अध्ययन और अनुभव के लिए यात्रा करनी चाहिए, सभा-समितियों मे जाना चाहिए, महलों को देखना और कला, नाटक, सङ्गीत आदि का आनन्द लेना चाहिए। यदि इन बातों के लिए उनके पास रुपया जमा नहीं है तो उन्हें वृत्ति दी जाती है, ताकि वे निश्चिन्त होकर अच्छी रचना कर सकें। किन्तु यहाँ भी परिणाम वही होता है कि इन रचनाओं को हम लोग तो खूब पसन्द करते है, किन्तु आम लोगों के लिए तो वे बिलकुल व्यर्थ और अनुपयोगी हैं।

वैज्ञानिकों और कला-प्रेमियों की इच्छानुसार यदि ऐसे आध्यात्मिक भोजन के उत्पादकों की इतनी संख्या बढ़ जाय कि प्रत्येक गाँव में कला-शाला बनवानी पडे, सङ्गीतज्ञों का प्रबन्ध कराना पडे और एक ग्रन्थकार को रखना पडे तो क्या हो ? मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि किसान लोग इस बात की कसम खा लेंगे कि वे कभी एक भी तस्वीर न देखेंगे, न कभी संगीत सुनेंगे और न कविता या उपन्यास ही पढ़ेंगे। और यह कसम खानी पडेगी इसलिए कि इन व्यर्थ के निरुपयोगी जीवों का पेट भरने के लिए उन्हें विवश न होना पड़े।

किन्तु कला-प्रेमी लोग सर्व-साधारण की सेवा क्यो न करें ? प्रत्येक घर में पवित्र मूर्तियाँ और तस्वीरें होती ही हैं, किसान और किसानों की स्त्रियाँ गाती हैं, बहुतों के पास बाजे भी होते हैं और प्राय: सभी कथा-कहानियाँ और गीत जानते हैं, और कुछ लोग लिख-पढ़ भी सकते हैं।

किन्तु न जाने कैसे कला-सेवी और साधारण जनता एक दूसरे से इतनी दूर जा पड़े कि अब आपस में इन दोनों के मिलने की कल्पना भी कठिन है।

किसी चित्रकार से ज़रा यह कहिए तो कि तुम कला-शाला, नमूनों और वेश-भूषा के साधनों के बिना चित्र खींचो या पैसे-पैसेवाली तस्वीरें बनाओ, तो वह फौरन आपको कहेगा कि यह तो कला की हत्या करना है। किसी संगीतज्ञ से यह कहिए कि हारमोनियम बजाकर गाँव की स्त्रियों को गीत गाना सिखाओ, किसी कवि से यह कहिए कि इस तरह के काव्य, उपन्यास और व्यंग लिखना छोड़कर लोक-गीत बनाओ और ऐसी कहानियाँ लिखो, जो बिना पढ़े-लिखे लोगों की समझ में आ सकें तो फौरन ही वे कहेंगे कि आप पागल होगये हैं।

किन्तु क्या यह पागल होने से भी बदतर नहीं है कि जिन लोगों ने यह वचन देकर अपने को श्रम-बन्धन से मुक्त कर लिया था कि जो उन्हें रोटी और कपड़ा दे रहे हैं उनके लिए वे आध्यात्मिक भोजन तैयार करेंगे, वे आज जीवन की सामग्री प्राप्त करके अपनी प्रतिज्ञा को एकदम ही भुला बैठे ? यहाँ तक कि आज वे यह समझ भी नहीं सकते कि अपने अन्नदाताओं और पोषकों के लायक आध्यात्मिक भोजन क्या है और वह किस प्रकार तैयार किया जा सकता है। और इस वादा-ख़िलाफ़ी को वे अपने लिए गौरव का कारण समझते हैं। बलिहारी है।

वे कहते हैं कि सभी कहीं ऐसा होता है। यदि ऐसा है तो यह अन्यायपूर्ण और अनुचित है और उस समय तक रहेगा कि जबतक चतुर लोग श्रम-विभाग के बहाने लोगों को आध्यात्मिक भोजन देने का झूठा वायदा करके केवल उनकी मेहनत पर अपने जीवन को बितायेंगे।

विज्ञान और कला के द्वारा लोगों की सच्ची सेवा तभी हो सकेगी कि जब विज्ञान और कला के प्रेमी गाँव में जाकर गाँव के लोगों ही की तरह उनके बीच में रहकर अपनी सेवायें बिना किसी प्रकार के मुआवज़े की इच्छा से खुशी-खुशी लोगों को अर्पित करेंगे और उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति भी बिलकुल उनकी मर्ज़ी पर छोड़ देंगे।

: ३५ :

'किन्तु विज्ञान और कला ! तुम विज्ञान और कला की अवहेलना करते हो। किन्तु इन्हीं से तो मनुष्य जीवित है।' मैं सदा यह बात सुनता हूँ। यही कहकर लोग मेरी बातों की उपेक्षा कर देते हैं।

'वह तो विज्ञान और कला की अवहेलना करता है, वह मनुष्यों को फिर वहशी बनाना चाहता है, तब फिर क्यों हम उसकी बात सुनें या उस से बहस करें?'

किन्तु यह अन्याय है मैं विज्ञान और कला की अवहेलना नहीं करता मैं तो सच्चे विज्ञान और सच्ची कला की ख़ातिर ही यह सब-कुछ लिखता और कहता हूँ। विज्ञान को मैं मनुष्य की बुद्धियुक्त शुद्ध प्रवृत्ति मानता हूँ और उसे मूर्तरूप देनेवाली कला है। इसके नाम पर ही मैं आजकल के नामधारी विज्ञान और कला की आलोचना करता हूँ, ताकि मनुष्य उस जङ्गली अवस्था को न पहुँच जायँ कि जिधर वे आजकल झूठी शिक्षा के कारण बड़ी तेज़ी से दौड़ रहे हैं।

यदि थोड़े ही लोगों को भोजन बनाने का अधिकार दिया जाय, और अन्य सब लोगों को बिलकुल मना कर दिया जाय, या इस क़ाबिल भी न रहने दिया जाय कि वे भोजन बना सकें, तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि भोजन की उत्कृष्टता में ख़राबी हो जायगी। यदि रूस के किसानों को भोजन बनाने का ठेका दे दिया जाय तो सिवा काली रोटी, क्वास, आलू और प्याज के जो इन्हें प्रिय तथा अनुकूल है और कोई चीज़ न

बनायी जायगी। यही अवस्था मनुष्य की उन ऊँची प्रवृत्तियों की होगी, जिन्हें हम विज्ञान और कला कहते हैं— यदि उनका ठेका किसी एक जाति-विशेष को दे दिया जाय। विज्ञान और कला कुछ ख़ास लोगों के हाथ में चली गयी, जिन्होंने उसे अपना बपौती पेशा बना डाला है और कला व विज्ञान का अर्थ ही बिलकुल बदल डाला है।

मनुष्य का जबसे संसार में आविर्भाव हुआ है तबसे विज्ञान अपने साफ और व्यापक अर्थ में सदा ही उसके पास रहा है। उसके बिना तो जीवन की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती और उसपर आक्रमण करने या उसकी रक्षा करने की ज़रूरत नहीं है। इस ज्ञान का क्षेत्र इतना व्यापक है, कि खान में से लोहे की प्राप्ति से लेकर तारों की गति-सम्बन्धी ज्ञान तक नाना प्रकार की सैकड़ों-हजारों बातों का इसमें समावेश हो जाता है। यदि मनुष्य के पास इस बात का निर्णय करनेवाली कोई कसौटी न हुई कि कौन-सा ज्ञान अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है और कौन-सा कम, तो ज्ञान की इस भूल-भुलैया में मनुष्य के खो जाने की पूरी सम्भावना है।

इसलिए मनुष्य की बड़ी-से-बड़ी बुद्धिमानी इसमें है कि वह एक ऐसी मार्ग-दर्शक कुंजी खोज निकाले, जिससे मानव-ज्ञान की ठीक-ठीक आयोजना की जा सके और यह मालूम होता रहे कि कौन-सी बात मनुष्य के लिए अधिक उपयोगी है और कौन-सी कम, मनुष्य का यही ज्ञान, जो शेष सब प्रकार के ज्ञानों को संचालित करता है, विज्ञान के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा विज्ञान जबसे मनुष्य ने जंगली अवस्था के बाहर पैर रक्खा है तबसे बराबर मनुष्य के साथ रहा है। जबसे मनुष्य अस्तित्व में आया है तबसे प्रत्येक जाति के अन्दर ऐसे उपदेशक पैदा होते रहे हैं, जो उस विज्ञान को बतलाते रहे हैं जो यह बतलाता है कि मनुष्य के लिए क्या जानना सबसे अधिक ज़रूरी है। इस विज्ञान का सदा यह उद्देश्य रहा है कि वह यह पता लगाये कि मानव-समाज का वास्तविक कल्याण किस बात में है? इस विज्ञान के द्वारा यह मालूम होता रहा है कि दूसरे विज्ञानों और कला

का कितना महत्त्व है ? मनुष्यों के कल्याण पर विचार करनेवाले विज्ञान लोगों की दृष्टि में ऊँचे और पवित्र माने जाते है। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा, सुक़रात, ईसा और मुहम्मद का ज्ञान इसी श्रेणी का था।

मनुष्य का उद्देश्य क्या है और उसका कल्याण किस बात मे है ? इस ज्ञान के बिना अन्य समस्त विद्यायें और कलायें केवल निरर्थक हानि-कारी मनोरंजन-मात्र रह जाती हैं, जैसा कि सचमुच आज हम लोगों में हो रहा है। अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक ऐसा कोई भी समय न था, जब मानव-उद्देश्य और कल्याण से सम्बन्धित ज्ञान न रहा हो। यह ठीक है कि सरसरी तौर पर देखने से मालूम होता है कि मानव-कल्याण सम्बन्धी ज्ञान बौद्धों, ब्राह्मणों, यहूदियों, ईसाइयों तथा 'कन्फ्यू-शियस' और 'लोअत्से' के अनुयायियों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु मनुष्य यदि ज़रा ग़ौर से देखे तो उसे पता चल जायगा कि मुख्य-मुख्य बातों के विषय में सबसे एकता है। लोग मकान बनाते हैं। एक गृह-शिल्पी एक नक़शा तैयार करता है, दूसरा गृह-शिल्पी दूसरा। नक़शे एक दूसरे से कुछ भिन्न हैं, किन्तु वैसे हैं दोनों ठीक, और हरएक आदमी जानता है कि यदि उनमें से किसी के भी अनुसार काम किया जायगा तो मकान तैयार हो जायगा। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा और ईसा ऐसे ही गृह-शिल्पी हैं। किन्तु आज बिलकुल अचानक यह परिवर्तन देखने में आ रहा है कि आज के लोग घोषणा कर रहे हैं कि वह ज्ञान, जो समस्त मानव-ज्ञान का पथ-प्रदर्शक था, दुनिया की उन्नति में बाधक हो रहा है।

लोग प्रत्येक ज्ञान को, मनुष्य के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले अत्यन्त आवश्यक ज्ञान को अस्वीकार करते हैं और ज्ञान के इस अस्वी-कार को ही लोग विज्ञान कहते हैं। मनुष्य के प्रारम्भ से लेकर अबतक प्रतिभाशाली लोग सदा पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की प्रेरणा से न केवल अपना लेकिन मनुष्य-समाज के उद्देश्य और कल्याण के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सोचा-विचारा है। उन्होंने सोचा

है कि मुझे पैदा करनेवाली शक्ति, मुझसे और प्रत्येक मनुष्य से क्या चाहती है ? और अपनी बुद्धि व अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुसार और पूर्ववर्ती लोग जो-कुछ कह गये हैं उसको ध्यान में रखकर इन महान् उपदेशकों ने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं; जो बिलकुल सरल, स्पष्ट और सबकी समझ मे आने लायक़ हैं और जिनपर सदा अमल किया जा सकता है।

किन्तु अचानक ही एक नया वर्ग पैदा हो जाता है और कहता है कि यह सब वाहियात खुराफ़ात है, उसे छोडो, यह तो माने हुए सिद्धान्तों से निष्कर्ष निकालने की पद्धति है। आन्तरिक अनुभवों से जिस बात का ज्ञान होता है और सृष्टि के आरम्भ से अबतक के महान् पुरुषो ने जो कुछ इस विषय में किया है, वह सब व्यर्थ और निकम्मा है।

इस नवीन मत के अनुसार यह कहा जाता है—'तुम एक जीवसृष्टि के परमाणु हो। परमाणु की हैसियत से तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह निर्णय करने के लिए तुम्हें बाहरी दुनिया का निरीक्षण करना चाहिए।'

सच्चा वैज्ञानिक ढंग यह है—यदि तुम जानना चाहते हो कि तुम्हारा व्यक्तिगत कर्तव्य क्या है, तुम्हारा और समस्त संसार का कल्याण किसमें है, तो सबसे पहले तो तुम्हे यह करना चाहिए कि तुम अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की आवाज़ को सुनना और उसपर ध्यान देना छोड दो, मानव-समाज के महान् उपदेशकों ने अपनी अन्तरात्मा और बुद्धि के सम्बन्ध मे जो-कुछ लिखा है, उसपर विश्वास करना छोड दो, इन बातों को तुम बिलकुल वाहियात समझो और आरम्भ से शुरू करो।

और शुरू से प्रारम्भ करने के लिए तुम्हें एक खुर्दबीन के द्वारा छोटे-छोटे कीडो के अणुओं की हरकतों को देखना चाहिए, या इससे भी सरल बात यह है कि निर्भ्रान्त होने का सार्टीफिकेट जिन लोगों के पास है, वे जो-कुछ भी इन बातों के विषय में कहे, उन्हें ठीक मानलो। और इन कीड़ों के अणुओं की हरकतों को देखकर, या दूसरो ने इस विषय में जो-कुछ लिखा है उसे पढ़कर, तुम्हें अपनी मानवी भावनाओं

और कल्पनाओं की उनमें स्थापना करके यह मालूम करना चाहिए कि उनकी क्या इच्छायें हैं, क्या भावनायें है, उनके विचार कैसे हैं, उनकी कल्पनायें और आदतें क्या हैं, और इन निरीक्षणों से (जिनके प्रत्येक शब्द में विचार या भाषा की कोई न कोई ग़लती रहती है) दृष्टान्त के अनुसार तुम्हें यह परिणाम निकालना चाहिए कि तुम्हारा और तुम्हारे जैसे अन्य परमाणुओं का कर्तव्य क्या है ?

तुम्हें अपने को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि तुम न केवल कीडों का दृश्य अध्ययन करो, बल्कि न दिखायी देने वाले अणुओं का भी अध्ययन करो और एक जीव-सृष्टि में से दूसरी जीव-सृष्टि के रूपान्तर का अध्ययन करो, जिसे न तो तुमने और न किसी दूसरे ने पहले कभी देखा और न कभी देख सकोगे।

कला के सम्बन्ध में भी यही बात है। जहाँ कहीं सच्चा विज्ञान रहा है, वह कला के द्वारा प्रदर्शित हुआ है। मनुष्य का जबसे प्रारम्भ हुआ है, तब से सच्ची कला का इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं रहा कि वह उस ज्ञान को प्रदर्शित करे, उसे पूरा करे, जो मानव-जीवन के उद्देश्य और कल्याण से सम्बन्ध रखता है और ऐसी कला की मनुष्यों ने हमेशा क़द्र की है। प्रारम्भ से लेकर आजतक कला ने सदा ही जीवन-सम्बन्धी उपदेशों का प्रचार करने अर्थात् धर्म की बातों ही को फैलाने ही का काम किया है और इसी तरह की कला को लोगों ने पसन्द किया है।

मानव-जीवन के उद्देश्य और उसके कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाली विद्या के स्थान पर जबसे सारी दुनिया की बातों को मालूम करने की लालसा ने विज्ञान का नाम धारण कर क़ब्ज़ा जमाया है तभी से कला के सच्चे स्वरूप का लोप हो गया, जो मनुष्य-जीवन का आवश्यक अंग था। जबतक चर्च मनुष्य के भावी कल्याण का उपदेश देता रहा और कला धर्म की सेवा करती रही, तबतक वह सच्ची कला रही; किन्तु जब से कला ने धर्म का साथ छोड़ा और विज्ञान की सेविका बनी, तथा विज्ञान को जैसा अच्छा लगे वैसा करना शुरू किया, तबसे कला अपना अर्थ

खो बैठी। अब तो वह एक बाज़ारू चीज़ रह गयी है, जिसका काम लोगों को खुश करने के साधन जुटाना है।

भूतकाल की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो देखते है कि हज़ारों वर्षों में जाकर और लाखो-अरबों मनुष्यों में से कन्फ्यूशियस, बुद्ध, सुक़रात, सुलेमान और ईसा जैसे थोड़े व्यक्ति पैदा हुए हैं। सच्चे कला और विज्ञान-प्रेमी दुनिय में बहुत-कम पैदा होते हैं, हालाँकि उनका जन्म किसी जाति विशेष में नहीं वरन् समस्त मानव-समाज में हुआ करता है; और मनुष्य जो इन लोगों का इतना सम्मान करते आये हैं, यह भी विना कारण नहीं है। किन्तु आज कहा जाता है कि कला और विज्ञान के इन प्राचीन और महान् प्रतिनिधियों की अब हमें ज़रूरत नही है। आज तो श्रम-विभाग की कृपा से एक साल के भीतर हम इतनी अधिक संख्या मे कला-प्रेमी और वैज्ञानिक पैदा कर लेंगे कि जितने सृष्टि के आदि से लेकर अबतक दुनिया में पैदा नहीं हुए। आजकल तो विद्वानों और कला-प्रेमियो का मानों कारख़ाना खुला हुआ है, जहाँ उन्नत साधनो द्वारा मनुष्य के लिए जितना आध्यात्मिक भोजन चाहिए उतना सारा-का-सारा तैयार कर लिया जाता है।

वे कहते हैं कि विद्यायें भी हमने अनेकों खोज निकाली है। बस किसी ग्रीक शब्द के पीछे 'जीजो' और जोड़ दो और विषय को कुछ थोडे से 'पैरों' मे विभक्त करके लिख दो कि विज्ञान तैयार हो गया। इस प्रकार हमने इतनी विद्यायें बना डाली हैं कि एक आदमी उन सब को सीख नहीं सकता। यही नहीं, उन सबके नाम तक याद करना उसके लिए बहुत कठिन है—इन नामों को ही यदि लिखा जाय तो उनसे एक कोष बन जाय। अभी आये दिन नयी विद्यायें बनती ही रहती हैं।

हम लोग किसी ऐसी चीज़ के पीछे पडे हुए हैं, जिसे हम विज्ञान और कला कहते हैं; किन्तु हम जो-कुछ कर रहे हैं, उसकी न तो लोगों को ज़रूरत है और न वे उसे समझ ही सकते हैं। इसलिए हमें अपनी कृतियों को कला और विज्ञान के नाम से पुकारने का कोई हक़ नही है।

: ३६ :

किन्तु मुझसे कहा जाता है—तुम तो कला और विज्ञान की एक और ही संकुचित-सी व्याख्या करते हो, जो विज्ञान को स्वीकृत नहीं हो सकती। किन्तु तुम्हारी इस व्याख्या के अनुसार भी यह उसके अन्तर्गत है और तुम्हारे इतना कहने-सुनने के बावजूद गैलिलियो, ब्रूनो, होमर, माइकेल, एन्जिलो, बीथोवन, वाग्नेर और अन्य इससे छोटी श्रेणी के विद्वानों और कला-कोविदों की कृतियाँ तो मौजूद है ही। इन लोगों ने अपना समस्त जीवन कला और विज्ञान की सेवा में अर्पित कर दिया।

प्रायः यह बात इसलिए कही जाती है कि पुराने विद्वानों की सेवा को आजकल के लोगों की प्रवृत्ति के साथ सम्बन्धित किया जा सके—हालाँकि वैसे इन पुराने विद्वानों को सच्चा वैज्ञानिक और कलाविज्ञ नहीं मानते हैं। और यह बात कहते समय ऐसा मालूम होता है कि वे उस श्रम-विभाग को भुलाने की कोशिश करते हैं कि जिसके कारण विज्ञान और कला को आजकल एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

पहली बात तो यह है कि प्राचीन और अर्वाचीन वैज्ञानिकों तथा कलाविज्ञों में एकात्म्य स्थापित करना सम्भव नहीं, क्योंकि इन दोनों में वैसा ही अन्तर है, जैसा कि प्राथमिक क्रिश्चियनों के पवित्र जीवन में और पोप लोगों के जीवन में असामञ्जस्य रहा है। गैलिलियो, शेक्सपियर और बीथोवन जैसे लोगों की प्रवृत्ति में, और टिन्डल, ह्यूगो और वाग्नेर

जैसे लोगों की प्रवृत्ति में कोई समानता नहीं है। जिस प्रकार प्रारम्भ काल के क्रिश्चियन पादरियों ने पोप लोगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध मानने से इन्कार कर दिया था वैसे ही प्राचीन वैज्ञानिक आधुनिक कला के वैज्ञानिकों से सम्बन्ध रखने से इन्कार कर देते।

दूसरे विज्ञान और कला जो अपनी महत्ता का बखान करते हैं उससे ही उनके कामों को जाँचने के लिए एक कसौटी बन जाती है, जिससे हम आसानी से मालूम कर सकते हैं कि वे अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं या नहीं। इसलिए हम यों ही बिना किसी प्रमाण के ही नहीं बल्कि उनकी ही बतायी हुई कसौटी पर कसकर यह कहते हैं कि वह वृत्ति जो अपने को विज्ञान और कला के नाम से पुकारती है वास्तव में इस नाम से पुकारी जाने की अधिकारिणी है कि नहीं ?

पुराने ज़माने में मिश्र और यूनान देश के पुरोहित कुछ रहस्यभरी बातें किया करते थे, जो उनके सिवा और किसी को नहीं मालूम होती थी, और कहते थे कि इन रहस्यमयी क्रियायों में कला और विज्ञान सम्मिलित हैं। वे यह भी कहते थे कि यह लोगों के बडे लाभ की चीज़ है। मगर उनके ऐसा कहने से हम उस विज्ञान की वास्तविकता का निर्णय नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे खुद ही उसे अप्राकृतिक और दैवी विभूति बताते थे। किन्तु अब तो विज्ञान की एक स्पष्ट कसौटी बन गयी है, जिसमें दैवी अप्राकृतिक तत्व के लिए कोई स्थान ही नही है। विज्ञान और कला यह कहते हैं कि मनुष्य-समाज अथवा समस्त मानव-मण्डल के कल्याण के लिए मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति का संचालन-भार उन्होंने अपने ऊपर लिया है। अतएव यह निश्चित हो जाता है कि उसी प्रवृत्ति को विज्ञान और कला कह सकते हैं कि जिसका उद्देश्य मानव-समाज का कल्याण करना हो। इसलिए ये समस्त विद्वान महानुभाव जो राजकीय दण्ड-विधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान नियम बनाते हैं, जो नयी बन्दूकों, तोपों तथा दूसरे शस्त्रों का आविष्कार करते हैं, या जो उन्मादक नाटक, उपन्यास तथा कवितायें लिखते हैं, अपने को भले ही किसी नाम

से पुकारें, किन्तु हम तो इन सब बातों को विज्ञान या कला की कृतियाँ नहीं कह सकते, क्योंकि इन बातों का लक्ष्य मानव-समाज का कल्याण नहीं है उलटे ये चीज़ें मनुष्यों को हानि पहुँचाती है और प्रायः इसी काम में लायी जाती हैं।

इसी प्रकार वे लोग जो सारे जीवन भर सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र द्वारा दिखायी देनेवाले जन्तुओं का तथा दूरदर्शक यन्त्रों द्वारा तारों की रचना आदि का अध्ययन करते हैं, और जो विद्वान अध्यवसायपूर्वक प्राचीन पदार्थों की शोध करके ऐतिहासिक उपन्यासों, चित्रों, गीतों तथा काव्यों की रचना करते हैं, वे अपने को कुछ भी नाम क्यों न दे और कितने ही उत्साही क्यों न हों, अपनी ही की हुई विज्ञान की व्याख्या के अनुसार विज्ञान या कला के सेवो नहीं कहला सकते। क्योंकि एक तो उनकी प्रवृत्ति, जो यह कहती है कि विज्ञान विज्ञान के लिए और कला कला के लिए है, मनुष्य के कल्याण को लक्ष्य में नहीं रखती है और दूसरे हम इन प्रवृत्तियों द्वारा समाज अथवा समस्त मानव-मण्डल का कोई कल्याण होते हुए नहीं देखते।

उनकी प्रवृत्तियों से कभी-कभी कोई बात किन्हीं के लिए उपयोगी या रुचिकर निकल आती है तो इसीसे हम उनको विज्ञान या कला का सेवक नहीं कह सकते, क्योंकि खुद उनकी व्याख्या के अनुसार उपयोगिता के लिए तो विज्ञान या कला में स्थान है ही नहीं। विज्ञान और कला की जो वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है वह तो ठीक है; किन्तु दुर्भाग्यवश आधुनिक विज्ञान और कला की प्रवृत्ति उनके अन्दर नहीं आती। कुछ लोग तो हानिकारक चीज़ें बनाते हैं, कुछ उपयोगिताहीन और कुछ केवल अमीरों के मनोविनोद की वस्तुएँ निर्माण करते हैं। ये सभी लोग बहुत भले आदमी हो सकते हैं, किन्तु वे उस काम को पूरा नहीं करते, जिसका उन्होंने अपनी बनायी हुई व्याख्या के अनुसार जिम्मा तो ले रखा है। अतएव विज्ञान और कला के सेवक कहलाने का बस उतना ही अधिकार है, जितना कि अपना कर्त्तव्य पालन न करने-

वाले आधुनिक पुरोहितों को ईश्वरीय ज्ञान का अवतार और सत्य का प्रचारक कहलाना हो सकता है।

आधुनिक विज्ञान और कला के लेखकों ने अपना कर्तव्य पूरा क्यों नहीं किया और आगे क्यों नहीं कर सकते, यह समझना मुश्किल नहीं है। पूरा न करने का कारण यह है कि उन्होंने कर्तव्य को हक बना लिया है। वैज्ञानिक और कला-मय कृतियाँ सफल तभी होती हैं, जब वे अपने अधिकारों को भूलकर केवल अपने कर्तव्यों को याद रखती हैं। मानव-समाज इस प्रवृत्ति की इतनी कद्र इसलिए करता है कि उसमें स्वार्थत्याग की भावना रहती है।

यदि वास्तव में मनुष्य मानसिक श्रम के द्वारा सेवा करने का निश्चय करे, तो उसे इस सेवा के करने में दुःख उठाना ही पड़ेगा; क्योंकि केवल दुःखों की अनुभूति के द्वारा ही आत्मिक फल मिलता है। आत्मत्याग और कष्ट तो तो कलाविज्ञ तथा विचारक के भाग्य में बदे हैं, क्योंकि मनुष्य-मात्र का कल्याण करना उनका ध्येय है।

एक विचार और कला-प्रिय मनुष्य ऊँचे और सुरक्षित स्थान पर जाकर नहीं बैठता, जैसा कि हम लोग प्रायः समझ बैठते हैं, वह तो लोगों के साथ रहकर उनके दुःखों में शरीक होता है, ताकि वह उन्हें शान्ति दे सके या कल्याण का मार्ग बता सके। उसके कष्ट का एक कारण यह भी है कि वह हमेशा चिन्तातुर और उद्विग्न रहता है। वह सोचता है, अबतक तो उसे वह मार्ग खोज निकालना चाहिए था, जिससे यह दुःखी प्राणी दुःख से बचकर सुख-शांति प्राप्त कर सकें। कल तक वह जीवित भी रहेगा या नहीं ? इस प्रकार की सात्विक चिन्ता विचारक को सदा लगी रहती है।

वह आदमी जो किसी बड़े कालेज या ऐसे विश्वविद्यालय में पढ़कर निकलता है, जहाँ विद्वानों और कलाकारों को बनाया जाता है (हालाँकि वस्तुतः वहाँ कला और विज्ञान की हत्या करनेवाले ही पैदा किये जाते हैं) और जिसको डिप्लोमा के साथ ही कोई पदवी और अच्छा वेतन

मिलता है, वह कभी विचारक या कलाकार नहीं बन सकता। सच्चा विचारक या कला-प्रेमी जान-बूझकर विचारक बनने नहीं जाता। उस का वश चले तो वह किसी से कुछ न कहे-सुने, किन्तु अपनी आन्तरिक प्रेरणा और मनुष्य के दुःखों के कारण बाधित होकर वह अपना कर्तव्य करता है।

विचारक और कला-प्रेमी मोटा-ताज़ा और मदमस्त तो कभी हो ही नहीं सकता। उसका एक निश्चित गुण तो स्वार्थ-त्याग की भावना है, जो मनुष्य की अपनी आन्तरिक शक्ति को मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए लगा देने के लिए प्रेरित करती है और इसीमें मर-खप जाने के लिए उसे तैयार कर देती हैं। संसार के कीड़ों की गणना करना, सूर्य के धब्बों को देखना, उपन्यास और गीत लिखना आदि काम तो बिना आन्तरिक वेदना के भी हो सकते हैं, किन्तु मनुष्य का कल्याण किसमें है, यह बात बिना स्वार्थ-त्याग के नहीं बतायी जा सकती। मनुष्य का कल्याण तो स्वार्थ-त्याग और दूसरों की सेवा करने में ही है।

चर्च की पवित्रता उस समय तक बनी रही, जबतक उसके आचार्यों ने धैर्यपूर्वक दुःखों को सहन किया, किन्तु ज्योंही वे खाने-पीने और मज़े उड़ाने के फेर में पड़े, त्योंही उनकी शक्ति का खात्मा हो गया। लोग कहते हैं कि, 'पहले धर्माचार्य लोग सोने के होते थे और उनके कमण्डल लकडी के, किन्तु अब कमण्डल सोने के होते हैं और धर्माचार्य लकडी के।' ईसामसीह ने सूली पर जान दी, यह निरर्थक बात न थी। इसमें एक तथ्य है। आत्म-त्याग और कष्ट-सहन की शक्ति संसार की समस्त चीजों पर विजय प्राप्त करती है।

आजकल के वैज्ञानिकों और कलाकारों को तो किसी बात की कमी नहीं है, फिर भी हरएक आदमी यही सोचता है कि इनके लिए और क्या-क्या सुविधायें दी जा सकती हैं—अर्थात् उनके लिए मनुष्यों की सेवा कर सकना एक दम ही असंभव बनाने की अनजान में कोशिश की जाती है। सच्चे विज्ञान और सच्ची कला के दो निश्चित लक्षण होते हैं—एक तो आन्तरिक और वह यह कि विज्ञान या कला का सेवक अपना काम

स्वार्थ से नहीं प्रत्युत् आत्म-त्याग के भाव से करता है। दूसरा लक्षण वाह्य होता है और वह यह कि जिनके फ़ायदे के लिए वह काम कर रहा है, उसकी बनाई हुई चीज़ें उन्हें उपयोगी मालूम पड़ती हैं।

मनुष्य जिसे अपना कर्तव्य और कल्याण मानता है, उसकी शिक्षा देना विज्ञान का काम होगा और उस शिक्षा को मूर्त्तरूप देना है कला के हाथ में। सोलन और कन्फ्यूशियस, मूसा और ईसा के उपदेश ही सच्चे विज्ञान हैं, और एथेन्स के बने हुए सुन्दर मन्दिर, दाऊद के कीर्तन और मन्दिरों की पूजा कला की बातें। किन्तु पदार्थों का चौथा परिमाण (Fourth dimension of the matter) मालूम करना, या जिन तत्वों से पदार्थ बने हैं उनका कोष्ठक बनाना तथा इस प्रकार की बातें न कभी विज्ञान समझी गयीं हैं, और न आगे कभी समझी जा सकेंगी।

हमारे ज़माने में सच्चे विज्ञान की जगह तो धर्म-रूढ़ियों और क़ायदे क़ानूनों ने लेली है और कला का स्थान चर्च और दरबारी शिष्टाचार ने छीन लिया है, हालाँकि इनमें न तो कोई विश्वास रखता है और न इनपर कोई गम्भीरता-पूर्वक विचार करता है। हम आज जिसे विज्ञान और कला कहते हैं, वे तो वास्तव में कुछ आलसी दिमाग़ों और निकम्मी भावनाओं की उपज है, जिनका उद्देश्य केवल यह कि दूसरों के दिमाग़ों और भावों पर भी वैसा ही असर डाला जाय। साधारण लोगों के लिए वे बिल्कुल अर्थहीन और निकम्मी चीजें हैं, क्योंकि वे उनके कल्याण को लक्ष्य में रखकर नहीं बनायी गयी हैं।

पूर्वकाल का जहाँतक हमें इतिहास मिलता है वहाँतक तो ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रत्येक युग में कुछ ऐसे झूठे सिद्धान्तों का दौरदौरा रहा है, जो अपने को विज्ञान जैसे महान् नाम से पुकारते थे किन्तु जिन्होंने जीवन के वास्तविक अर्थ को कभी प्रकट तो किया नहीं उल्टे उसे लोगों की नज़रों से छिपाया है। आज भी हमारी यही हालत है। हम जो खुश हो रहे हैं, इसका कारण यही है कि हम अपनी बुराइयों को आज नहीं देख सकते या देखना ही नहीं चाहते।

समय आ गया है कि हम होश में आयें और ज़रा अपनी ओर देखें। सच पूछो तो हम लोग उन्हीं धर्मान्ध अधिकारियों की भाँति हैं, जो मूसा की गद्दी पर बैठे हैं और स्वर्ग की कुंजी अपने हाथ में रखते हुए भी न तो स्वयं स्वर्ग में प्रवेश करते हैं, न दूसरों को प्रवेश करने देते हैं। आज हम, लोग जो विज्ञान और कला के पण्डे और पुरोहित बने बैठे हैं, वास्तव में सबसे बड़े धोखेबाज़ है और हमें अपने इस प्रतिष्ठित पद पर बैठने का उससे भी काम अधिकार है, जितना कि महा चालाक और दुराचारी पुरोहित या पोप को इससे पहले कभी था।

इस प्रतिष्ठित पद पर आरूढ़ होने का हमारे पास कोई कारण नहीं है। हमने धोखे से इस पद को हथियाया और आज धोखेबाज़ी से ही हम उसपर कब्ज़ा किये हुए हैं। पुराने ज़माने के पोप और पादरी लोग चाहे कितने ही अनाचारी और पतित क्यों न रहे हों, किन्तु फिर भी उन्हें अपने पद पर बैठने का अधिकार था, क्योंकि वे दिखावटी तौर पर ही सही, यह कहते तो थे कि वे लोगों को जीवन और मुक्ति की शिक्षा देते हैं। किन्तु हमलोग, जिन्होंने उन्हे उखाडकर फेंक दिया और दुनिया को यह दिखलाया कि वे धोखेबाज़ हैं, आज खुद भी वैसे ही बन गये हैं। हमने शिक्षक का स्थान तो ग्रहण कर लिया, किन्तु उनको जीवन और मुक्ति की शिक्षा नहीं दी, इतना ही नहीं हम तो यह भी कहते हैं कि उन्हें यह सब सीखने की कोई ज़रूरत नहीं। हम लोगों का खून चूस कर पीते हैं और अपने बच्चों को पढ़ाते हैं ग्रीक और लेटिन का व्याकरण, ताकि आगे चलकर वे भी हमारे ही जैसा निकम्मा और रक्त-शोषक जीवन विताना सीखें।

हम कहते हैं कि संसार में जाति-भेद है और हम उसे दूर करेंगे। किन्तु कुछ लोग और उनके बाल-बच्चे तो काम करें, और दूसरे लोग तथा उनके बाल-बच्चे काम करके मौज किया करें, इसका भी कभी अर्थ सोचा है?

किसी ऐसे हिन्दू को जो हमारी भाषाओं से अनभिज्ञ हो, कोई पीढ़ियों का रूसी तथा यूरोपियन जीवन दिखाओ तो वह तुरन्त ही दो विभिन्न और

स्पष्ट जातियों के अस्तित्व को देख लेगा—एक काम करनेवाले लोगों की जाति और दूसरे काम न करनेवाले लोगों की जाति अपने देश की ही तरह यहाँ भी पायगा। जैसा उसके देश में होता है वैसे ही यहाँ भी काम न करने का अधिकार एक खास संस्कार द्वारा, जिसे हम लोग विज्ञान और कला या साधारणतः शिक्षा के नाम से पुकारते हैं, प्राप्त किया जाता है।

: ३७ :

तब हमें करना क्या चाहिए ?

यह प्रश्न इस बात को तो मान ही लेता है कि हमारा जीवन ख़राब और अन्याय-पूर्ण है, पर साथ ही यह भी संकेत कर देता है कि उसमें सुधार करना असम्भव है। यह प्रश्न मैं हर जगह सुनता हूँ और इसी-लिए मैंने अपने इस ग्रन्थ का नाम भी यही रखना पसन्द किया है।

मैं अपनी व्यथा व अपनी खोज और इस प्रश्न का जो उत्तर मैंने सोचा, वह सब लिख चुका हूँ।

मैं भी अन्य मनुष्यों ही की तरह पापी मनुष्य हूँ। यदि मुझमें अपने समाज और अपनी श्रेणी के सामान्य लोगों से कोई विशेषता है तो यही कि अन्य लोगों की अपेक्षा मैंने समाज की इस कुव्यवस्था में अधिक भाग लिया है, अधिक लाभ उठाया है, और उसके लिए प्रचलित मत के लोगों ने मेरी अधिक प्रशंसा की है और इसीलिए मैं अपनेको अपने और लोगों की अपेक्षा अधिक पतित और सद्मार्ग से बहका हुआ मानता हूँ।

इसलिए मेरा ख़याल है कि उक्त प्रश्न का जो उत्तर मैंने अपने लिए खोजा है, वह उन सभी लोगों के लिए कारआमद होगा, जो ईमानदारी के साथ अपने मन से यह प्रश्न करेंगे कि मैं क्या करूँ? पहले तो मैं इस प्रश्न का उत्तर देता हूँ और वह यह कि मैं न तो दूसरों को धोखा दूँ और न अपने को, मुझे सत्य से डरना नहीं चाहिए—चाहे परिणाम कुछ भी क्यों न हो। दूसरों को धोखा देने का अर्थ हम जानते हैं; लेकिन

फिर भी हम सुबह से लेकर शाम तक धोखेबाज़ी का व्यापार करते रहते हैं—'घर नही हैं' हम जब घर पर होते है; 'बहुत खुश हुआ' जब बिलकुल ही खुशी नही है, 'माननीय जब दिल में मान का कोई भाव नही है;' मेरे पास रुपया नहीं है' जबकि हमारे पास रुपया होता है। इसी तरह के अनेकों बातें हम रोज़मर्रा के व्यवहार में करते हैं।

दूसरों को धोखा देना खासकर एक विशेष प्रकार का झूठा व्यवहार करना हम बुरा समझते हैं, किन्तु अपने को धोखा देते हुए हम नहीं डरते। पर सच तो यह है कि दूसरे के साथ बोला गया झूठ परिणाम को देखते हुए उस झूठ के मुक़ाबले में कुछ भी नही है, जिससे हम अपनी अन्तरात्मा को झुठलाते हैं. बहकाते है, और जिसके अनुसार हम अपने समस्त जीवन को ढाल रहे हैं। यदि हम 'क्या करें ?' प्रश्न का उत्तर देने के योग्य बनना चाहते हैं तो हमें इसी झूठ से, इसी आत्म-वञ्चनामय जीवन से बचना चाहिए।

सच पूछो, तो मैं इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं दे सकता, जबकि मैं जो-कुछ करता हूँ वह और मेरा सारा जीवन असत्य के आधार पर बना हुआ है। झूठ न बोलने के मानी यह हैं कि सत्य से भय न किया जाय और विवेक तथा अन्तरात्मा के जो निष्कर्ष होते हैं उन्हें अपने से छिपाने के लिए न तो मैं स्वयं बहाने बनाऊँ और न इस सम्बन्ध में दूसरों के द्वारा निकाले हुए बहानों को स्वीकार करूँ। सारी परिस्थिति प्रतिकूल हो उठे, पास-पडोस के सब लोग विरुद्ध हो जायँ, तब भी न डरूँ, विवेक और अन्तरात्मा के साथ, समस्त संसार द्वारा अपमानित होने पर भी अकेला डटा रहूँ; इस स्थिति को सोचकर विचलित न होऊँ कि जहाँ सत्य और अन्तरात्मा का अनुसरण करने से मैं पहुँचूँगा, क्योंकि वह स्थिति चाहे कितनी ही भयानक क्यों न हो, असत्य और धोखे पर बनी हुई स्थिति से तो वह किसी भी हालत में बुरी नहीं हो सकती।

हम लोग जो मानसिक श्रम करने का अधिकार प्राप्त करते हैं उनके लिए झूठ से बचने का अर्थ यह है कि वे सत्य से भयभीत न हो। हमारे

ऊपर शायद इतना अधिक ऋण है कि हम उस सबको कभी प्रदान न कर सकेंगे; किन्तु हम कितने ही ऋण-ग्रस्त क्यों न हों, हमें ऋण की सूची तो बनानी चाहिए; हम कितनी ही दूर बहककर ग़लत रास्ते पर क्यों न चले गये हों, फिर भी इस प्रकार भटकते रहने से वापस आना ही अधिक अच्छा है।

अपने साथियों के साथ झूठ बोलना भी हानिकर है। असत्य की अपेक्षा सत्य के द्वारा प्रत्येक व्यवहार ठीक तौर पर और जल्दी होता है। दूसरों के साथ झूठ बोलने से मामला और भी झमेले में पड़ जाता है और फैसला रुक जाता है; किन्तु अपने को धोखा देने से—जो असत्य है उसे सत्य मानकर आत्म-वंचना करने से—तो मनुष्य का जीवन ही एकदम नष्ट हो जाता है। यदि कोई मनुष्य ग़लत रास्ते को ठीक समझ लेता है और उस पर चलने लगता है तो वह हरएक कदम पर अपने लक्ष्य से अधिकाधिक दूर होता जाता है। एक आदमी जो बहुत देर तक ग़लत रास्ते पर चलता रहा है, खुद ही या दूसरों के बताने से यह मालूम कर सकता है कि उसका रास्ता ग़लत है; किन्तु यदि इस भय से कि अब तो वह बहुत दूर चला आया है, पीछे लौटना मुश्किल है, वह अपने मन को इस प्रकार आश्वासन देने की कोशिश करे कि सम्भव है इसी रास्ते पर चलते-चलते वह कहीं किसी तरह ठीक रास्ते पर आ लगे, तो यह निश्चित है कि उसे ठीक रास्ता कभी न मिलेगा। यदि कोई मनुष्य सत्य से डरता है और उसे देखकर भी मानने को तैयार नहीं होता बल्कि असत्य को सत्य मान लेता है, तब वह आदमी कभी न जान सकेगा कि उसे क्या करना चाहिए?

हम केवल अमीर ही नहीं बल्कि शिक्षित और अधिकारारूढ़ लोग इतने बहक गये हैं कि होश में आने के लिए या तो हमें ज़बरदस्त इच्छा-शक्ति ज़रूरत है या फिर गहरी ठोकर खाकर ही हमारी आँखें खुल सकेंगी और तभी हम उस असत्य को देख सकेंगे कि जिसपर हमने अपने जीवन की नींव डाल रक्खी है।

ग़लत रास्ते पर जाने के कारण मुझे जो दुःख उठाने पड़े उन्हींके कारण मैं अपने जीवन की असत्यता को देख सका और एक बार ग़लती मालूम हो जाने पर मैंने साहस के साथ पहले तो सिद्धान्त में और फिर क्रियात्मक रूप से विवेक और अन्तरात्मा की प्रेरणाओं का अनुसरण करना शुरू किया। मैंने इस बात का ख़याल नहीं किया कि वे मुझे कहाँ किस जगह ले जा रहे है ? मेरे इस साहस का मुझे पुरस्कार मिला।

मेरे जीवन के चारों ओर जो गडबड, जो असम्बद्धतायें, जो गुत्थियाँ और अर्थ-हीनतायें थी, वे एकदम साफ़ हो गयीं और मेरा जो जीवन पहले बडा ही विचित्र और हेय-सा मालूम देता था, बिलकुल सरल और स्वाभाविक बन गया। इस नवीन स्थिति में मेरी प्रवृत्ति भी नयी और निश्चित रूप धारण कर सकी। वह नयी प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शान्त, प्रेम-पूर्ण और प्रसन्नतापूर्ण है।

'हम क्या करें ?' प्रश्न का दूसरा उत्तर, जो पहले उत्तर के परिणाम-स्वरूप मुझे मिला, यह था कि मुझे पश्चाताप करना चाहिए अर्थात् मैंने अपने और काम के विषय में जो ऊँची धारणा बना रक्खी थी, उसे बिलकुल बदल देना चाहिए।

मैं उच्च और महान् हूँ यह धारणा कुछ इतनी गहरी मन में बैठ गयी थी कि वह मेरे स्वभाव का एक अङ्ग बन गयी थी और जबतक मैंने अपने को इस भ्रमपूर्ण धारणा से मुक्त नहीं किया, तबतक मैं उस असत्य का भयानक रूप भी ठीक तरह से न देख सका, जिसके नीचे मैं दबा हुआ था। अपनी भूल समझने से पहले मैं प्रश्न इस प्रकार किया करता था। एक ऐसे आदमी को, जिसने मेरी तरह इतनी शिक्षा प्राप्त की है और इतने गुण सञ्चित किये हैं, क्या करना चाहिए ? मैं जो लोगों से लेता रहा हूँ उसका बदला मैं इस शिक्षा और इन गुणों के द्वारा कैसे चुकाऊँ ?

यह प्रश्न ही ग़लत था, क्योंकि इसकी तह में एक झूठी भावना काम कर रही थी कि मैं अन्य लोगों की तरह साधारण आदमी नहीं, बल्कि एक ख़ास आदमी हूँ।

किन्तु प्रश्न किया इस तरह जाना चाहिए था—"मुझ जैसे आदमी को क्या करना चाहिए कि जिसने अपने जीवन का श्रेष्ठ भाग श्रम का अभ्यासी होने के बजाय अध्ययन करने में—फ्रेंच भाषा, पियानो, व्याकरण, भूगोल, क़ानून, काव्य, उपन्यास, कहानियाँ, दार्शनिक सिद्धान्त पढ़ने-पढ़ाने में और फ़ौजी क़वायद करने मे ही गँवा दिया है? मेरे जैसा आदमी, जिसने जीवन का शेष भाग सुस्ती में खोकर आत्मा को पतित बनाया है, अब क्या करें? जो हुआ, सो हुआ, अब मुझे क्या करना चाहिए, जिससे मैं उन लोगों से उऋण हो सकूँ कि जिन्होंने इतने समय तक मेरे भरण-पोषण का भार सहन किया और अब भी मेरा भरण-पोषण कर रहे हैं।"

पश्चात्ताप के पश्चात् यदि मैं प्रश्न करता कि 'मेरे जैसा पतित मनुष्य अब क्या करें?' तो इसका उत्तर सरल था। सबसे प्रथम तो मुझे ईमानदारी के साथ अपनी रोज़ी कमाने का उद्योग करना चाहिए, अर्थात् मुझे दूसरे के कन्धे पर बोझ बनना छोड़ देना चाहिए, मुझे यह उद्योग करना चाहिए कि दिल और दिमाग़ की तरह मैं अपने हाथ-पाँव से भी लोगों की सेवा करूँ; यहाँतक कि ज़रूरत पडने पर सर्वस्व भी उनकी भेंट कर देने को तैयार रहूँ।

इसलिए मैं कहता हूँ कि मेरी श्रेणी के आदमियो के लिए यह ज़रूरी है कि अपने को व दूसरों को धोखा देना छोडने के अलावा पश्चात्ताप करके अपनी शिक्षा-दीक्षा और योग्यता का अभिमान छोड दें, अपने को उन्नत बनाकर और परोपकारशील मनुष्य समझकर दूसरों को अपने गुणों का लाभ पहुँचाने की इच्छा रखने के बजाय यह मानें कि हम नितान्त पापी, पतित, और निकम्मे हैं और एक नये प्रकार के जीवन में प्रवृत्ति हों—दूसरों का उपकार करने के लिए नहीं बल्कि अभीतक हम जो लोगों को हानि पहुँचाते और उनका अपमान करते रहे उसे भविष्य में न करने के लिए।

प्रायः सरल भले युवक, जो मेरी आलोचनाओं को पसन्द करते हैं, मुझसे पूछा करते हैं कि मैं क्या करूँ? मेरे जैसे युवक को, जिसने

विश्वविद्यालय मे पढ़कर शिक्षा प्राप्त करली है दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए क्या करना चाहिए ? ये युवक प्रश्न तो करते हैं, किन्तु मन-ही-मन उन्होंने यह पहले ही से तय कर रक्खा है कि उन्होने जो शिक्षा प्राप्त की है वह बड़े काम की है और लोगों की उससे सेवा हो सकती है।

वे सच्चे जी से अपनी शिक्षा की जाँच नहीं कर पाते। यदि वे ऐसा करें तो वे अपनी शिक्षा को बुरी बताये बिना न रहे और नये सिरे से सीखना प्रारम्भ कर दें। ज़रूरत भी इस बात की है। जबतक प्रश्न ही ग़लत रूप में किया जायगा, उस समय तक उसका ठीक उत्तर दिया ही नहीं जा सकता।

हमें चाहिए कि हम पूर्ण सत्य को स्वीकार करें और पूर्ण पश्चात्ताप करें, तभी हम यह समझ सकेंगे कि मनुष्य के जीवन में अधिकार जैसी कोई चीज़ नहीं है, यहाँ तो कर्तव्य ही कर्तव्य है, और मानवी कर्तव्यों की न कोई सीमा है और न मर्यादा। मनुष्य का सबसे पहला और सन्देहरहित कर्तव्य यह है कि अपनी तथा अन्य मनुष्य की रोज़ी कमाने के लिए मेहनत करें।

मनुष्य को जब अपने इस कर्त्तव्य का भान हो जाता है तो उसे 'क्या करें ?' प्रश्न का तीसरा जवाब मिलता है।

मेरा प्रथम और असन्दिग्ध कर्त्तव्य यह है कि मैं स्वयं मेहनत करके अपने लिए तथा दूसरो की सेवा के लिए खाने, कपड़े, मकान आदि का प्रबन्ध करूँ, क्योंकि संसार के प्रारम्भ से यही मनुष्य का संदेहरहित और अनिवार्य कर्त्तव्य रहा है।

यदि मनुष्य ने इस जीवन-संघर्ष में भाग लेना शुरू कर दिया है तो वह इसीमें शरीर और मन की अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगा। अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और दूसरों की इस काम में सहायता देने से उसकी आध्यात्मिक क्षुधा की शान्ति होगी। मनुष्य के

और सब काम तभी उचित और न्यायपूर्ण माने जायँगे जब उसने अपने इस पहले कर्तव्य का पालन कर लिया हो।

मनुष्य दूसरा चाहे कोई ही काम क्यों न करे, चाहे वह शासन-विभाग में काम करे, चाहे देश की रक्षा का काम करे, चाहे उपदेशक, शिक्षक, आविष्कारक, कवि या कलाविज्ञ का काम करे, किन्तु किसी भी बुद्धिमान आदमी का सबसे पहला और ज़रूरी 'कर्त्तव्य यही है कि वह अपने तथा दूसरे लोगों की जीवन-रक्षा के लिए प्रवृत्ति के साथ जो अन-वरत युद्ध चल रहा है, उसमें भाग ले।

यह कर्त्तव्य सदा ही सर्वश्रेष्ठ माना जायगा, क्योंकि मनुष्य के लिए जीवन ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यों को लिखाने-पढ़ाने और उनके जीवन को सुन्दर बनाने के लिए भी जीवन-रक्षा ज़रूरी है। और यदि हम जीवन-संघर्ष मे भाग न लेकर अर्थात् स्वयं श्रम न करके दूसरों की मेहनत पर जीवित रहते हैं, तो यह हिंसा है। दूसरों का नाश करके उनकी सेवा का ढोंग करना बडी मूर्खतापूर्ण तथा एकदम असम्भव बात है।

प्रकृति के साथ संघर्ष करके आजीविका का उपार्जन करना मनुष्य का अवश्यम्भावी सर्वप्रथम कर्त्तव्य है, क्योंकि यह जीवन का नियम है। यदि मनुष्य कहीं एकान्त में रहता हो और फिर वह अपने को प्रकृति के सघर्ष से मुक्त करले तो शरीर-नाश के रूप में उसे तुरन्त ही दण्ड मिलेगा।

पहले मेरी मन-स्थिति कुछ ऐसी विकृत हो गयी थी कि प्रकृति अथवा ईश्वर के बनाये हुये इस निर्विवाद और प्रथम नियम पर चलना मुझे बड़ा विचित्र-सा लग रहा था। उसे करते हुए मैं डरता और लज्जित होता था। पहलेपहल तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि इस नियम पर चलने के लिए मुझे कुछ पूर्व-प्रबन्ध कर लेना चाहिए—समान-विचार के लोगों की सभा बनायी जाये, घर के लोगों की सम्मति लेली जाय, और शहर को छोडकर गाँव में जाकर रहा जाय। मैं अपने हाथ से मेहनत करूँ, यह बात मुझे बडी अटपटी और विचित्र-सी मालूम होती थी,

आरम्भ करने में लज्जा मालूम होती और समझ में नहीं आता था कि किस तरह शुरू करूँ। किन्तु इसके लिए यह समझने भर की देर थी कि मैं जो-कुछ करने जा रहा हूँ वह कोई ऐसी नयी और अजीब बात नहीं है कि जिसे मैंने ख़ास अपने ही लिए खोजकर निकाला हो, बल्कि आज मैं जिस भ्रम में पड़ा हुआ था, उससे निकलकर फिर से स्वाभाविक स्वास्थ्यमय स्थिति की ओर जा रहा हूँ, अर्थात अपने जीवन से असत्य को दूर कर रहा हूँ। बस, जहाँ इतना समझ में आया कि फिर सब मुश्किलें दूर हो गयी।

मैंने समझा कि पहले से किसी प्रकार का कोई आयोजन करने या दूसरों से सलाह लेने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि मैं जहाँ कहीं जिस किसी भी स्थिति में रहा, मुझे ऐसे आदमी दिखायी देते थे कि जो मुझे और साथ-ही-साथ अपने को भी खिलाते-पिलाते, कपड़े पहनाते और गरमी पहुँचाते थे। और यह सब देखकर मैं इस नतीज़े पर पहुँचा कि कहीं भी किसी भी स्थिति में रहूँ, यदि मुझमें शक्ति हो और समय हो तो मैं भी उन्हींकी तरह अपने लिए तथा उनके लिए यह काम कर सकता हूँ।

मुझे जो काम विचित्र और ग़ैर-मामूली से दिखायी पड़ते थे, उनको करते हुए, मैंने देखा कि मुझे झूठी लज्जा नहीं आयी, क्योंकि इससे पहले ही मैं मन ही मन इन कामों को स्वयं न करने के कारण कई बार सच्ची लज्जा का अनुभव कर चुका था।

इस परिणाम पर पहुँचकर जो अनुभव हुए, उनको मैंने अमल में लाने का निश्चय किया। इससे मुझे पूरा लाभ हुआ। 'क्या करें ?' इस प्रश्न का बड़ा सीधा-सा जवाब मुझे मिला—पहले तो यह करो कि जो बातें तुम्हारे लिए ज़रूरी हैं उन्हे खुद करो। खुद ही अपना पानी भरो; खुद ही चूल्हा जलाओ, खाना पकाओ और खुद ही कपड़े धोओ।

'मेरे नौकरों को क्या यह आश्चर्यजनक न मालूम होगा ?' इस प्रश्न के उत्तर में मैंने देखा कि केवल एक सप्ताह तक ही यह बात लोगों को

विचित्र मालूम हुई और एक सप्ताह के बाद तो मुझे अपनी पूर्व स्थिति पर जाना ही अधिक विचित्र जान पड़ने लगा।

'शारीरिक श्रम का प्रचार करने के लिए कहीं किसी गाँव में कोई सभा स्थापित करने की ज़रूरत है कि नहीं है?' इस प्रश्न का उत्तर यह मिला कि इस बात की जरूरत नहीं है। यदि श्रम का उद्देश्य आगे चल कर आलसी रहने या दूसरों के श्रम का उपभोग करने का नहीं है—जैसा कि धन-प्राप्ति की इच्छा से श्रम करने वालेलोगों का हुआ करता है—केवल् अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही उसका लक्ष्य है, तो स्वाभावतः ही इसके द्वारा लोगों को शहर छोड़कर गाँव जाने की प्रेरणा होगी। इस प्रकार का श्रम वहीं अधिक आनन्दमय और फल-दायक होता है। सभा स्थापित करने की भी कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि इस प्रकार का श्रम करनेवाला स्वयं ही ऐसे दूसरे लोगों से मिलता-जुलता रहेगा।

मेरे मन मे यह प्रश्न उठा कि इस प्रकार सब काम हाथ से करने में मेरा सारा समय तो न चला जायगा? और इस प्रकार मैं इस मान-सिक प्रवृत्ति से वञ्चित तो न हो जाऊँगा, जो मुझे पसन्द है। इसका उत्तर जो मुझे मिला उसकी तो मैंने कभी आशा ही नहीं की थी। शारी-रिक श्रम की मात्रा के अनुसार मेरी मानसिक शक्ति बढ़ गयी। मैं जितना अधिक शारीरिक श्रम करता था, उतना ही मैं फिजूलियात के चंगुल से छुटकर मानसिक काम भी अधिक कर सकता था।

मैं आठ घण्टे शारीरिक श्रम करने लगा। इससे पहले यह समय मैं मन बहलाने में व्यतीत करता था। फिर भी मेरे पास आठ घण्टे बचते थे और उनमें भी मानसिक काम के लिए मुझे तो केवल ५ ही घण्टे चाहिए थे। हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि चालीस वर्ष तक और कोई काम न करने की हालत में भी मेरे-जैसे धनी लेखक ने कुल मिलाकर ५००० छपे हुए पृष्ठ लिखे थे। अब यदि मैंने इन चालीस वर्षों तक दूसरे मजदूरों के साथ हर रोज़ आठ घण्टे काम किया होता और सरदी की सन्ध्या और

छुट्टी के दिनों को छोडकर रोज़ ५ घण्टे पढ़ने में व्यतीत किये होते और केवल छुट्टी के दिनों में केवल चार पृष्ठ रोज़ाना के हिसाब से लिखे होते (हालाँकि मैंने तो कई बार दिन-भर में सोलह-सोलह पृष्ठ तक लिखे हैं) तब भी ५००० पृष्ठ मैं चौदह वर्ष में लिख सकता था।

मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि शारीरिक श्रम करने से मानसिक श्रम न हो सकता हो, यह बात तो ठीक नहीं है, बल्कि शारीरिक श्रम से मानसिक प्रवृत्ति को स्फूर्ति मिलती है और काम भी अच्छा और अधिक होता है।

मुझे शक था कि शारीरिक श्रम करने से मैं मनुष्य-जीवन के निर्दोष आनन्दों से वञ्चित न हो जाऊँगा ? कला का स्वारस्य, विद्याओं का अध्ययन, समाज का संसर्ग और ऐसी ही अनेक बातें जो जीवन को सुखी और सरस बनाती हैं, कहीं मुझसे दूर न हो जायँगी, किन्तु मेरी यह आशङ्का झूठी निकली। मेरा श्रम जितना ही कठिन होता गया, जितना ही मैं कृषि जैसे मुश्किल काम में प्रवृत्त होता गया उतना ही जीवन का आनन्द बढ़ता गया, लोगों से मिलने-जुलने, बातचीत करने; और ज्ञान प्राप्त करने के अवसर अधिक मिलते और मनुष्यों के साथ मेरा सम्पर्क अधिक घनिष्ट और प्रिय होगया। इससे मैं अपने जीवन मे विशेष सुख का अनुभव करने लगा।

कुछ लोग जो शारीरिक श्रम करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं होते, कहा करते थे—समुद्र में एक छोटी-सी बूँद से भला क्या होगा ? दूसरों की मज़दूरी से हम जो इतना लाभ उठाते हैं उसको देखते ही हमारी यह मेहनत तो एक बूँद के बराबर भी नहीं है, तब हमसे क्या लाभ हो सकता है ? इस प्रश्न का बड़ा ही आश्चर्यजनक उत्तर मुझे मिला।

मैंने देखा कि शारीरिक श्रम को जीवन का साधारण नियम बनाते ही आलसी दिनों की जो मेरी बहुत सी फ़िजूल और ख़र्चीली आदतें और ज़रूरतें थीं, वे एकदम कम हो गयीं। इसके लिए मुझे कोई ख़ास कोशिश नहीं करनी पडी। रात को दिन और दिन को रात बना डालने की मेरी आदत छूट गयी। बिस्तरे बहुत से और केवल दिखावे के लिए

अत्यधिक स्वच्छता का ढोंग, यह सब मेरे लिए असह्य हो उठे और श्रम करने से मेरे भोजन की मात्रा और उसके प्रकार में भी ज़बरदस्त परिवर्तन हो गया। पहले तो मैं अनेक मिठाइयाँ, तरह तरह के मसालेदार लज़ीज़ और अमीराना खाने पसन्द करता था, उनके बजाय अब मैं गोभी, शोरवा, दलिया, रोटी, चाय आदि बिल्कुल सादा खाना ज़्यादा पसन्द करने लगा।

मैं जिन मज़दूरों से मिलता था वे बहुत थोड़ी-सी चीज़ों में सन्तुष्ट रहते थे, पर धीरे-धीरे खुद मेरी भी जरूरतें परिश्रमी जीवन व्यतीत करने के कारण कम हो गयीं। ज्यों-ज्यों मैं मेहनत का आदी होता गया त्यों-त्यों मेरा शारीरिक श्रम भी बढ़ता हुआ दिखायी देने लगा, मेरी मेहनत अधिक फलदायी होती गयी, दूसरों की मेहनत की ज़रूरत भी मुझे कम मालूम पड़ने लगी और बिना किसी विशेष कष्ट के मेरा जीवन अपने आप ही इतना सादा होगया कि पहले मैं उसकी कल्पना भी नहीं कर सका था। यह स्पष्ट हो गया कि मेरी पहली अत्यन्त ख़र्चीली जरूरतें, जो केवल मनोरंजन या शान दिखाने के लिए थीं, आलसी जीवन का ही प्रत्यक्ष परिणाम थीं।

मैं मेहनत करने का अभ्यासी नहीं हूँ, इसलिए दूसरों की सेवा करने के लिए जितने श्रम की जरूरत होती है उससे मेरे स्वास्थ्य को हानि तो नहीं पहुँचेगी? यह भी एक प्रश्न था, किन्तु मैंने देखा कि मैं जितना ही अधिक श्रम करता, उतना ही अधिक स्वस्थ और प्रसन्न मैं अपनेको पाता हालाँकि बड़े-बड़े डाक्टरों ने मुझसे यह कहा था कि कठोर शारीरिक श्रम बुढ़ापे में स्वास्थ्य के लिए बहुत अधिक हानिकारक सिद्ध होगा।

मुझे तो यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट मालूम होने लगा कि मानव-समाज की सेवा के नाम पर जो अनेक नयी-नयी बातें हो रही हैं—जैसे समाचार-पत्र, मासिक-पत्रिकायें, उपन्यास, नाटक, संगीत, नाच-पार्टी और जलसे आदि—ये सब मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को स्वाभाविक स्थिति से निकालकर दूर ले जाकर उसे सजीव बनाये रखने के धूर्तता-

पूर्ण उद्योग हैं, ठीक इसी तरह स्वास्थ्य के नाम पर खान-पान, वायु और प्रकाश, गरमी, वस्त्र, दवा, मालिश, कसरत, बिजली आदि नाना-प्रकार के जो डाक्टरी प्रयोग हैं, ये सब केवल इसलिए पैदा हुए हैं कि मनुष्य ने परिश्रम करने की अपनी कुदरती आदत छोड़ दी है और अब किसी न किसी तरह अपने ज़िस्म को कायम रखने के लिए ये सब तदबीरें निकाली हैं। आज की अपनी स्थिति कुछ ऐसी है कि जैसे किसी ऐसी कोठरी में जिसमें हवा और प्रकाश बिल्कुल न जा सके, किसी पौदे को लगाकर फिर उसे सजीव बनाये रखने के लिए रासायनिक प्रयोगों द्वारा हवा और प्रकाश को पहुँचाने की कोशिश की जाये, जबकि ज़रूरत सिर्फ इस बात की है कि कमरे की खिडकियाँ खोलकर स्वाभाविक रीति से हवा और प्रकाश को अन्दर जाने दिया जाय। पौधों के लिए जो नियम उपयोगी हैं, वही मनुष्यों और पशुओं के लिए भी। वह यह कि स्वास्थ्य के लिए कृत्रिम उपायों का अवलम्बन न करके मेहनत-मज़दूरी करनी चाहिए। यही मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। आजकल हमारे समाज में आरोग्य और स्वास्थ्य के जो डाक्टरी नियम बने हैं वे ऐसे हैं, जैसे कोई इंजीनियर अधिक तपे हुए इंजिन की भाप निकलने के सब मार्गों को तो बन्द करदे और फिर उसको फटने से बचाने के लिए कोई तरकीब खोजने की कोशिश करता फिरे।

ये सब बातें जब मैं स्पष्ट रूप से समझ गया, तब मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी शंकाओं, शोधों और दीर्घकालीन आत्मनिरीक्षण के पश्चात् मैं इस असाधारण सत्य पर पहुँचता कि भगवान ने मनुष्य को जो आँखें दी हैं, वे देखने के लिए, कान सुनने के लिए, पैर चलने के लिए, हाथ काम करने के लिए और यदि मनुष्य अपनी इन इन्द्रियों का वह उपयोग न करेगा कि जिसके लिए वे बने हैं तो वह अवश्य ही नुकसान उठायेगा।

हमारी श्रेणी के लोगों की स्थिति ठीक वैसी ही हो रही है, जैसी कि मेरे एक मित्र के घोड़ों की हुई थी। उसने अपने एक आदमी को, जिसे

न तो घोड़ों से प्रेम था और न उसके विषय में कोई ज्ञान था, हुक्म दिया कि अस्तबल में जो अच्छे-अच्छे बछड़े हैं उन्हें बेचने के लिए तैयार करो। आदमी ने अस्तबल में से अच्छे-से-अच्छे बछड़ों को चुनकर उन्हे खूब खिलाना-पिलाना शुरू किया और इस चिन्ता के कारण, कि कहीं घोडों को तकलीफ न हो, उसने उनसे किसी प्रकार की कोई मेहनत न ली। न तो उसने खुद सवारी ली, किसी दूसरे के हाथो में उन्हें सौंपा, न कभी गाडी में जोतने के लिए उन्हें बाहर निकाला; परिणाम यह हुआ कि घोडे बिलकुल निकम्मे हो गये।

हमारी भी ठीक यही हालत हुई। अन्दर के केवल इतना है कि घोडों को इस विषय में धोखा देना असम्भव है। आप यदि यह चाहते हैं कि वे बाहर न निकल सकें, तो उन्हें बाँधकर रखना होगा। हम भी तरह-तरह के लालचों के वशीभूत होकर अस्वाभाविक और हानिकारक स्थिति में रहना पसन्द करते हैं और वे लालच ही हमें बाँधकर रखने के लिए जंज़ीरों का काम देते हैं।

हमने अपने जीवन को मनुष्य के नैतिक और शारीरिक स्वभाव के विरुद्ध बना रक्खा है और फिर हम अपनी बुद्धि का सारा ज़ोर लगाकर मनुष्यों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि यही जीवन सच्चा है। हम आज जिसे सभ्यता कहते हैं, वह हमें केवल धोखा देने का एक साधन है। विज्ञान और कला, जो जीवन के आनन्द में वृद्धि करने का दावा करते हैं, वास्तव में मनुष्य के नैतिक जीवन को पंगु बनाने के साधन है और आरोग्यशास्त्र तथा वैद्यक मनुष्य को स्वाभाविक शारीरिक धर्म्म से वंचित रखने के ढंग हैं—इसके सिवाय और कुछ नहीं। किन्तु इन सब प्रवंचनाओं की भी एक सीमा होती है और हम उस सीमा पर पहुँच गये हैं।

'यदि सचमुच मानव-जीवन ऐसा ही है तो इससे तो मरना ही अच्छा'—प्रतिष्ठित परिवारों में बढ़ती हुई आत्महत्यायें यह बता रही हैं। 'यदि जीवन ऐसा ही है तो आगामी पीढ़ी के हक़ में भी यही अच्छा है कि वह जन्म ही धारण न करे'—हमारा कृपालु डाक्टरी ज्ञान यह सलाह देता

है और ऐसे साधनों का आविष्कार करता है, जिनसे स्त्रियों की जनन-शक्ति मारी जाय।

बाइबिल में मनुष्यों के लिए यह उपदेश दिया गया है—'जब तेरे चेहरे पर पसीने की बूँदें झलकती हों, तब तू रोटी खा।' और कष्ट उठाकर प्रजा उत्पन्न कर।'

वाएडरफ़ नामक किसान ने एक लेख लिखकर इस महत्त्वपूर्ण वाक्य की बुद्धिमत्ता पर बहुत प्रकाश डाला था। दो रूसी विचारकों ने मुझ-पर ज़बरदस्त नैतिक प्रभाव डाला है; उनके द्वारा मेरे विचारों में विकास हुआ है और संसार के सम्बन्ध में जो मेरी कल्पना थी, उसे उज्ज्वलता प्राप्त हुई है।

ये दोनों मनुष्य न तो कवि थे, न विद्वान और न उपदेशक, ये दोनों विलक्षण पुरुष थे; दोनो किसान थे और दोनों ही अभी जीवित हैं। इनके नाम हैं सुटेफ़ और वाएडरफ़।

क्रापिवेन्स्की के ज़िले में एक फटे हाल किसान घूमता-फिरता है। लड़ाई के ज़माने मे वह रसद के दारोग़ा के साथ सामान ख़रीदने जाता था। इस अफसर के सुखमय जीवन को देखकर उसका दिमाग़ फिर गया और वह सोचने लगा कि वह भी अब एक भले आदमी की तरह बिना काम-काज किये मौज से ज़िन्दगी बसर कर सकता है। बस बादशाह को चाहिए कि उसकी आवश्यकताओं का प्रबन्ध कर दे। यह किसान अब अपना नाम 'महामान्य राजकुमार वोल्सिन' बताता है और कहता है कि वह सब सैनिक दर्जों को पार कर चुका है। युद्ध के समय जो उसने सैनिक सेवायें की थी उसके लिए बादशाह की ओर से उसे असंख्य धन, ख़िल-अत, घोड़े, गाडी, नौकर सब प्रकार के सामान आदि का प्रबन्ध किया जायगा। जब कोई पूछता है कि क्या तुम थोडा-बहुत काम करना पसन्द करोगे ? तो वह कहता है 'नहीं, कोई ज़रूरत नहीं', किसान लोग सब काम कर लेंगे। और जब हम यह कहते हैं कि किसान भी अगर काम न करना चाहें; तो वह उत्तर देता है कि 'किसानों को काम करने में अब असुविधा

नहीं होगी, क्योंकि उनके लिए मशीनें बना दी गयी हैं।' जब यह पूछते हैं कि तुम किसलिए जी रहे हो ? तो वह उत्तर देता है, 'समय बिताने के लिए।'

मैं इस आदमी को एक आइना समझता हूँ। उसमें मैं अपनी तथा अपने वर्ग की सूरतें देखता हूँ। हम लोगों के जीवन का उद्देश्य भी तो यही है कि सब दर्जों को पार करके बेहद धन जोड़ा जाय और हमारा जीवन समय बिताने में व्यतीत हो. बाकी सारा काम तो किसान लोग करते रहेंगे और मशीनों से वे अपने काम में बहुत-कुछ मदद ले सकेंगे। हमारे वर्ग के लोगों का बिलकुल यही मूर्खतापूर्ण ख़याल है।

जब हम यह कहते हैं कि ख़ासकर हम लोगों को क्या काम करना है; तो वास्तव में हम जिज्ञासु के रूप में कोई प्रश्न नहीं करते हैं बल्कि वोल्सिन की भाँति इस बात को प्रकट करते हैं कि हम कोई भी काम करना नहीं चाहते। अन्तर केवल इतना है कि हम उस महामान्य राजकुमार वोल्सिन की भाँति स्पष्ट रूप से ईमानदारी के साथ सच्ची बात कह देने का साहस नहीं करते। जिसमें ज़रा भी सोचने समझने की शक्ति है वह तो 'क्या करें' पूछेगा ही नहीं, क्योंकि वह स्वयं देखता है कि उसे जिन चीज़ों की ज़रूरत होती हैं वे सब मनुष्यों के द्वारा बनायी जाती हैं। दूसरे, एक तन्दुरुस्त आदमी जब सोकर उठता है तो उसकी स्वभावतः यह इच्छा होती है कि पैरों ही की तरह हाथ और दिमाग़ से भी काम ले। जो काम करना चाहता है उसके लिए काम की कमी नहीं है—बस; उसे अपने आपको मेहनत करने से रोकना चाहिए। एक महिला ने अपने मेहमान को बाहर जाने के लिए द्वार खोलते देखकर कहा था, 'ठहरिए मैं नौकर को बुलाती हूँ वह द्वार खोल देगा।' इसी तरह के लोग जो मेहनत या किसी प्रकार के काम को अपने हाथ से करना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं, ऐसा प्रश्न किया करते हैं कि 'मुझे क्या करना चाहिए ?'

मुश्किल काम खोजने की नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के लिए अपनी तथा दूसरों की सेवा करने का बहुतेरा काम मौजूद है। सवाल

तो यह है कि हम किस प्रकार अपनी उस जीवन-सम्बन्धी भ्रमात्मक और पापी धारणा को बदलें कि जो हमें यह सिखाती है कि केवल आनन्द और मौज के लिए ही हम खाते-पीते और सोते हैं और किस प्रकार श्रमी वर्ग का वह सरल शरीर एक मशीन के समान है। यदि हम उसे खिलायें-पिलायें पर उससे पूरा-पूरा काम न लें तो यह लज्जाजनक, कठिन और हानिकारक है, हम अपने दिल में यह बिठालें कि खाना और काम न करना यह बड़ी ही भयानक स्थिति है। आग लगाने जैसे आततायीपन के समान बुरी और भयङ्कर है।

बस, यह भावना जाग्रत करने की देरी है और फिर हम अपने सामने काम ही काम देखेंगे। यह काम होगा भी आनन्दप्रद। इससे हमारी समस्त शारीरिक तथा मानसिक वासनायें तृप्त हो जायेंगी।

मैं तो अपने मन में यह सोचता हूँ—प्रत्येक आदमी का दिन खाने के हिसाब से चार पहरों में विभक्त हो सकता है। पहला भाग नाश्ते से पूर्व, दूसरा दोपहर के भोजन तक, तीसरा तीसरे पहर के टिफ़न तक, और चौथा रात्रि के भोजन तक। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति भी चार भागों में विभक्त की जा सकती है। पहले तो शारीरिक श्रम-अर्थात् हाथ-पैर, पीठ और कंधों के द्वारा कसकर मेहनत करना, जिससे पसीना आ जाय, दूसरे अँगुलियों और कलाइयों का काम—अर्थात् कला-कौशल सम्बन्धी काम, तीसरे बुद्धि और कल्पना का काम, और चौथे अन्य लोगों से बातचीत करने का काम।

आदमी जिन चीज़ों का इस्तैमाल करता है, वे भी चार भागों में बाँटी जा सकती हैं। (१) प्रत्येक मनुष्य कठोर श्रम द्वारा उपार्जित पदार्थों का उपभोग करता है—जैसे रोटी, मकान, कुँआ, जल, आदि, (२) हुनर-उद्योग द्वारा बने हुए पदार्थ-कपड़े, बर्तन, जूते, टोपी, आदि, (३) मानसिक प्रवृत्ति की उपज—जैसे विद्या और कला, (४) मनुष्यों के संसर्ग में आना जैसे मित्रता बढ़ाना, सभा आदि में जाना आदि।

मैं सोचता हूँ कि काम को इस प्रकार बाँटना ठीक होगा, जिससे मनुष्य अपनी चारों तरह की शक्तियों को उपयोग मे ला सके और चार प्रकार की चीज़ो का व्यवहार करता है, वह भी स्वयं बनाकर बदले में दूसरों को दे सके। इस दृष्टि से समय-विभाग इस प्रकार किया जाय—पहले पहर कठोर शारीरिक श्रम; दूसरे पहर मानसिक श्रम; तीसरे पहर औद्योगिक कार्य; चौथे पहर—सन्त और सज्जन पुरुषों का समागम। अच्छा हो यदि मनुष्य इस प्रकार अपने समय को बाँट करके काम करे। किन्तु यदि यह असम्भव हो तो एक बात ज़रूरी है—मनुष्य परिश्रम के कर्तव्य को पहचाने और यह समझे कि दिन के प्रत्येक भाग का उचित उपयोग करना उसका धर्म है।

मैं सोचता हूँ ऐसा होने ही पर हमारे सामने यह जो ग़लत श्रम-विभाग फैला हुआ है, वह दूर हो सकेगा और एक उचित और न्यायपूर्ण श्रम-विभाग का प्रचार हो जायेगा। इससे मनुष्य के सुख में भी बाधा न पड़ेगी। मैंने अपना सारा जीवन मानसिक काम में गँवा दिया है। मैं सोचता था कि मेरा मुख्य काम लिखना है और बाक़ी सब ज़रूरी काम मैं दूसरों पर छोड़ देता था, या यों कहिए कि ज़बरदस्ती उनसे करवाता था। किन्तु यह प्रबन्ध जो देखने में मानसिक काम के लिए बड़ा सुविधा-जनक मालूम पड़ता था, अन्यायपूर्ण और अनुचित तो था ही; पर मानसिक कार्य के लिए भी वह बहुत ही असुविधाजनक सिद्ध हुआ। मैं जीवन-भर लिखा ही किया; मैंने अपना खाना-पीना, सोना और मनोरञ्जन आदि सब काम इसी काम की सुविधा के अनुकूल रक्खे, और इस लिखने के काम के सिवा मैंने और कुछ किया भी नहीं।

किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि एक तो मैंने अपने निरीक्षण और ज्ञान-सञ्चय का क्षेत्र बहुत संकुचित बना लिया। प्रायः ऐसा होता था कि मुझे अध्ययन के लिए कोई विषय न मिलता था और जब मुझे मनुष्य-जीवन का वर्णन करने की ज़रूरत पड़ती (और मनुष्य-जीवन का प्रश्न प्रत्येक मानसिक प्रवृत्ति के सामने आया करता है) तब मुझे

अपने अज्ञान का भान होता । मुझे दूसरे लोगों से उन चीज़ों के विषय में पूछना या सीखना पड़ता, जिन्हें खुले मैदान में मेहनत-मज़दूरी करने-वाला प्रत्येक आदमी जानता है। दूसरे जब मैं लिखने बैठता तो अक्सर लिखने की अन्दर से प्रेरणा ही न होती, मुझे कई बार तो केवल इसलिए लिखना पड़ता था कि लोग अपनी मासिक पत्रिका में मेरा नाम छाप-कर लाभ उठाना चाहते थे, उन्हें मेरे लेखो और विचारो की ज़रूरत न थी।

ऐसे समय मुझे लिखने के लिए बड़ा प्रयास करना पडता था। कभी-कभी तो मैं कुछ भी न लिख पाता था, और कभी कुछ लिखता भी तो ख़राब, जिससे मुझे सन्तोष न होता। इस तरह सप्ताह के सप्ताह गुज़र जाते; मैं खाता-पीता, सोता, गर्म कपडे पहनता, पर कुछ काम न करता और करता भी तो कुछ ऐसा काम, जिससे किसी को कोई लाभ न हो सकता था। किन्तु जबसे मैंने कठोर शारीरिक श्रम तथा औद्योगिक काम करने की आवश्यकता और महत्ता को समझा है, तब से वहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। मेरा सारा समय किसी न किसी उपयोगी काम में लगा रहता है, जिसे शिक्षा के साथ-साथ मेरी आत्मा को स्फूर्त्ति मिलती है और मेरा मन प्रसन्न होता है।

अतएव अब मैं अपने इस उपयोगी और रुचिकर श्रम के काम को अपने विशेष मानसिक काम की ख़ातिर उसी समय छोड़ता हूँ कि जब मुझे लिखने की कोई आन्तरिक प्रेरणा होती है।

पक्षी का स्वभाव इस प्रकार का है कि उसके लिए उड़ना, चलना, चुगना और विचार करना ज़रूरी है। मनुष्य के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। जब वह चलता-फिरता है; भारी चीज़ों को हिलाता-डुलाता है, उन्हें उठाता है और उठाकर ले जाता है, अपनी आँख, नाक, कान, ज़बान और दिमाग़ की शक्तियों को काम में लाता है, तभी वह स्वस्थ और सन्तुष्ट रहता है—और, वास्तव में, तभी वह अनुभव करता है कि वह सच्चा मनुष्य है।

मनुष्य को अपनी निजी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए ही इतने प्रकार की जिस्मानी मेहनत करनी पड़ती है कि श्रम करना उसके लिए भार न होकर सरल और आनन्ददायक हो जाता है। श्रम करना बुरा है, इस ग़लत ख़याल के कारण मनुष्य अपने को मेहनत-मज़दूरी के काम से मुक्त कर लेता है। अर्थात्, उन कामों को ज़बरदस्ती दूसरों से कराता है और फिर अपनी स्थिति की रक्षा के लिए अपने ऊपर ख़ास काम करने की ज़िम्मेवारी लेने का बहाना करता है और इसे श्रम-विभाग के नाम से पुकारता है।

श्रम-विभाजन की इस मिथ्या धारणा के हम इतने अभ्यासी हो गये हैं कि हम सचमुच ही यह उचित और आवश्यक समझने लगे हैं कि मोची, इञ्जीनियर, लेखक और संगीतज्ञ आदि को जीवन-सम्बन्धी आवश्यक और अनिवार्य मेहनत से छुट्टी दे दी जाय। जहाँ दूसरों के श्रम को ज़बरदस्ती छीनने का तरीक़ा न हो और जहाँ आलसी जीवन में आनन्द मानने की भयंकर भूल-भरी धारणा न हो, वहाँ कोई भी मनुष्य अपनी पसन्द के काम के ख़ातिर अपने को उस मेहनत से मुक्त करने की कभी इच्छा ही न करेगा कि जो अपनी आवश्यकताओं के लिए लाज़िमी है; क्योंकि उसके रुचिकर कार्य से उसे कोई लाभ तो होता ही नहीं, वह तो मानों अपनी रुचि और अपने भाइयों की सेवा के लिए एक प्रकार का त्याग है।

गाँव में एक आदमी अपने पड़ोसियों के लिए जूते बनाने और गाँठने का काम स्वीकार करके अपनेको उस आनन्दमयी स्फूर्ति से वञ्चित कर लेता है, जो खुली हवा में खेतों में काम करने से मनुष्य को प्राप्त होती है; किन्तु वह इसलिए करता है कि उसे जूते बनाने का शौक है और वह जानता है कि दूसरा कोई आदमी इस काम को इतनी अच्छी तरह न कर सकेगा और यदि वह काम कर देगा तो लोग उसके कृतज्ञ होंगे। किन्तु वह यह कभी न चाहेगा कि इस खास काम की वजह से वह तरह-तरह के मनोरञ्जन करनेवाले अन्य श्रमों को छोड़ दे। संगीतज्ञ, यन्त्र-शिल्पी, लेखक और विद्वान के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही होगा।

आजकल जब कोई मालिक अपने मुहर्रिर से किसान का काम करने को कहता है या राज्य अपने किसी मन्त्री को देश-निकाला दे देता है, तो लोग कहने लगते हैं कि यह बड़ा अन्याय हुआ। वास्तव में हमारी विकृति मनःस्थिति ही ऐसा कहलाती है। सच पूछो तो उन्होंने अपने भारी विशिष्ट काम को छोड़कर स्वाभाविक और रुचिकर काम करने के अवसर को प्राप्त किया है। आजकल की विकृत परिस्थिति के कारण जिसके विचार बिगड़ नहीं गये हैं, वह तो इस परिवर्तन को प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार करेगा।

जहाँ समाज अपनी प्राकृतिक अवस्था में है, वहाँ ऐसा ही होता है। मैं एक ऐसे समुदाय को जानता हूँ, जहाँ लोग स्वयं मेहनत करके अपनी रोज़ी कमाते हैं। इन लोगों में एक आदमी औरों की अपेक्षा अधिक पढ़ा-लिखा था, इसलिए उससे पढ़कर उपदेश देने का अनुरोध किया गया, जिसे उसने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। वह दिन में तैयारी करता, ताकि शाम को वह ज्ञान की बातें अपने भाइयों को बता सके और यह समझकर उसे सन्तोष होता कि इस प्रकार वह दूसरों के लिए उपयोगी सिद्ध हो रहा है। किन्तु थोड़े दिनों में इस एकान्त मानसिक श्रम से वह थक गया और उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। उस समुदाय के लोगों को उसकी यह दशा देखकर उसपर दया आयी और उन्होंने उनसे फिर खेतों में चलकर काम करने का अनुरोध किया।

जो लोग श्रम को जीवन का सार और आनन्द मानते हैं, उनके श्रम का आधार प्रकृति के साथ जो संघर्ष चलता है, वही रहेगा—केवल कृषि-श्रम में ही नहीं, बल्कि औद्योगिक, मानसिक और सामाजिक कामों में भी यही लक्ष्य उनके सामने रहेगा। इन विविध प्रकार के कामों को छोड़कर कोई मनुष्य दूसरे काम को तभी हाथ में लेगा, जब उस ख़ास काम का उसे शौक़ होगा, और वह यह समझेगा कि इस काम को दूसरे लोगों की अपेक्षा वह अधिक अच्छी तरह कर सकेगा। तभी वह अपने ज़रूरी कामों

तथा उनके द्वारा होनेवाले लाभो को छोडकर दूसरो की इच्छाओ को पूरा करने की ओर ध्यान देगा।

जब मेहनत-मज़दूरी के विषय मे ऐसा ख़याल लोगों मे फैलेगा और इसीके अनुसार श्रम-विभाग किया जायगा, तभी वे दुःख दूर होंगे, जिन्हे हमने अपनी दूषित कल्पना के कारण श्रम के साथ जोड रक्खा है। उसी समय श्रम आनन्द बन जायेगा। तब मनुष्य या तो वही काम करेगा, कि जो प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वभावतः उपयोगी, आवश्यक और मनोरंजक होते हैं, या फिर उसे इस बात का आत्म-सन्तोष होगा कि वह दूसरों की सेवा के निमित्त एक ख़ास और कठिन काम करके स्वार्थ त्याग कर रहा है।

कहा जाता है कि श्रम-विभाग बहुत लाभदायक है पर किसके लिए? क्या यह अधिक लाभदायक है कि जल्दी-से-जल्दी जितने अधिक-से-अधिक जूते और कपडे बनाये जा सकते है, वे बना डाले जायँ? किन्तु इन्हें बनायेगा कौन? कुछ लोग जन्म-भर पिन का ऊपरी भाग ही बनाया करते हैं। भला उनको इससे क्या लाभ होता है?

यदि हमारा यह उद्देश्य होता कि अधिक-से-अधिक संख्या मे जूते और कपडे तैयार किये जायँ, तब तो अवश्य ही इसे लाभदायक कहा जा सकता था; किन्तु हमारा उद्देश्य तो मनुष्यों को बनाना है। वास्तव में आनन्द तो जीवन में है, और जीवन है श्रम में!

जो काम मनुष्य के लिए अरुचिकर, अनावश्यक और त्रासदायक है वह लाभदायक कैसे सिद्ध हो सकता है? यदि सबके कल्याण का विचार छोडकर कुछ थोडे से मनुष्यों के लाभ का ध्यान हो, तब तो यह भी कह सकते हैं कि कुछ मनुष्य दूसरो को खा जायँ, यह बहुत अच्छा और लाभदायक है। जो बात मैं अपने लिए उपयोगी और लाभदायक समझता हूँ, वही और सबके लिए भी उपयोगी और लाभदायक है। शरीर और आत्मा, हृदय और और बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली जो वासनायें मुझमें हैं, उनकी तृप्ति और आत्म-कल्याण ही मेरे लिए लाभ-दायक है।

अब यदि मैं इस कल्याण को प्राप्त करना चाहता हूँ और उन आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता हूँ, तो मुझे उस पागलपन को अपने दिमाग़ से दूर कर देना चाहिए, जिसमें मैं एक ऐसे पागल की भाँति फँसा हुआ हूँ जो यह कहता है कि भले आदमियों को अपने हाथ से काम नहीं करना चाहिए; बल्कि उन्हें दूसरों से कराने चाहिएँ।

यह तथ्य मालूम करने के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त जो श्रम करना पड़ता है, वह चार भागों में विभक्त किया जा सकता है और उन चारों में ही आनन्द है। वे भार-स्वरूप नहीं हैं; इतना ही नहीं, यदि एक के बाद दूसरे प्रकार के श्रम को किया जाय तो उनसे शान्ति और आनन्द भी मिलते हैं।

"क्या करें ?" इस प्रश्न के जो उत्तर मुझे मिले संक्षेप में वे इस प्रकार हैं:—

१—मैं अपने को धोखा न दूँ। बुद्धि जिस प्रकार के जीवन को उचित बताती है, उससे मैं कितना ही क्यों न बहक गया होऊँ; मुझे सत्य का अनुसरण करने में नहीं हिचकना चाहिए।

२—दूसरों की अपेक्षा मैं कुछ अधिक ऊँचा हूँ, मुझमें कुछ विशेष गुण हैं, मैं कुछ अधिक न्यायी और प्रतिष्ठित हूँ, यह ख़याल छोड़कर मुझे अपना दोष स्वीकार करना चाहिए।

३—अपने और दूसरों के जीवन के गुज़ारे के लिए मुझे अपनी पूरी शक्ति के साथ मेहनत करने का जो निर्विवाद मनुष्य-कर्तव्य है, उसका पालन करना चाहिए।

: ३८ :

मुझे अपने सम्बन्ध में जो-कुछ कहना था, वह तो मैं कह चुका। किन्तु जिन बातों से प्रत्येक मनुष्य का सम्बन्ध है ऐसी बातें कहने से मैं अपने को रोक नहीं सकता और मैंने जो परिणाम निकाले हैं, उनकी भी जाँच कर लेने की मुझे ज़रूरत मालूम होती है।

यदि हमारी श्रेणी और हमारी जाति के लोग इन बातो पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे, तो निश्चय ही उसका फल यह होगा कि जो नवयुवक लोग निजी स्वार्थ और सर्वनाश-परिणामी सुखों के पीछे दौड़ रहे हैं वे इस स्थिति को समझेंगे और समझकर भयभीत हो उठेंगे। न्यायप्रिय लोग अपने जीवन की क्रूरता और उसमें समाये हुए अन्याय को देख कर सहम जायँगे और भीरु लोग इस प्रकार के जीवन में जो ख़तरा है, उसको देखकर घबड़ायेंगे।

हमारे जीवन की दुर्दशा—हम अमीर लोग अपने इस असत्य से भरे हुए जीवन का विज्ञान और कला के द्वारा कितना ही सुधार या समर्थन करने का उद्योग क्यों न करें, वह दिन-ब-दिन कमज़ोर ही होता जायगा, अस्वस्थ और अधिकाधिक कष्टमय होता ही जायगा। प्रति वर्ष आत्म-हत्या और भ्रूण-हत्या के पाप में वृद्धि होती जायगी, प्रति वर्ष हमारे वर्ग की नयी पीढ़ी दुर्बल बनती जायगी, और हर साल हमारी हालत बद से बदतर होती जायगी।

यह निश्चित है कि ऐशो-आराम और मनोरञ्जन की चीज़ों मे वृद्धि करने, औषधियाँ पीने, या कृत्रिम दाँत या कृत्रिम बाल लगाने, या प्राण-व्यायाम से हमारा उद्धार नहीं हो सकता।

यह सत्य इतना व्यापक हो उठा है कि समाचार पत्रों मे चूर्ण आदि के विज्ञापन 'ग़रीबों की नियामत' आदि शीर्षक देकर छापे जाते हैं, जिनमें लिखा होता है कि अच्छा हाज़मा तो ग़रीब मेहनती लोगों का ही होता है, अमीर लोगों को तो हाज़मा दुरुस्त करने के लिए किसी न किसी औषधि की ज़रूरत पडती है और यह चूर्ण उन्हीं मे से एक है। इस स्थिति को किसी भी प्रकार के मनोरञ्जन, ऐशो-आराम वा चूर्ण आदि से ठीक नहीं किया जा सकता। इसके लिए ज़रूरत इसी बात की है कि जीवन में एकदम क्रान्ति की जाय।

हमारे जीवन के साथ हमारे अन्तरात्मा का विरोध—मानव जाति के विरुद्ध हमने जो बेवफ़ाई की है, उसे हम कितना ही न्याय-सिद्ध करने की कोशिश क्यों न करें, किन्तु हमारी सारी चेष्टा प्रत्यक्ष प्रमाणों के सामने बिल्कुल व्यर्थ हो जाती है। हम देखते हैं कि चारों ओर लोग भूख से या सख़्त मेहनत से मर रहे हैं, और इधर हम इन्हीं लोगों के भोजन और कपड़ो को और उनकी गाढ़ी कमाई को अपने मनोरञ्जन के लिए नष्ट कर रहे हैं। इसलिए हमारे वर्ग के व्यक्तियों का अन्तरात्मा—यदि वह लेशमात्र भी बाक़ी रहा है—हमें चैन से नहीं बैठने देता और हमारे जीवन-सुखों को विषाक्त बना देता है। जिन्हे हमने अपने ग़रीब और दुःखी भाइयों से अन्यायपूर्वक छीन लिया है। प्रत्येक न्याय-प्रिय मनुष्य इस बात को महसूस करता है और आजकल स्थिति ऐसी हो रही है कि विज्ञान और कला का वह सद्-अंश जो अभी-तक अपने नाम को सार्थक बनाये हुए है, रह-रहकर मनुष्य को उसकी क्रूरता, उसकी अन्यायपूर्ण परिस्थिति की याद दिलाता रहता है।

पुराने बचाव के साधन, जो अटूट समझे जाते थे, नष्ट हो गये और आजकल विज्ञान की उन्नति विज्ञान के ख़ातिर और 'कला केवल कला

के लिए' कहकर जो हवाई दलीलें पेश की जाती हैं वे साधारण तर्क की धार और बुद्धि के प्रकाश के सामने ठहर नहीं सकतीं।

मनुष्य का अन्तरात्मा इस तरह की नयी-नयी तरकीबों से धोखे में डालकर शान्त नहीं किया जा सकता; वह तो शान्त तभी होता, जब हम जीवन में एकदम वाञ्छनीय परिवर्तन कर देंगे और जीवन को ऐसा बना लेंगे कि फिर बचाव करने की जरूरत ही न रहेगी।

हमारा जीवन खतरे में—लोगों को सता-सताकर हम उन्हें जो अधीर बनाये दे रहे हैं उसका कैसा ख़तरनाक नतीजा होनेवाला है, इस भय को हम अपने से कितना ही छिपाकर क्यों न रक्खे, और धोखेबाज़ी से, ज़बरदस्ती से या खुशामद से हम उस खतरे को दूर करने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें वह तो दिनों-दिन बढ़ता ही जाता है। वह ख़तरा वैसे तो मुद्दतों से हमारे सामने था; किन्तु अब तो वह इतना समीप आ पहुँचा है कि हमारी समझ में ही नहीं आता कि हम क्या करें? हमारी स्थिति उस जहाज़ के समान है, जो गरजते हुए तूफानी समुद्र पर झोले खा रहा है और जिसे समुद्र गुस्से में भरकर हड़प किया ही चाहता है।

सर्वनाश और खून ख़राबी की भयंकरताओं से भरी हुई मज़दूरों की क्रान्ति तीस वर्ष से हमारे सिर पर मँडरा रही है। और अभी तक हम तरह-तरह की चालाकियों ही से उसके फूट निकलने से बचते रहे हैं। यूरोप की यह स्थिति है, और ऐसी ही नहीं बल्कि इससे भी अधिक भयंकर स्थिति रूस देश की है, क्योंकि यहाँ तो बचाव के भी कोई साधन नहीं है।

ज़ार को छोड़कर लोगों की नज़रों में और किसी को लोगों को सताने का अधिकार नहीं है। जनता में हमारे—सतानेवालों के प्रति पल-पल घृणा बढ़ती जा रही है। रूसी लोगों के अन्दर तीन-चार वर्षों से एक नये अर्थपूर्ण शब्द का प्रचार हो रहा है। यह शब्द पहले सुनने में न आया था, आज तो वह गली-गली सुनायी देता है। सर्व साधारण अब हम लोगों को 'निकम्मा—मुफ्तखोर' कहते हैं।

दलित और दुखित लोगों में द्वेष और तिरस्कार बढ़ते जा रहे हैं और दूसरी ओर अमीर लोगों की शारीरिक और नैतिक शक्ति कम होती जा रही है। वह धोखेबाज़ी, जिससे अमीर लोग अभी तक अपना काम चला रहे थे, अब खुलती जाती है। धनिक-वर्ग के पास अब कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिससे वे इस बढ़ते हुए ख़तरे से अपनी रक्षा कर सकें। प्राचीन काल की परिपाटी फिर से स्थापित करना असम्भव है और गयी हुई प्रतिष्ठा और साख को जमाना भी अब नामुमकिन है। जो लोग अपने जीवन में फेर-बदल करना नहीं चाहते, उनके लिए केवल यही आश्वासन है कि उनका अपना जीवन तो जैसे-तैसे बीत ही जायगा, उस के बाद उनकी संतति का जो कुछ होना होगा, वह होता रहेगा। अमीरों का अन्धा-दल मन में ऐसा सोचकर चुप हो जाता है, किन्तु ख़तरा तो बढ़ता ही जाता है और वह भयंकर आपत्ति दिन-पर-दिन नज़दीक आती जाती है।

तीन कारणों से अमीर लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि उन्हें अपने जीवन में परिवर्तन करने की ज़रूरत है। प्रथम—अपने निजी कल्याण तथा अपने परिवार की भलाई की इच्छा, जो इस परिस्थिति में असम्भव है जबतक कि धनी लोग अपने जीवन में परिवर्तन करने को तैयार नहीं होते। द्वितीय—अन्तरात्मा की आवाज़ को सन्तुष्ट करना, जो वर्तमान परिस्थति के होते असम्भव है। तृतीय—प्रति दिन बढ़ता हुआ ज़िन्दगी का ख़तरा, जो किसी बाहरी तरकीब से रुक नहीं सकता।

इन तीनों कारणों से प्रभावित होकर अमीरों को अपने जीवन में परिवर्तन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए! जीवन में परिवर्तन करने ही से कल्याण की साधना होगी, अन्तरात्मा की इच्छा की पूर्ति होगी और आनेवाले ख़तरे का निराकरण भी हो सकेगा। और जीवन में परि-वर्तन करने का एक ही तरीक़ा है, और वह यह कि हम अपने को धोखा देना छोड़ दें, पश्चात्ताप करें और परिश्रम को अभिशाप न समझकर उसे जीवन का आनन्द-मय कार्य मानें।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है—दस-पाँच घण्टे शारीरिक परिश्रम करूँ, इससे क्या लाभ हो सकता है, जबकि मेरे रुपये के बदले में सैकड़ों किसान खुशी-खुशी उस काम को करने के लिए तैयार हो जायँगे ?

इससे पहला लाभ तो यह होगा कि खुद मेहनत करने से तुम अधिक सजीव, स्वस्थ, सुदृढ़ और सदय बन जाओगे। दूसरा लाभ यह होगा कि यदि तुममें अन्तरात्मा का कुछ अंश शेष है, जो दूसरे लोगों को काम करते हुए देखकर तुम्हें कोंचा करता है, तो उसका यह कोंचना बन्द हो जायगा। तुम अपनी अन्तरात्मा को प्रतिदिन अधिक सन्तुष्ट कर रहे हो; इस भावना से तुम्हें आनन्द मिलेगा। और आज का अपना जो अत्यन्त ख़राब जीवन है, जिसमें रहकर दूसरों का कल्याण करना एकदम अशक्य है, उससे तुम मुक्त हो जाओगे और दूसरों का कल्याण करनेवाला स्वतंत्र और पवित्र जीवन व्यतीत करने के विचार से तुम्हारे मन में आनन्द का आविर्भाव होगा। अभी तक नैतिक सृष्टि का जो मार्ग तुम्हारी दृष्टि से ओझल था वह अपने पूर्ण उन्मुक्तरूप में तुम्हारी नजर के सामने आ जायगा।

तीसरा लाभ यह होगा कि अपने बुरे कर्मों के द्वारा जाग्रत हुई प्रतिहिंसा के सतत भय से स्वय मुक्त होकर तुम यह अनुभव करोगे कि दूसरों को भी उस प्रतिहिंसा के फल से बचा रहे हो और ख़ासकर उन बेचारे दलित लोगों की घृणा और क्रोध की क्रूर जलन से, रक्षा कर रहे हो।

किन्तु यह अक्सर कहा जाता है कि यदि हमारी श्रेणी के लोग कि जिनके सामने अनेक गम्भीर दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, कला-मय, धार्मिक, और सामाजिक प्रश्न हल करने के लिए सदा बने रहते हैं और जो राज्यों के मन्त्री हैं, अमात्य है, जो अध्यापक हैं, आचार्य हैं, कलाकार और संगीतज्ञ हैं, और जिनका मिनट-मिनट लोगों की दृष्टि में बहुमूल्य है, यदि ऐसे लोग अपने बूट साफ करने, कपड़े धोने, जमीन जोतने-

बोने और पशु-पक्षियों को दाना घास खिलाने के काम किया करें, कि जिन्हें हमारे नौकरों-चाकरों के अलावा ऐसे सैंकड़ों लोग कि जो हमारे समय को बहुमूल्य समझते हैं स्वयं करने को तैयार होंगे, तब तो सचमुच यह स्थिति बड़ी ही हास्यजनक होगी।

किन्तु तब हम स्वयं ही अपने कपडे क्यों पहनते हैं? ख़ुद ही क्यों नहाते और क्यों अपने हाथ से बालों में कंघा करते हैं? हम क्यों अपने पैरों से चलते हैं, महिलाओं और मेहमानों के बैठने के लिए अपने हाथ से उठा-उठा कर कुर्सियाँ देते हैं, द्वार खोलते और बन्द करते हैं, लोगों को गाड़ी मे बैठते समय सहारा देते हैं और इसी प्रकार के सैकड़ों काम करते हैं कि जिन्हें पहले हमारे दास-दासी हमारे लिए कर दिया करते थे?

क्योंकि हम समझते हैं कि ये काम ऐसे हैं कि जिन्हें हम स्वयं कर सकते हैं और जो मानवी गौरव अर्थात् मानवी कर्तव्य के विरुद्ध नहीं हैं। शारीरिक श्रम के विषय में भी यही बात है। मनुष्य का गौरव—उसका पवित्र कर्तव्य इसीमें है कि वह अपने हाथ-पैरों से वह काम ले जिनके लिए वे उसे दिये गये है, वह अपने खाये हुए भोजन को ऐसे काम में ख़र्च करे कि जिससे भोजन पैदा होता है, उन्हें निकम्मा न रहने दे। भगवान ने मनुष्य को हाथ केवल इसीलिये हर्गिज नही दिये हैं कि वह सुथरा रखकर अपने मुहँ को भोजन और सिगरेटों से भरता रहे।

शारीरिक श्रम का प्रत्येक समाज और प्रत्येक मनुष्य के लिए यही अर्थ होता है किन्तु हमारे समाज के लोगों ने इस प्राकृतिक नियम की जबसे अवहेलना की है तबसे सभी मनुष्यों की दुर्दशा का प्रारम्भ हुआ है और इसीलिए हम शिक्षित और धनिक-वर्ग के लिए शारीरिक श्रम का एक और भी अर्थ है; और वह यह कि इस प्रकार हम स्वयं श्रम करके दूसरे लोगों के सामने उदाहरण रखकर श्रम-धर्म का ज़ोरों से प्रचार करते हैं और मानव-समाज के ऊपर जो भयङ्कर आपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं उन्हें दूर हटाते हैं।

यह कहना कि 'शिक्षित मनुष्य का शारीरिक श्रम करना व्यर्थ-सा है,'-यह कहने के समान है कि 'मन्दिर बनाते समय एक ईंट को दूसरी ईंट के ऊपर ठीक तरह से रखने से क्या लाभ ?' प्रत्येक महत्त्वपूर्ण काम शान्त सरल और निरभिमान वातावरण में ही हुआ करता है। मनुष्य खेत जोतने का, गाय-बैल चराने का, या सोचने का काम बहुत भारी रोशनी और आतिशबाज़ी में; तोपों की गड़गड़ाहट में या फौजी वर्दी में सज्जित होने की हालत में नहीं कर सकता।

दीपों की जगमगाहट तोपों की गडगडाहट, संगीत, वर्दियाँ सफ़ाई और चमक-दमक ये चीज़ें प्रायः हम किसी बडे काम के लिए ज़रूरी समझते हैं, किन्तु वास्तव में बात तो यह है कि जहाँ इन बातों का समावेश होता है वहाँ महत्त्व का अभाव होता है। महान् और सच्चे कार्य सदा ही सरल और विनम्र होते हैं। हमें जो बडे-से-बड़ा काम करना है, वह भी वास्तव में ऐसा ही है। हमारे जीवन में जो भयङ्कर असङ्गति भरी हुई है उसको दूर करना ही वह महान् काम है, जो हमें इस समय करना है। जिन कार्यों से यह असङ्गति दूर हो सकेगी वे विनम्र अलक्ष्य और देखने में उपहास्य मालूम पडते हैं—जैसे शारीरिक श्रम द्वारा अपना काम करना और दूसरों को भी सहायता पहुँचाना; पर हम अमीर लोगों को यही करना होगा, यदि हम अपने जीवन की दुर्दशा और उसमें समाये हुए अन्याय को तथा उसके कारण भविष्य में आनेवाली आपत्ति को समझते हैं।

यदि मैं या दो-चार दस-पाँच आदमी शारीरिक श्रम की अवहेलना न करके उसे अपने सन्तोष, सुख और अन्तरात्मा की शान्ति तथा अपनी रक्षा के लिए ज़रूरी समझने लगें तो इससे भला क्या होगा? इससे यह होगा कि एक-दो या दस-पाँच आदमी एक दूसरे के काम में बिना बाधा डाले और सरकारी अथवा क्रान्ति-जनित बल-प्रयोग के बिना ही उस प्रश्न को हल कर डालेंगे कि जो इस समय समस्त संसार के सामने है और जिसको हल करना बडा मुश्किल हो रहा है। इस प्रश्न को यह

लोग हल भी इस प्रकार करेंगे कि जिससे उनका जीवन सरल और सुन्दर हो उठेगा, उनके अन्तरात्मा को शान्ति मिलेगी और जो खतरा इस समय उनके सामने है वह दूर हो जायगा।

दूसरा फल यह होगा। दूसरे लोग भी देखेंगे कि जिस सुख और कल्याण को वे सब जगह खोजते फिरते थे वह बिलकुल उनके निकट ही है और सांसारिक परिस्थिति और अन्तरात्मा के बीच जो एक अनिवार्य विरोध-सा दीख पड़ता था वह बड़ी ही सरलता और सुन्दरता के साथ दूर हो जाता है। और ये यह भी समझ जायँगे कि अपने चारों ओर जो लोग रहते हैं उनसे डरने के बजाय हमें उनसे मिलना-जुलना और उन्हें प्यार करना चाहिए।

ये आर्थिक और सामाजिक समस्यायें जो ज़ाहिरा हल न होनेवाली मालूम होती हैं, उस सन्दूकची की तरह है, जो बिना किसी विशेष उद्योग के स्वतः खुल जाती हो। किन्तु वह उस समय तक न खुलेगी, जब तक वे सीधी-से-सीधी और आवश्यक बात न करेंगे अर्थात् जबतक उसे खोलेंगे नहीं। यह जाहिरा सवाल वही पुराना, दूसरों की मेहनत को छीन लेने का सवाल है। इस सवाल ने आजकल हमारे ज़माने में सम्पत्ति का रूप धारण किया है।

अगले ज़माने में दूसरे लोगों की मेहनत ज़बरदस्ती उन्हें गुलाम बनाकर छीन ली जाती थी, आजकल यह काम पैसे के ज़ोर पर किया जाता है। आज पैसा सब बुराइयों का मूल हो रहा है। जिनके पास पैसा है और जिनके पास पैसा नहीं है, उन दोनों के दु:खों का कारण पैसा है। जो सम्पत्ति का दुरुपयोग करते हैं, उन लोगों की अन्तरात्मा को यह चुभती है। यह सम्पत्ति ही उस भय का कारण है, जो ग़रीब और अमीरों के संघर्ष से पैदा होनेवाला है।

सम्पत्ति सब पापों का मूल है, किन्तु फिर भी हमारा सारा आधुनिक समाज पैसे के पीछे पागल है। सभी देश और सरकारें इस सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए—अफ्रीका, चीन और बालकन के भू-भागों को

अधिकार में लाने के लिए—षड्यन्त्र रचते हैं और युद्ध करते हैं। बैङ्कर, व्यापारी, कारखानेदार, ज़मीदार, मज़दूर, आदि सभी इसीकी ख़ातिर तरह-तरह की चालें चलते हैं, दु:खी होते हैं और दूसरों को दु:ख देते है। सरकारी कर्मचारी व कारीगर पैसे के लिए ही झगड़ा करते हैं, एक दूसरे को धोखा देते हैं और दु ख उठाते है। न्यायालय और पुलिस सम्पत्ति की रक्षा के लिए बने हैं। आजन्म कैद, जेलखाने और तरह-तरह के दण्ड-विधान ये सब बातें सम्पत्ति के कारण ही ईजाद की गयी हैं। सम्पत्ति सारे अनर्थों का मूल है; परन्तु सारी दुनिया इसी सम्पत्ति के इकट्ठा करने, बचाने और बाँटने में मशगूल है।

किन्तु यह सम्पत्ति है क्या चीज़? लोग ऐसा समझा करते हैं कि सम्पत्ति वास्तव में ऐसी चीज़ है, जिसपर मनुष्य का स्वत्व है, जो उसकी निजी चीज़ है। इसलिए वे कहा करते हैं कि यह चीज़ हमारी है। घर और ज़मीन को भी हम सम्पत्ति कहा करते हैं। किन्तु वास्तव में यह एक भ्रम और वहम है। हम जानते हैं और यदि हम जानते नहीं हैं तो आसानी से जान सकते हैं कि सम्पत्ति और कुछ नहीं, दूसरों की मज़दूरी से लाभ उठाने का केवल एक साधन है। और दूसरों की मज़-दूरी हमारी अपनी कभी हो ही नहीं सकती; ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो इस प्रकार की सम्पत्ति अपनी मिल्कियत नहीं हो सकती।

मनुष्य सदा उस चीज़ को अपना कहता रहा है और कहता रहेगा कि जो उसकी मर्ज़ी के मुताबिक व्यवहार में लायी जा सकती है और जो उसकी आत्मा से सम्बन्ध है। मनुष्य का शरीर ही मनुष्य की सच्ची सम्पत्ति है और ज्योंही वह किसी ऐसी चीज़ को अपना कहना शुरू करता है, जो उसका शरीर तो नहीं है, किन्तु जिसे वह शरीर की ही तरह अपनी इच्छा के आधीन रखना चाहता है, त्योंही वह एक भूल में प्रवेश करता है, जिसके परिणाम-स्वरूप उसे निराशा और व्यथा भोगनी पड़ती है और दूसरों को भी वह दुःख भोगने के लिए बाध्य करता है। मनुष्य अपनी स्त्री को अपना कहता है; अपने बच्चों, अपने दास-दासियों और

अपनी अन्य चीज़ों को भी अपना कहता है; किन्तु वस्तु-स्थिति सदा उस की भूल को प्रकट कर देती है। मनुष्य को चाहिए कि या तो वह अपने इस वहम को छोड दे, अन्यथा वह खुद दुःखी होगा और दूसरों को भी दुःखी बनायेगा।

आजकल यों तो नाम के लिए दास-प्रथा को हमने त्याग दिया है, किन्तु हमने धन संचित करने का अधिकार सुरक्षित रख छोड़ा है और इसी धन के द्वारा हम दूसरों की मेहनत मज़दूरी का उपभोग करते हैं।

किन्तु अपनी स्त्री और अपने बच्चों दास-दासियों और घोड़ों को अपना कहना बिलकुल झूठ और कपोलकल्पित है। वस्तु-स्थिति के सामने इस कल्पना की पोल खुल जाती है और जो लोग इस कल्पना में विश्वास रखते हैं उनको इससे केवल दुःख ही पहुँचता है, क्योंकि स्त्री और पुत्र ठीक हमारे शरीर की भाँति हमारी इच्छा के अधीन कभी न होंगे इसलिए हमारा शरीर ही एक ऐसी चीज़ है, जिसे हम अपना कह सकते हैं। इसी प्रकार धन पर भी हमारा सच्चा स्वत्व कभी नहीं हो सकता, उसको अपना मानकर हम केवल अपने को धोखा और दुःख ही दे सकते हैं। यह तो मेरा शरीर ही एकमात्र ऐसी चीज़ है, जो मेरा है, जो मेरी सच्ची सम्पत्ति और सदा मेरी आज्ञा पालन करने के लिए तत्पर रहता है और जो मेरी आत्मा से सम्बद्ध है।

हम लोग जो अपने शरीर के अतिरिक्त दूसरी चीज़ों को अपना समझने के आदी हैं, वही इतने बडे वहम को उपयोगी और दुष्परिणामों से रहित समझते हैं। किन्तु हमें इस विषय पर ज़रा विचार करने ही की ज़रूरत है और फिर हम यह समझ जायेंगे कि अन्य सभी वहमों की तरह वह वहम भी भयङ्कर परिणामोंवाला है।

एक बिलकुल सीधा-सा उदाहरण ले लीजिए। मैं अपने को अपनी सम्पत्ति समझता हूँ और मेरे ही जैसा एक दूसरा आदमी है उसको भी मैं अपनी सम्पत्ति समझता हूँ। भोजन बनाना तो सीखना ही चाहिए, यदि मैं दूसरे मनुष्य को अपना समझने के वहम में न फँसा होता तो अपने को

पाकशास्त्र तथा अन्य सभी बातों की जो मेरी सच्ची मिल्कियत अर्थात् मेरे शरीर के लिए ज़रूरी है, सिखाता किन्तु मैंने ये सब बातें सिखायीं अपनी कल्पित सम्पत्ति को, और इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा रसोइया मेरी इच्छानुसार काम नहीं करता है; मेरे पास से भाग जाता है या मर जाता है। इस प्रकार मेरी इच्छायें अपूर्ण रह जाती हैं। मैं खाना बनाने की आदत खो बैठता हूँ जिससे मुझे रह-रहकर यह ख़याल आता है कि मैंने रसोइये के लिए जितना समय दिया और कष्ट उठाया उतना श्रम और समय यदि मैं स्वयं भोजन बनाना सीखने में व्यय करता तो कैसा रहता?

मकान, कपड़े, बर्तन, ज़मीन, जायदाद रुपये-पैसे की मिल्कियत के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। प्रत्येक कल्पित सम्पत्ति में ऐसा होता है कि ज़रूरत सदा पूरी नहीं हो पाती और मेरी तो सच्ची सम्पत्ति मेरा शरीर है, उसके लिए समस्त आवश्यक ज्ञान, कौशल, स्वभाव जो मैं प्राप्त कर सकता था नहीं प्राप्त कर पाया। परिणाम यह निकला कि मैं अपनी शक्ति और कभी-कभी तो अपना सारा जीवन किसी ऐसे व्यक्ति या ऐसी चीज़ के ऊपर व्यय कर बैठता हूँ कि जो मेरी सम्पत्ति न तो कभी थी और न कभी हो सकती है।

मैं अपना समझकर 'अपना' पुस्तकालय बनाता हूँ, 'अपनी' चित्रशाला स्थापित करता हूँ, 'अपना' घर बनाता हूँ, मुझे जो कुछ चाहिए उसे ख़रीदने के लिए मैं अपना पैसा रखता हूँ, और इसका परिणाम यह होता है कि जो कल्पित सम्पत्ति है उसको सच समझकर मैं सच्ची और कल्पित सम्पत्ति के बीच जो भेद है उसको भूल जाता हूँ, मेरी अपनी सच्ची सम्पत्ति पर तो मेरा अधिकार रहता है, मैं उसको सुधारने के लिए मेहनत कर सकता हूँ, वह मेरी सच्ची सेवा कर सकती है और सदा मेरे कहे में रहती है; किन्तु कल्पित सम्पत्ति मेरी कभी होती नहीं है, और कभी हो सकती नहीं—फिर चाहे मैं उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारूँ।

शब्दों के अर्थ को हम बिगाड़ न दें तो उनका सदा एक निश्चित अर्थ हुआ करता है।

सम्पत्ति + का अर्थ क्या है ?

सम्पत्ति वह चीज़ है, जो मेरी है, जो बिलकुल मेरे ही लिए दी गयी है, जिसका मैं जब जैसा चाहूँ उपयोग कर सकूँ जिसे दूसरा कोई मुझसे छीन न सके, जो जीवन-पर्यन्त मेरी ही बनी रहती है, अब जिस में मैं वृद्धि और सुधार कर सकूँ। प्रत्येक मनुष्य की ऐसी सम्पत्ति तो उसके शरीर के सिवा और दूसरी कोई चीज़ नहीं हो सकती।

आज इसी अर्थ में कल्पित सम्पत्ति का प्रयोग होता है और यह वही कल्पित सम्पत्ति है कि जिसे असली सम्पत्ति बनाने की असम्भव धुन के कारण ही संसार में इतना दुःख फैला हुआ है—ये युद्ध, फाँसी, दण्ड, क़ैदख़ाने, भोग-विलास, दुराचार, हत्या और मानव-जाति के सर्वनाश के साधन प्रचलित हो रहे हैं।

तब क्या हो, यदि दस-पाँच मनुष्य आवश्यकता से बाध्य होकर नहीं, बल्कि मनुष्य को शारीरिक श्रम करना चाहिए इस कर्तव्य के ज्ञान से प्रेरित होकर, हल जोतें, लकड़ी चीरें और जूते बनाने लगें और यह समझने लगें कि वे जितना अधिक काम करेंगे उतना ही अच्छा है ?

इसका फल यह होगा कि दस आदमी या अकेला एक ही मनुष्य विचार और कृति के द्वारा लोगों को यह दिखा देगा कि ये भयानक दुःख जो लोग भोग रहे हैं कोई दैव-निर्मित नियम या ईश्वरेच्छा या ऐतिहासिक आवश्यकता की बात नहीं करने सिर्फ एक वहम है और वह वहम भी कोई ज़बरदस्त और अत्यधिक शक्तिशाली नहीं बल्कि कम-ज़ोर और नहीं के समान है और जिसे छोड़ने के लिए किसी बहुत बड़े प्रयास की ज़रूरत नहीं, केवल मूर्ति की पूजा की तरह इसमें भी अवि-श्वास करने ही की देरी है कि फिर मकड़ी के जाले की तरह यह नष्ट हो जायगा।

+यहाँ सम्पत्ति के लिए (Property) शब्द का प्रयोग किया गया है।

जो लोग जीवन के आनन्दमय नियम का पालन करने के लिए, श्रम-धर्म का निर्वाह करने के लिए, मेहनत करना शुरू करेंगे वे अपने को सम्पत्ति-सम्बन्धी अपार दु:खमय वहम से मुक्त कर लेंगे और ये समस्त सांसारिक संस्थायें, जो मनुष्य के अपने निजी शरीर के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की कल्पित सम्पत्ति की रक्षा के निमित्त बनी हुई हैं, केवल अनावश्यक ही नहीं, भार-रूप जान पड़ने लगेंगी और यह स्पष्ट हो जायगा कि ये संस्थायें आवश्यक नहीं बल्कि हानिकारक, काल्पनिक और झूठी है।

जो मनुष्य श्रम को अभिशाप न समझकर आनन्द का कारण मानता है उसके लिए अपने शरीर के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति, अर्थात् दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने की सत्ता और सम्भावना केवल व्यर्थ ही नहीं, बाधक भी मालूम होगी। मुझे अपना खाना अपने आप बनाने में मज़ा आता है और मुझे उसकी आदत भी पड़ गयी है। अब यदि कोई दूसरा आदमी मेरे लिए खाना बनाता है तो वह मुझे मेरे दैनिक काम से वञ्चित कर देता है और मुझे वह इतना सन्तोष न दे सकेगा जितना कि मैं खुद अपने हाथ से खाना बनाकर अपने को संतुष्ट किया करता था। ऐसे मनुष्य के लिए कल्पित सम्पत्ति का संचय करना आवश्यक न होगा। जो मनुष्य श्रम ही जीवन मानता है और जीवन को श्रम से ओत-प्रोत कर लेता है, उसे सम्पत्ति की अर्थात् दूसरे लोगों की मेहनत का उपयोग करने—खाली समय को किसी प्रकार बिताने और जीवन को रसमय बनाने—के साधनों की बहुत कम ज़रूरत रह जायगी।

यदि मनुष्य का जीवन श्रम में लगा हुआ हो, तो उसे न तो बहुत सारे कमरों, कपड़ों और समान की ज़रूरत होती है, न अत्यधिक खर्चीले भोजन की, सवारी शिकार और मनोरंजन की। विशेषतः जो मनुष्य श्रम को जीवन का कर्तव्य और जीवन का आनन्द मानता है वह दूसरों के श्रम का उपभोग करके अपने श्रम को कम करने की चेष्टा न करेगा।

जो मनुष्य मानता है कि श्रम ही जीवन है वह ज्यों-ज्यों कौशल, धैर्य और चतुरायी प्राप्त करता जायगा त्यों-त्यों वह अधिकाधिक काम करने

की कोशिश करेगा और एक क्षण भी व्यर्थ खोना पसन्द न करेगा। जो मनुष्य श्रम करना ही जीवन का उद्देश्य समझता है और फल के विषय मे निस्पृह है तथा श्रम के द्वारा सम्पत्ति-संचय करना जिसका लक्ष्य नही है, वह औज़ारों के विषय में कभी प्रश्न न करेगा। ऐसा आदमी यद्यपि सदा ही अत्यन्त उत्पादक औज़ारों को अपने उपयोग के लिए चुनेगा, किन्तु ज़रूरत पडने पर अनुत्पादक औज़ारों से काम करने में भी वह वैसा ही सन्तोष प्राप्त करेगा।

यदि उसके पास भाप से चलनेवाला हल है, तो वह उससे जोतेगा, यदि ऐसा हल उसके पास नही है, तो वह घोड़ों से चलनेवाले हल से जोतेगा; वह भी न होगा, तो वह सीधे-सादे पुरानी चाल के हल से जोतेगा; और यदि यह भी न मिल सकेगा तो वह फावडे से काम चलायेगा। ग़र्ज़े कि हर हालत में वह अपने उद्देश्य को पूरा करेगा—अर्थात् वह मनुष्योपयोगी श्रम करके अपना जीवन बितायेगा और आन्तरिक सन्तोष को प्राप्त करेगा। ऐसे मनुष्य का जीवन बाह्य और आन्तरिक दोनों ही हालतों मे उस मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक सुखमय होगा कि जिसने अपना जीवन सम्पत्ति का संचय करने मे लगा रक्खा है।

बाह्य दृष्टि से यह लाभ होगा कि उसे कभी किसी बात की कमी न रहेगी, क्योंकि जब मनुष्य यह देखेंगे कि यह आदमी काम से जी नहीं चुराता और बड़े प्रेम और शौक से मेहनत करता है; तो वे हर प्रकार उसके श्रम को अधिक से अधिक फलप्रद बनाने की कोशिश करेंगे, जैसे कि ज़ोर से बहते हुए पानी के ऊपर लोग दौडकर पनचक्की बनाने जाते हैं। इस मनुष्य के श्रम को अधिक उत्पादक बनाने के लिए वे उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देंगे, जो वे किसी ऐसे आदमी के लिए कभी करना पसन्द नही करेंगे कि जिसने अर्थ-संचय को अपना ध्येय बना रक्खा है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाना, बस इसी बात की मनुष्य को ज़रूरत होती है।

आन्तरिक दृष्टि से ऐसा मनुष्य अर्थ-संचय करनेवाले मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुखी होगा, क्योंकि सम्पत्ति प्रेमी मनुष्य की तृष्णा कभी

पूरी न होगी और श्रम-धर्मी मनुष्य की फिर चाहे वह बूढ़ा, दुर्बल और मरणासन्न ही क्यों न हो—अपनी शक्ति के अनुसार काम करके पूर्ण सन्तोष तथा अपने साथियों की प्रीति और सहानुभूति प्राप्त कर सकेगा।

इसका एक परिणाम तो यह होगा कि कुछ विचित्र और तरङ्ग लोग सिग्रेट पीने; ताश खेलने और अपनी सुस्ती को लिये-लिये इधर-उधर घूमने फिरने के बजाय हल जोतने, जूते बनाने आदि का काम करेंगे। प्रत्येक दिमाग़ी काम करनेवाले मनुग्य के पास १० घण्टे ख़ाली होते हैं। उन्हें श्रम में लगाकर उनका उपयोग लोग करेंगे।

दूसरा परिणाम यह होगा कि ये सनकी लोग क्रियात्मक रूप से यह सिद्ध कर देंगे कि वह कल्पित सम्पत्ति कि जिसके लिए मनुष्य इतना कष्ट उठाते हैं, खुद दुःख झेलते हैं और दूसरों को दुःख देते हैं, आनन्द-प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं है वल्कि बाधक है और सिर्फ़ एक वहम है; मनुष्य की सच्ची सम्पत्ति तो उसके हाथ-पाँव और उसका सिर है। और इस वास्तविक सम्पत्ति का आनन्दमय सदुपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर के अतिरिक्त भी कोई सम्पत्ति है, इस असत् विचार से अपने को मुक्त कर लें, क्योंकि असद्विचार के कारण ही हम झूठी सम्पत्ति पर अपनी अधिकांश जीवन-शक्ति को नष्ट कर देते हैं।

एक और परिणाम यह होगा कि; ये लोग इस बात को सिद्ध कर देंगे कि जब मनुष्य कल्पित सम्पत्ति में विश्वास करना छोड़ देता है तभी वह अपनी सच्ची सम्पत्ति का वास्तविक उपयोग करना सीखता है—अर्थात् तभी वह अपने शरीर से ठीक-ठीक काम कर लेता है, जिससे उसे सौगुना लाभ होता है और ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि जिसकी हम अभी कल्पना भी नहीं कर सकते। और वह इतना उपयोगी, बलवान और दयालु मनुष्य होगा कि जो हर कहीं अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा जो सबको अपना भाई समझेगा, जिसे सब लोग चाहेंगे, प्यार करेंगे और जिसे सब लोग समझ सकेंगे।

जब सर्वसाधारण इस प्रकार के दो-चार, दस-पाँच 'सनकी' आदमियों को देखेंगे, तो समझ जायेंगे कि आज जिन मुसीबतों में वे फँसे हुए हैं और जिनसे छुटकारा मिलने का कोई मार्ग नहीं सूझता, उससे बचने के लिए उस भयंकर गुत्थी को सुलझाने की ज़रूरत है कि जिस में सम्पत्ति-सम्बन्धी वहम के कारण सबके सब बँधे पड़े हैं।

लोग यह दलील दिया करते हैं कि अकेला आदमी क्या कर सकता है ? इसपर भी विचार कर लें। नाविक लोग नौका को धार पर चढ़ा रहे है। क्या कभी ऐसा कोई नाविक हो सकता है कि जो यह समझकर नाव खेने से इन्कार करदे कि वह अकेला नाव को धार पर नहीं चला सकता ? खाने, पीने और सोने के सिवा भी मनुष्य के कुछ और कर्तव्य है, यह माननेवाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उसका कर्तव्य किस बात में है। नौका खेनेवाला नाविक जानता है कि उसे भरसक लक्ष्य की ओर नौका को खेते रहना चाहिए। उसे यदि कोई दूसरा काम करना होगा तो वह नौका को ठिकाने पर पहुँचाने के बाद ही उसको करेगा। नाविक के विषय में अथवा सामुदायिक रूप में काम करनेवाले दूसरे लोगों के विषय मे जो बात सच है वही समस्त मानव-समाज से सम्बन्ध रखनेवाले काम के विषय में भी सच है। प्रत्येक मनुष्य यह कहकर कि मैं अकेला नौका को नहीं खे सकता, पतवार फेंक दे, तो यह ठीक नही है। अपने लक्ष्य को ध्यान मे रखकर नाव को एक ही दिशा में खेना चाहिए ऐसी बुद्धि प्रत्येक नाविक को स्वभावतः होती है। हमें किस दिशा में जाना है, यह बात स्पष्ट है। अपने आसपास के लोगों के जीवन से, अन्तरात्मा की प्रेरणा से और आज तक जो मानव-ज्ञान व्यक्त हुआ है उससे यह इतनी स्पष्ट होगयी है कि जो आदमी काम करना नहीं चाहता, वही यह कहेगा, कि उसको वह दिशा दिखायी नहीं देती।

हाँ, तो इसका क्या परिणाम होगा ?

परिणाम यह होगा कि पहले एक आदमी, फिर दूसरा नाव खेना शुरू करेगा और तब उनकी देखा-देखी तीसरा आदमी भी शामिल हो जायगा।

इस प्रकार एक-एक करके काफी आदमी शरीक हो जायँगे । काम चल निकलेगा और ऐसा मालूम होने लगेगा कि जैसे वह काम खुद हो रहा है। यह देखकर और लोग भी, जो यह नहीं समझते हैं कि यह काम क्यों और किसलिए किया जा रह है, उसमे योग देने लगेंगे।

ईश्वरीय नियम का पालन करने के लिए ज्ञानपूर्वक जो लोग काम करते हैं, उनमें पहले तो वे लोग शामिल होंगे, जो काम के महत्त्व को कुछ तो बुद्धि से और कुछ श्रद्धा से स्वीकार करेंगे। इसके बाद इनसे भी अधिक सख्या मे वे लोग सम्मिलित होंगे, जो अग्रगामी लोगों पर श्रद्धा रखते हैं। और फिर तो अधिकांश जनता योग देने लगेगी और इस प्रकार लोग अपने सर्वनाश का मार्ग बन्द करके सच्चे आनन्द को प्राप्त करेंगे।

यह तब होगा (और यह जल्दी होने ही वाला है) कि जब हमारे वर्ग के लोग और उनके साथ ही साथ अधिकांश काम करनेवाले लोग पाखानों को साफ़ करना लज्जाजनक नहीं समझेंगे बल्कि इस बात को सहन करना वह लज्जाजनक समझेंगे कि उनके गन्दे किये हुए पाखानों को दूसरे हमारे भाई साफ़ करे। साधारण जूते पहनकर लोगों से मिलने जाने में वे लज्जित न होंगे बल्कि नगे पॉव चलनेवाले लोगों के सामने बडे-बड़े कीमती बूट पहनकर जाने में ये लज्जित होंगे, यदि उन्हे फ्रेंच भाषा या नवीनतम उपन्यास का ज्ञान नहीं है तो इससे वे लज्जा का अनुभव न कर के इस बात से लज्जित होंगे कि वे रोटी खाते तो हैं पर उसे बनाना नही जानते; दस्तकारी की हुई कमीज या साफ पोशाक न पहनने से वे लज्जित न होगे किन्तु आलस्य का परिचय देनेवाले साफ कोट को पहनकर घूमने फिरने से वे लज्जित होंगे, काम के कारण हाथों को मैला देखकर वे लज्जित न होगे। बल्कि अपने हाथों में कार्यजनित रेखा न देखकर वे शरमिन्दा होगे।

ये सब बातें तब होंगी, जब जनता शिक्षित होकर इन बातों को मॉगेगी। जनता इन बातों को उस वक्त मॉगेगी कि जब मनुष्य सत्य को

छिपाने वाले भ्रम से मुक्त हो जावेंगे। मेरे ही देखते-देखते इस सन्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। जनता के विचारों में परिवर्तन होने ही से ये परिवर्तन भी हुए। जहाँ पहले अमीर लोग चार घोड़ों की गाड़ी और दो नौकरों के बिना बाहर निकलते थे, तो उन्हें शर्म मालूम होती थी और नहलाने और कपड़े पहनाने तथा दूसरे कार्यों के लिए नौकर या दासी को न रखना लज्जाजनक समझते थे; वहाँ अब एकाएक यह परिवर्तन हुआ है यदि कोई खुद न नहाये और कपड़े खुद न पहने या नौकरों को गाड़ी के साथ ले जाय तो यह लज्जा की बात समझी जाती है। ये सब परिवर्तन लोकमत के द्वारा ही हुए हैं।

क्या हम उन परिवर्तनों को नहीं देख पाते कि जो लोकमत के द्वारा अब हो रहे हैं? पचीस वर्ष पहले दासता के समर्थक तर्कजाल के टूटते ही लोकमत ने अच्छे और बुरे के विषय में अपनी धारणा बदल ली। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य का जीवन भी बदल गया। वैसे ही अब ज़रूरत इस बात की है कि जो दलीलें धन के प्रभाव का समर्थन करती हैं, उनका खण्डन किया जाय। इससे अच्छे और बुरे प्रशंसनीय व निन्दनीय के विषय में लोकमत में फिर परिवर्तन हो जायगा और जीवन एक बार फिर बदल जायगा।

किन्तु धन की सत्ता का समर्थन करनेवाले मोह-जाल का खण्डन और इस विषय में लोकमत का परिवर्तन बड़ी तेज़ी से हो रहा है। वह मोह-जाल बिलकुल स्पष्ट और पारदर्शी है और सत्य को अधिक देर तक छिपा नहीं सकता। यदि कोई ज़रा बारीकी से विचार करे तो उसे स्पष्ट मालूम होगा कि लोक-मत में जिस परिवर्तन के होने की अनिवार्य आवश्यकता है, वह परिवर्तन हो गया है; केवल लोग अभी उसे अच्छी तरह जान नहीं पाये हैं और उसका नामकरण-संस्कार अभी नहीं हुआ है।

हमारे ज़माने का साधारण पढ़ा-लिखा आदमी उन परिणामों का विचार करे, जो विश्व-सम्बन्धी उसकी धारणाओं से फलित होते हैं, तो वह देखेगा कि धर्म-अधर्म, स्तुत्य और निन्द्य की जो कल्पना उसने

बना रक्खी है, और जिसके अनुसार वह अपने जीवन में व्यवहार करता है, वह उसकी जीवन-सम्बन्धी धारणाओं के एकदम प्रतिकूल है।

उदाहरण के लिए हम धनिक-वर्ग के एक युवक को लेते है। प्रत्येक भला युवक बूढे, बच्चे और स्त्री को सहायता देने से इन्कार करना लज्जा-जनक समझेगा। अपनी जान बचाकर अपने साथी के प्राण और स्वास्थ्य को ख़तरे में डालना वह लज्जाजनक समझता है। हर कोई उन 'किर-घील' लोगों की तरह व्यवहार करना घोर निन्द्य और पशुतापूर्ण कर्म समझेगा कि जो तूफान के समय अपनी पत्नियों और बूढी स्त्रियों को तम्बू के खूँट पकडे रहने के लिए बाहर भेज देते थे और खुद तम्बू के अन्दर बैठ कर शराब पीते थे। प्रत्येक मनुष्य किसी कमज़ोर आदमी से काम कराना बुरा समझता है। और ख़ासकर ऐसे ख़तरे के समय कि जब जहाज में आग लगी हो, किसी बलवान मनुष्य का दूसरों को एक ओर ढकेलकर पहले जीवन-रक्षिणी नौका में जा बैठना अत्यन्त लज्जा-जनक समझा जायेगा। मनुष्य इन कर्मों को बुरा और लज्जाजनक समझते हैं और ख़ास-ख़ास मौकों पर वे ऐसे काम कभी न करेंगे, किन्तु दैनिक जीवन इसी प्रकार और कभी-कभी तो इनसे भी बुरे काम इन लोगों के द्वारा किये जाते हैं—केवल इसलिए कि उनकी वीभत्सता शब्द-जाल से ढकी रहती है।

मनुष्य यदि जरा विचार करे तो अपने जीवन की वीभत्सता को वह देख और समझ सकेगा।

एक युवक रोज कमीज़ बदलता है। उन कमीज़ों को साफ़ कौन करता है? उनको साफ करनेवाली एक धोबिन होती है; जो अवस्था में उसकी माता अथवा दादी के समान होगी और जो प्राय. बीमार रहती है। यही युवक किसी दूसरे आदमी को यदि ऐसा करता देखे, यह देखे कि केवल शौक़ीनी की ख़ातिर वह रोज कपडे बदलता है और उन्हें एक बेचारी बूढी औरत से धुलवाता है, जो अवस्था में उसकी माता के सामान है, तब वह अपने मन में उसे क्या कहेगा?

एक नवयुवक अपनी शान की ख़ातिर घोड़े ख़रीदता है और उन को सधाने का काम एक बूढ़े आदमी को सौंपता है, जो अवस्था में उस के पिता या दादा के समान है और इस प्रकार उसकी जान को जोखम मे डालता है। यह नवयुवक उन घोड़ों पर उस समय सवार होता है, जब वे सध जाते हैं और ख़तरा दूर जाता रहता है। यही नवयुवक किसी दूसरे आदमी को ऐसा करता हुआ देखे, यह देखे कि अपने को ख़तरे के काम से बचाकर अपने शौक़ की खातिर दूसरे आदमी को ख़तरे मे डालता है, तो वह उसके लिए अपने मन मे क्या कहेगा ?

ये केवल कल्पना ही की बातें नहीं हैं। अमीर लोगों का सारा जीवन वास्तव में ऐसी ही बातों से भरा रहता है। बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों का शक्ति से ज्यादा मेहनत करना और दूसरे लोगों के द्वारा ख़तरनाक और निरर्थक कामों का किया जाना ऐसी ही बातों से हमारा जीवन भरा रहता है। मछुआ हमारे लिए मछलियो का शिकार करते-करते डूब मरता है। धोबिन सरदी खाते-खाते मर जाती है, लोहार अन्धा हो जाता है, कार-खानो में काम करनेवाले रोगी हो जाते हैं या मशीन से कटकर लंगडे-लूले हो जाते हैं, लकड़हारे वृक्षो के नीचे दब जाते हैं, मजदूर छत पर से गिरकर मर जाते हैं, और दर्जिन सीते-सीते दुबली हो जाती है। प्रत्येक प्रकार की मज़दूरी में तन्दुरुस्ती और ज़िन्दगी का ख़तरा रहता है। इस बात को छिपाना या उसको न देखना असम्भव है। इस स्थिति में से बचने का एक ही उपाय है। कोई भी आदमी जो अपने को बचाकर दूसरे की तन्दुरुस्ती और ज़िन्दगी को ख़तरे में डालता है, वह हमारी अपनी ही धारणा के अनुसार दुष्ट और कायर है। यदि हम इन दोषों से बचना चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि हम दूसरो से उतना ही काम करायें, जितना जीवन-रक्षा के लिए ज़रूरी है और साथ ही हम स्वयं भी ऐसे श्रम में भाग लेने से न हिचकें कि जिसमें स्वास्थ्य और जीवन को हानि पहुँचाने की सम्भावना हो।

मेरी ज़िन्दगी में ही कई विचित्र परिवर्तन हुए हैं। मुझे याद है, पहले यह कायदा था कि खाने के समय प्रत्येक मनुष्य की कुर्सी के पीछे एक आदमी तश्तरी लिए खड़ा रहता था। लोग जब किसी से मिलने जाते थे तो अपने साथ दो नौकरों को ले जाते थे। लोगों को 'पाइप' देने और उन्हें साफ करने के लिए कमरे में एक लड़का और एक लड़की खड़े रहते थे। अब ये सब बातें हमे विचित्र-सी मालूम पड़ती है। किन्तु क्या यह भी उतनी ही विचित्र बात नहीं है कि एक युवक या युवती या प्रौढ पुरुष किसी मित्र से मिलने को जाय तो नौकरों को घोड़े कसने का हुक्म दे? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि एक आदमी पॉच कमरों में रहे या एक स्त्री अपनी पोशाक पर सैकडों हजारों रुपये ख़र्च करे जबकि ज़रूरत सिर्फ इस बात की है कि वह कुछ रुई या ऊन लेकर काते और उससे अपने लिए और अपने पति और बच्चो के लिये कपडे तैयार कराये?

क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि लोग निकम्मा जीवन व्यतीत करते हैं, कुछ भी काम नहीं करते, केवल इधर-उधर सैर-सपाटा करते हैं, सिगरेट पीते हैं, ताश खेलते हैं, और उनको खाने पिलाने तथा गरम रखने के लिए आदमियों की फ़ौज लगी रहती है?

क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि वृद्ध पुरुष समाचार-पत्रो में नाटको और सिनेमाओं की चर्चा करें और दूसरे लोग उन्हें देखने के लिए दौड़ते जायँ?

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हजारों-लाखों लड़को और लड़कियों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है कि जिससे वे किसी भी काम के करने के काबिल नहीं रहते—वे जब स्कूल से घर को जाते हैं, तो उनकी दो-चार किताबों को भी ले जाने के लिए नौकरों की ज़रूरत होती है?

जल्दी ही एक ऐसा समय आनेवाला है—बल्कि वह नज़दीक आ पहुँचा है कि जब नौकरों द्वारा परोसा हुआ पांच प्रकार के पक्वान्नों

का भोजन करना लज्जाजनक समझा जायगा, इतना ही नहीं बल्कि जो भोजन स्वयं अपने हाथों से न बनाया गया हो उसे खाना भी लज्जाजनक समझा जायगा; पैरों के होते हुए घोड़े पर चढ़ना या बग्घी में बैठना लज्जाजनक समझा जायगा; छुट्टी के दिनों के सिवा ऐसे कपड़े, दस्ताने और जूते पहनकर फिरना, जिनको पहनकर काम करना मुश्किल हो, लज्जा का कारण होगा, जब लोगों को दूध और रोटी नहीं मिल सकती तब कुत्तों को दूध-रोटी खिलाने में शर्म आयगी, डेढ़-सौ या दो-सौ पौंड का पियानो बजाना, जबकि दूसरों को एक-एक पौंड के लिए मरना-खपना पड़ता है, लज्जाजनक समझा जायगा।

हम ऐसे ज़माने की ओर बड़ी तेज़ी से बढ़े चले जा रहे हैं। हम नये जीवन के किनारे पर खड़े हुए हैं और नया जाग्रत लोकमत इस जीवन को शीघ्र ही बना देगा। लोकमत को स्त्रियाँ बनाती हैं और हमारे सौभाग्य से आजकल स्त्रियों का बल बढ़ रहा है।

: ३६ :

बाइबिल में लिखा है कि श्रम करना मनुष्य का धर्म है और सन्तान उत्पन्न करना स्त्री का धर्म है। विज्ञान कुछ भी कहा करे, किन्तु स्त्री और पुरुष का जो धर्म है, वह तो वैसा ही अपरिवर्तनीय है जैसा शरीर में जिगर का स्थान। इस धर्म की अवहेलना करने से निश्चय रूप से मौत की सज़ा मिलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जब मनुष्य अपने धर्म का उल्लंघन करता है, तो उसे अत्यन्त निकट भविष्य में मौत की सज़ा मिलती है, किन्तु स्त्री जब अपना धर्म पालन नहीं करती तो उसका दण्ड कुछ देर से मिलता है।

यदि सभी मनुष्य अपने धर्म का पालन करना छोड दें, तो उससे मनुष्यों का तुरन्त ही नाश हो जाता है और स्त्रियों के धर्म-पालन न करने से दूसरी पीढ़ी के लोगों का नाश होता है।

जो जातियाँ दूसरों पर बलात्कार कर सकती थीं उनके अन्दर तो मनुष्यों ने श्रमधर्म की अवहेलना बहुत पहले ही से करना शुरू कर दी थी। वह बढ़ते-बढते अब इस पागलपन की हद तक पहुँच गयी कि उस नियम का उल्लंघन करना एक आदर्श बन गया है। लोग यह समझ रहे हैं कि सारा काम तो मशीनों द्वारा हुआ करेगा और मनुष्य जो नसों का समूह मात्र है, खूब मौज किया करेगा।

स्त्रियों ने अपने धर्म का त्याग बहुत ही कम किया है। वेश्यावृत्ति और कभी कभी भ्रूण-हत्या के रूप में यह पाप प्रकट हुआ है, पर धनिक

वर्ग के पुरुषों ने जिस प्रकार अपने धर्म को एकदम ही तिलाञ्जलि दे दी, उनकी स्त्रियों ने वैसा नहीं किया। वे अपने धर्म का पालन करती रहीं हैं और इसीलिए स्त्रियाँ अधिक शक्तिशाली होगयी हैं। जो लोग अपने धर्म से च्युत होकर अपनी बुद्धि से भी हाथ धो बैठे हैं, उनपर स्त्रियाँ शासन कर रही हैं और उन्हें करना भी चाहिए।

आजकल प्रायः कहा जाता है कि स्त्रियाँ—ख़ासकर पेरिस की सन्तान-हीन स्त्रियाँ आधुनिक शृङ्गारिक साधनों का उपयोग करके इतनी मोहक हो उठी हैं कि उन्होंने अपने सौन्दर्य से पुरुषों को पूर्णतः अपने वश में कर लिया है। यह बात ठीक नहीं है। वास्तव में वस्तुस्थिति इससे बिलकुल उलटी है। सन्तान-हीन स्त्रियों ने पुरुषों पर अधिकार नही प्राप्त किया है, यह अधिकार तो उन स्त्रियों ने प्राप्त किया है, जिन्होंने अपने मातृत्व-धर्म को निबाहा है और उन पुरुषों पर अधिकार प्राप्त किया है कि जिन्होंने अपने धर्म-पालन में अवहेलना की है।

जो स्त्री कृत्रिम साधनों से सन्तानोपत्ति को रोकती हैं और जो अपनी छाती और घुँघराले बालों का प्रदर्शन करके पुरुषों को मोहने की चेष्टा करती हैं, वह पुरुष पर अधिकार प्राप्त करनेवाली नहीं है, वह तो एक ऐसी स्त्री है, जो पुरुष द्वारा भ्रष्ट की गयी है और भ्रष्ट पुरुष के दर्जे को पहुँच गयी है। वह पुरुष की भाँति अपने धर्म से च्युत होकर जीवन को धूल में मिला रही है।

इसी भूल के कारण उस ज़बरदस्त मूर्खता का जन्म हुआ है, जिसे लोग 'स्त्रियों के अधिकार' के नाम से पुकारते हैं। इस अधिकार की माँग को सूत्र रूप में यों कहा जा सकता है—'स्त्रियाँ कहती हैं, तुम मर्दों ने अपने सच्चे श्रम-धर्म को छोड़ दिया है और यह चाहते हो कि हम लोग अपना बोझा ढोती रहें। मगर नहीं, यदि यही बात है तो हम भी बैंकों, मन्दिरों, विश्वविद्यालयों आदि संस्थाओं में काम करके तुम्हारी ही तरह श्रम का ढोंग रचेंगी। सच्ची बात यह है कि हम भी तुम्हारी तरह श्रम-

विभाग के बहाने दूसरों की मेहनत से लाभ उठाना चाहती हैं और केवल वासना-तृप्ति के लिए जीना चाहती हैं'।

स्त्रियों के अधिकार का प्रश्न ऐसे लोगों में उठा कि जिन्होंने सच्चे श्रम-धर्म को छोड़ दिया। यह विचित्र प्रश्न उठ भी ऐसे ही लोगों में सकता है। यदि एक बार फिर से मनुष्य अपने धर्म का पालन करने लगें तो ये सवाल खुद ही मिट जायँ। जिस स्त्री के पास अपना विशिष्ट अनिवार्य कर्तव्य पालन करने के लिए मौजूद है, वह खदानों को खोदने और खेतों में हल चलाने जैसे मर्दों के शारीरिक श्रम के कामों में भाग लेने का कभी दावा न करेगी। वे तो धनियों के श्रम के ढोंग में ही भाग लेने का दावा करती हैं।

हमारे वर्ग की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थीं और अब भी हैं, किन्तु इसका कारण उनका विमोहक सौन्दर्य या चालाकी नहीं है उनकी शक्ति का कारण तो यह है कि उन्होंने अपने धर्म का उल्लंघन नहीं किया। उन्होंने अपने उस फर्ज़ को कि जिसमें जान तक का ख़तरा है, ईमानदारी से अदा करने की कोशिश की है। अपने सच्चे श्रम से अमीर लोग हट गये हैं, किन्तु स्त्रियों ने उनकी तरह अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ा है।

किन्तु मेरी याददाश्त में ही स्त्रियों ने अपना धर्म छोड़ना शुरू कर दिया है अर्थात् उसका पतन होना प्रारम्भ हो गया है। मेरे देखते ही देखते वह अधिकाधिक बढ़ भी गया है। जिस स्त्री ने अपना धर्म छोड़ दिया है, वह यह समझती है कि उसका बल उसके सौन्दर्य में अथवा मानसिक श्रम का ढोंग रचने की उसकी कुशलता में है। वह समझती है कि सन्तानोत्पत्ति से इन दोनों ही बातों में बाधा पड़ती है, इसलिए विज्ञान की सहायता में (विज्ञान सभी बुरे कार्यों के मदद देने के लिए सदा तैयार रहता है) इन्हीं कुछ वर्षों में गर्भाशय का नाश करने तथा सन्तानोत्पत्ति को रोकने के बीसियों साधनों का आविष्कार हो गया है। ये साधन इतने प्रचलित हो गये हैं कि वे रोज़मर्रा के श्रृङ्गार का अंश

बन गये हैं। परिणाम यह हुआ कि धनियों की स्त्रियों और माताओं ने अपने हाथ में जो शक्ति थी उसको भी खो दिया और अपने को गली-गली फिरनेवाली स्त्रियों के दर्जे तक पहुँचा दिया।

यह बुराई बहुत दूर तक फैल गयी है और दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है। यदि यही हाल रहता तो जल्दी ही धनिक वर्ग की समस्त स्त्रियाँ इसके पंजे में फँस जायँगी। और तब यह होगा कि स्त्री और पुरुष दोनों ही एक समान धर्म-भ्रष्ट हो जायँगे और पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी जीवन का सच्चा अर्थ भूल जायँगी। किन्तु अभी समय है, क्योंकि अब भी पुरुषों की अपेक्षा अपना धर्म पालन करनेवाली स्त्रियाँ अधिक हैं। हमारे समाज की इन्हीं धर्म-प्राण स्त्रियों के हाथ हमारा उद्धार हो सकने की सम्भावना है।

किन्तु यह शक्ति उन स्त्रियों के हाथ में नहीं है कि जो अपने शरीर शृंगार से सजा-सजाकर सौन्दर्य द्वारा मनुष्यों को मोहने में दिन-भर लगी रहती हैं और जो अनिच्छापूर्वक दैवयोग से गर्भ रह जाने पर अत्यन्त निराश होकर बच्चों को जन्म देती हैं और फिर तुरन्त ही उन्हें दाइयों के हाथ में सौंप देती हैं। न यह शक्ति उन स्त्रियों के हाथ में है जो जगह-जगह सभाओं में व्याख्यान सुनने जाती हैं और बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक बातों की चर्चा करती हैं और इस बात की कोशिश करती हैं कि उनके बच्चा पैदा न हो, क्योंकि इससे वे समझती हैं, उनके विकास में (जो वस्तुतः विकास नहीं होता) बाधा पड़ती है। यह शक्ति तो उन्हीं स्त्रियों, उन्हीं माताओं के हाथ में हैं, जो सन्तानोत्पत्ति के भार से अपनेको मुक्त करने की शक्ति रखते हुए भी ईमानदारी और समझदारी के साथ भगवान के बनाये हुए अपने परम-कर्तव्य का पालन करती हैं। ऐसी ही स्त्रियों और माताओं के हाथ में धनी पुरुषों का उद्धार है।

हे स्त्रियो और माताओ, भगवान के बनाये हुए नियमों को न तोड़ने से जो अभूतपूर्व आनन्द और हृदय को भर देनेवाला जो शांतिमय सुख मिलता है, उसे तुम ही जानती हो। पति-प्रेम के सुख का अनुभव

केवल तुम ही करती हो। यह ऐसा सुख है। जिसका कभी अन्त नहीं होता, जो कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु नये रूप में सन्तान-प्रेम के सुख मे बदल जाता है, तुममें से जो सरल भाव से ईश्वर की इच्छा का पालन करती हैं, और जो पुरुषों की भाँति झूठे श्रम का ढोंग रचना पाप समझती हैं, वही जानती हैं कि इस काम से कैसा आनन्द मिलता है? पति प्रेम के अनुभव के बाद भय और आशा-मयी भावनाओं के साथ तुम गर्भवती की दशा में प्रवेश करती हो। नौ महीने बीमार-सा रहने के बाद अन्ततः बालक के जन्म के साथ तुम्हे असह्य वेदना और भयंकर यातना का अनुभव होता है और उस महाभयंकर प्रसव-वेदना के पश्चात् जो अलौकिक सुख, जो अपूर्व आनन्द मिलता है उसका स्वाद और आनन्द भी तुम हो और केवल तुम ही जानती हो!

प्रसव की वेदना के पश्चात् तुम बिना रुके, बिना आराम किये तुरन्त ही बच्चे पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले लेती हो और उस समय तुम कितना श्रम करती हो, कितना कष्ट उठाती हो, इसको बस तुम्हीं जानती हो। अपने इस कर्तव्य-पालन में तुम इतनी तत्पर रहती हो कि मनुष्य की जो सबसे ज़बरदस्त ज़रूरत निद्रा है (जिसे लोग माता-पिता से भी अधिक मधुर और प्रिय बताते हैं,) उसे भी तुम भूल जाती हो। महीनों और वर्षों तक ऐसा होता है कि तुम लगातार दो-दो बजे रात तक आराम नहीं कर पाती। कभी-कभी तो रात-रात भर जागकर काटती हो और अपने उन थके हुए दुर्बल हाथों में बीमार रोते हुए बच्चे को लिए अकेली इधर-उधर घूमती हुई बच्चे को बहलाती हो और उधर बच्चे की पीड़ा रह-रहकर तुम्हारे कलेजे को चीरे डालती है। जब तुम यह करती हो तब कोई तुम्हें देखने या तुम्हें शाबाशी देने नहीं आता, तुम भी किसी पुरस्कार या प्रशंसा की आशा से अथवा इसको कोई बहुत बड़ा काम समझकर नहीं करती हो, बल्कि खेत मे काम करनेवाले किसान की भाँति केवल अपना कर्तव्य पालन करने के लिए ही यह करते हुए तुम्हारी समझ में ज़रूर आता होगा कि यश के

लिए किये जानेवाले झूठे ढोंगी श्रम में और ईश्वर की इच्छा का पालन करने के लिए किये गये सच्चे श्रम में कितना अन्तर है ! यदि तुम सच्ची माता हो तो तुम जानती होगी कि तुम्हारे इस श्रम को देख-देखकर किसी ने सराहा नहीं, उसे एक रोजमर्रा की साधारण-सी बात समझकर किसीने इसकी तारीफ नहीं की। इतना ही नहीं तुकने जिनके लिए इतना कष्ट उठाया, वे भी कृतज्ञ होना तो दूर रहा, तुम्हें अक्सर सताते और झिड़कते हैं। जब दूसरा बच्चा होनेवाला होता है, तब फिर तुम वही काम वैसा ही व्यवहार करती हो; फिर वही अदृश्य असह्य वेदना बिना किसी प्रकार के पुरस्कार की आशा के सहन करती हो, और इसीमें सन्तोष का अनुभव करती हो।

यदि तुम ऐसी हो तो पुरुषों पर शासन करने की सत्ता और मनुष्य-जाति का उद्धार तुम्हारे हाथ में है। किन्तु तुम्हारी संख्या दिन-ब-दिन घट रही है। कुछ तो अपने जादूभरे सौंदर्य से पुरुषों को मोहते-मोहते वेश्यायें बन जाती हैं, और कुछ पुरुषों के नकली पुरुषार्थ के कामों में उनका मुकाबिला करने में लग गयी हैं, और बहुत-सी ऐसी हैं; जिन्होंने अपने कर्तव्य को छोड़ा तो नहीं है, पर मन ही मन वे उसे बुरा समझने लग है—वे स्त्रियों के, माताओं के से काम तो करती है, किन्तु दिल से नहीं। वे दिल में उन स्त्रियों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करती हैं, तो बच्चों के बोझ से बरी हैं।

हम पैसेवाले मनुष्य अपने असत्यमय जीवन से इतने पतित हो रहे हैं, हममें से सभी सच्चे जीवन को ऐसा भूल गये हैं कि हम लोगों में किसी में कोई भेद ही नहीं रहा है—सब एक हो गये हैं। जीवन में जो कठिनाइयाँ, जो जोखमें हैं, उन्हें हमने दूसरों के सिर पर डाल दिया है और खुद मौज करते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि हम अपनेको कायर नहीं मानते।

किन्तु स्त्रियों में अब भी दो वर्ग हैं। कुछ तो मनुष्यता का उच्चतम आदर्श हमारे सामने लाकर रखती है, और कुछ ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो

वेश्यायें है। यह भेद ऐसा है, जो आगामी सन्तति देखे बिना न रहेगी और हम स्वयं भी इसे मानने से इन्कार नहीं कर सकते। प्रत्येक स्त्री जो विवाह करने के बाद भी बच्चे पैदा करने से इनकार करती है, वेश्या है— फिर चाहे वह अपने को किसी नाम से क्यों न पुकारे; किसी भी फैशन के कपड़े क्यों न पहने और कितनी ही सुसंस्कृत क्यों न हो। और एक स्त्री पतित हो जाने पर भी यदि ईमानदारी से बच्चो को जन्म देकर उनका पालन-पोषण करती है तो यह ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करके जीवन का सबसे ऊँचा और सुन्दरतम काम करती है।

यदि तुम सच्ची स्त्री हो तो दो या पाँच-दस बालक होने के बाद भी (ब्रह्मचर्य-व्रत किये बिना) तुम यह नहीं कहोगी कि बस, अब और नहीं। ५० साल का एक वृद्ध मज़दूर भी जो खाता है, पीता है और काम कर सकता है, काम करने से इनकार नहीं करता। यदि तुम सच्ची स्त्री हो, तो तुम अपने बच्चों के पालन-पोषण का भार दूसरी अजनबी स्त्रियों को कभी सौंपना पसन्द न करोगी—ठीक उसी तरह, जिस तरह कोई कारीगर अपने समाप्तप्राय काम किसी दूसरे को दे देना पसन्द नहीं करता। उस काम में तुम्हारी जान है, और जितना हो तुम उस काम को करती हो, उतना ही तुम्हें अधिक आनन्द आता है।

किन्तु यदि तुम इस प्रकार की सच्ची स्त्री हो—और मनुष्य के सौभाग्य से अभी ऐसी स्त्रियों की कमी नहीं है—तो ईश्वर की इच्छा का पालन करने के जिस नियम के अनुसार तुम अपने जीवन को व्यतीत करती हो, अवश्य ही तुम चाहोगी कि तुम्हारे पति, पुत्र और अन्य समीपवर्ती पुरुष भी उस नियम के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें। यदि तुम सच्ची स्त्री हो. अपने अनुभव से यह समझ गयी हो कि आत्म-त्याग-मय निस्वार्थ और जान-जोखमवाली मेहनत और दूसरों के जीवन के लिए, उद्योग करना ही मनुष्य का उद्देश्य है, तो तुम अवश्य ही इस बात की इच्छा करोगी कि दूसरे लोग भी वैसा ही व्यवहार करें। तुम अपने पति और सन्तान को भी ऐसा ही श्रम करने के लिए उत्साहित करोगी।

जो स्त्री सन्तानोत्पत्ति को अरुचिकर मानती है और काम-तृप्ति, ऐश-आराम, पढ़ने-लिखने और लोगों से मिल-जुलकर हँसने-बोलने को ही जीवन का उद्देश्य समझती है, वह स्त्री अपने बच्चों को भी इस प्रकार की शिक्षा देगी, जिससे वे अधिक-से-अधिक सुखों को भोगने की इच्छा करें। वह उनको उन्मादक भोजन करायेगी, चमकीले-भड़कीले कपड़े पहनायेगी, कृत्रिम मनोरञ्जन के साधन जुटायेगी, और शिक्षा भी इस प्रकार की देगी कि जिससे वे सिर्फ सरकारी पदवियाँ और डिग्रियाँ प्राप्त कर सकेंगे—काम न करनेवाले अहदी बन जायँगे। जिस स्त्री ने अपने जीवन के अर्थ को भुला दिया है वह अपने पति और दामाद को भी सच्ची मेहनत से दूर और केवल ऊपरी तड़क-भड़क-वाला देखना चाहेगी।

एक सच्ची माता जो वास्तव में ईश्वर के नियम को जानती है अपने बच्चों को भी उस नियम का पालन करनेवाला बनायेगी। ऐसी माता जब अपने बच्चे को आवश्यकता से अधिक खाता हुआ देखेगी, अत्यधिक लाड़-प्यार से बिगड़ता हुआ देखेगी और ज़रूरत से ज़्यादा कपड़ों से लदा हुआ पायेगी तो उसे हार्दिक दुःख होगा। ऐसी स्त्री अपने बच्चे को वह शिक्षा न देगी, जो उसे अपने ईश्वरीय कर्तव्य को छोड़कर भाग निकलने को प्रेरित करे। वह तो उसे वही शिक्षा देगी, जिससे बालक अपने जीवन-श्रम का भार बखूबी उठा सकें।

ऐसी स्त्री को यह पूछने की ज़रूरत न होगी कि वह बच्चों को क्या सिखाये या उन्हें किस काम के लिए तैयार करे, क्योंकि वह जानती है कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है ? इसलिए वह यह भी जानती है कि बच्चों को क्या सिखलाया जाय और उन्हें किस-किस काम के लिए तैयार किया जाय। वह अपने पति को ऐसे झूठे और ढोंगी श्रम के लिए उत्साहित न करेगी जिसका उद्देश्य ही केवल दूसरों के श्रम से लाभ उठाना है। ऐसी स्त्री अपनी कन्या के लिए जब वर पसन्द करेगी तो वह हाथों की सफेदी और सुकुमारता को न देखेगी और न शिष्टा-

चार पर अधिक ध्यान देगी, क्योंकि वह जानती है कि सच्चा श्रम क्या है और ढोंग क्या है ?

सच्ची माता कभी यह न कहेगी कि मैं बच्चो को मिठाइयाँ और खिलौने तथा सरकस दिखाने की अपनी दिली इच्छा को रोक नहीं सकती। यदि कोई ऐसा कहती है तो उससे पूछो कि अपने बच्चों को ज़हरीले बेर तो नहीं खाने देती, उन्हें अकेला किश्ती मे बैठकर सैर के लिए नहीं जाने देतीं, उन्हें जुआरियों के यहाँ भी नहीं ले जाना चाहतीं। तुम इन बातों को रोकती हो तो फिर उन बातों को क्यो नहीं रोक सकतीं ? बात तो यह है कि तुम सच्ची बात कहना नही चाहतीं।

तुम कहती हो कि तुम बच्चो को प्यार करती हो, इसलिए तुम्हे उन के प्राणों का भय है। तुम्हें इस बात का डर है कि कहीं बच्चों को भूख और सर्दी से कष्ट न हो, इसीलिए तुम अपने पति के अनुचित रूप से भी किये गये धन-संग्रह को तुम पसन्द करती हो, तुम बच्चों की भावी आपत्तियों और मुसीबतों से डरती हो और इसलिए तुम अपने पति को अनुचित काम भी करने के लिए उत्साहित करती हो। किन्तु यह तो बताओ कि तुम अपने बच्चों पर इस समय जो अभागी मुसीबतें पड रही है, उनसे उबारने के लिए तुम क्या कर रही हो ?

क्या तुम अपना बहुत-सा समय अपने बच्चों के साथ बिताती हो ? यदि तुम दिन का दसवाँ हिस्सा भी देती हो तो बहुत बडी बात करती हो ! बाक़ी समय वह अजनबी भाडेवाले नौकरो की देख भाल में रहते है, या फिर वह ऐसी संस्थाओं मे रहते है, जहाँ नैतिक और शारीरिक व्यसनों मे उनके फँस जाने की आशङ्का है।

तुम्हारे बच्चे कुछ खाते-पीते है ? उनके खाने की चीज़ों को कौन बनाता है ? कैसे और किन चीज़ों से वह सामग्री तैयार होती है ? तुम्हारे बच्चो को कैसी नैतिक शिक्षा दी जाती है ? तुम इन बातों से अनभिज्ञ हो। तब फिर यह मत कहो कि तुम इन बुराइयों को केवल अपने बच्चों के भले के लिए ही किसी तरह बरदाश्त कर लेती हो—यह ठीक

नहीं है। तुम इन बुराइयों को पसन्द करती हो, इसीलिए तुम ऐसा कहती हो।

सच्ची माता जो बच्चों को पैदा करने और उनका पालन-पोषण में अपना धर्म और ईश्वरेच्छा का पालन समझती है, वह ऐसा कभी न कहेगी।

वह ऐसा न कहेगी, क्योंकि वह जानती है कि उसका यह काम नहीं है कि वह अपनी अथवा जन-समाज की विकृति रुचि के अनुसार बच्चों को तैयार करना। वह जानती है कि बच्चे मनुष्य की आगामी पीढ़ी है और वह एक महान् से महान् और पवित्रम ईश्वरीय धरोहर हैं। इनकी प्राण-पण से सेवा करना उसके जीवन का ध्येय है।

धीमे-धीमे टिमटिमाती हुई जीवन-ज्योति का लालन-पालन करने में लगी रहने के कारण वह सदा ही जीवन और मृत्यु के बीच में रहती है और इसीलिए वह जानती है कि जीवन और मरण के प्रश्न पर विचार करना उसका काम नहीं है; उसका काम तो जीवन की सेवा करना है और इसलिए इस सेवा के दूरस्थ मार्गों को वह खोजती हुई न फिरेगी। बस वह सेवा के निकटतम-मार्ग को हाथ से न जाने देगी।

ऐसी माता बालक को आनन्द से गर्भ में धारण करके स्वयं ही उन का पालन-पोषण करेगी। वह स्वयं बालकों के लिए खाना बनायेगी और उन्हे खिलायेगी। वह स्वयं ही उन्हें कपड़े बनाकर पहनायेगी और मैले हो जाने पर स्वयं ही धोयेगी। स्वयं ही उन्हें शिक्षा देगी और हर प्रकार की सेवा करेगी। वह साथ ही सोयेगी और उनसे बातचीत करेगी, क्योंकि इसीमें वह अपने जीवन का कार्य समझती है। वह उन्हें इस लायक़ बनायेगी कि भगवान की इच्छा पूर्ण करने के लिए जिस श्रम का भार वहन करने की ज़रूरत है, उसमें स्वास्थ्य और जान का ख़तरा होने पर भी वह उससे न झिझकें।

पुरुष अथवा बालक-विहीन स्त्री को ईश्वर की इच्छापूर्ण करने का कौन-सा मार्ग है इस सम्बन्ध में कोई शक हो तो हो, पर माता के लिए

तो यह मार्ग बिलकुल स्पष्ट और निश्चित है। यदि वह अपने कर्तव्य को अत्यन्त नम्रतापूर्वक सरल हृदय से पालन करती है तो वह मानव-उच्चता के परमपद तक अनायास ही पहुँच जाती है। जो माता प्रेमपूर्वक अपने बच्चों को गर्भ में धारण करती है और उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय समझकर उनकी सेवा करती है, वही वास्तव में अपने सिरजनहार की सच्ची सेवा करती है। वही मरते समय भगवान के सामने शान्ति के साथ यह कह सकती है कि 'अब तू अपनी दासी को शान्ति के साथ बिदा होने दे।'

और यही वह आदर्श है, जहाँ पहुँचने के लिए सभी उद्योग करते हैं।

ऐसी स्त्रियाँ जो अपने जीवन को सफल करती हैं पुरुषों के ऊपर शासन करती हैं। वे मनुष्यों के लिए ध्रुव नक्षत्र की भाँति पथ-प्रदर्शक का काम देती हैं। वह आगामी पीढ़ी को साँचे में ढालती और लोकमत को तैयार करती हैं और इसीलिए इन्हीं स्त्रियों के हाथ में मनुष्यों के उद्धार की सबसे बड़ी ताक़त है। वही उन्हें हमारे ज़माने की भयंकर आपत्तियो में से उबार सकती हैं।

हे स्त्रियो और माताओ! संसार का उद्धार औरो की अपेक्षा तुम्हारे हाथ में अधिक है।

टिप्पणियाँ

१. इसैया—हजरत मूसा ने यहूदी लोगों में जिस धर्म का प्रचार किया था, उसमे जब शिथिलता आयी तो उसको दूर करने के लिए कई सन्तों का आविर्भाव हुआ; जिन्होंने अपनी पुरअसर वक्तृत्व-शक्ति तथा धर्म-प्रेम के द्वारा यहूदियों के धर्म-भाव को फिर से जगा दिया। इन सन्तजनो मे इसैया का विशेष महत्त्व है। लोग उसे बहुत मानते थे। राजा लोग भी उसका आदर करते थे। अपनी अनुपम वक्तृत्वशक्ति के द्वारा उसके सदाचार; पवित्रता और भक्ति का खूब प्रचार किया।

२. लाओत्से—ईसा से ६०० वर्ष पूर्व इस महान् ज्ञानी तथा योगी का चीन देश में जन्म हुआ। इनका उपदेश 'ताओ के सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। 'ताओ' का अर्थ है—ब्रह्म अर्थात् प्रकृति में समाया हुआ गूढ़ तत्त्व, इसका अर्थ मार्ग भी होता है। जिसने 'ताओ' का साक्षात्कार किया है, वह सब प्रकार के विधिनिषेधों को पार करके सदा आत्म-तुष्ट की भाँति निर्द्वन्द्व और निर्लेप होकर रहता है – ऐसा निवृत्ति-मार्गी वेदान्त से मिलता-जुलता 'ताओ' का सिद्धान्त है। चीन देश के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियस कहते हैं—जिस समय यह उपदेश देता था—'उपकार के बदले उपकार और अपकार के बदले अपकार करो', उसी समय लाओ-त्सेले ने जनता के सामने यह महान् उपदेश रक्खा था—'उपकार के बदले में जिस तरह उपकार किया जाता है, वैसे ही अपकार के बदले मे भी उपकार ही करना चाहिए।'

३ सुकरात—यह यूनान देश का जगत्प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता था।

अपने अन्तिम जीवन में यूनान की राजधानी एथेन्स में इसने सद्ज्ञान और सदाचार का उपदेश देना शुरू किया। नवयुवकों पर इसके उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ता था। वह स्वयं एक ज़बरदस्त तार्किक था और विवाद करने की एक बड़ी ही रोचक और प्रभावशाली शैली का आविष्कार हुआ है। प्रश्न-पर-प्रश्न करके वह प्रतिपक्षी से ही अपने मन की बात कहलाता था। लोग उसकी दिगन्त-विजयिनी प्रतिभा से घबड़ाकर कहने लगे—यह तो जादू कर देता है। इसपर नवयुवकों को बहकाने और देवी-देवताओं को गालियाँ देने का दोष लगाकर एक बड़ा ही मजेदार मुकदमा चलाया गया; जो संसार के साहित्य की एक अमर चीज़ बन गया है। एथेन्स के सिनेटरों ने उसकी प्रतिभा से परेशान हो कर उसे मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी. सुकरात का अनुयायी और मित्र क्रैटो उससे जेल में से भाग निकालने का अनुरोध करता है, पर वह उसे अस्वीकार करते हुए कहता है—मैं जिन नियमों को अभी तक मानता आया हूँ, अब विपत्ति पड़ने पर यदि मैं उन्हें चोट पहुँचाऊँगा, तो इनके भाई जो स्वर्ग में हैं, वे मुझे कभी क्षमा न करेंगे। अपने अत्याचारियों के प्रति मन में ज़रा भी वैर-भाव न रखकर निर्भय-निर्द्वन्द्व रूप से प्रसन्नता-पूर्वक ज़हर का प्याला पीकर अत्यन्त शान्त और सस्मित मुद्रा के साथ जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने अनुयायियों को उपदेश देते हुए जब हम उसे देखते हैं, तो अनायास ही एक मृत्युञ्जय आर्य योगी की कल्पना मन में जाग्रत होती है और संसार का मस्तक श्रद्धा और भक्ति के साथ उसके चरणों में झुक जाता है।

४ जॉन दी बैप्टिस्ट—ईसामसीह के कुछ पहले यह आचार्य हुआ था। कहा जाता है, इसने यह भविष्य-वाणी की थी—"मुझसे अधिक समर्थ उपदेशक मेरे बाद आयेगा। मैं तो उसके जूतों के फीते खोलने लायक भी नहीं हूं।" लोगों का विश्वास है कि यह इशारा ईसा मसीह की ओर था और क्राइस्ट ही वह उपदेशक है जिसका जॉन दी बैप्टिस्ट ने ज़िक्र किया था। वह कहता था कि स्वर्ग-राज्य की स्थापना का समय

हो गया है, इसलिए कोई पाप न करना चाहिए और सबके साथ प्रेमपूर्ण समान व्यवहार करना चाहिए। जिन यहूदियों ने इसके उपदेश को ग्रहण किया, जिन्हें जार्डन नाम की नदी में स्नान कराकर दीक्षा दी। इसी दीक्षा—बप्तिस्मा—के कारण इसका नाम जॉन दी बैप्टिस्ट प्रसिद्ध हुआ। ईसा के जन्म से २८ वर्ष पूर्व उसे फाँसी पर चढ़ाकर मार डाला गया।

५ लज़ारस—यह एक ग़रीब फ़क़ीर था, जिसके शरीर में कुष्ट के घाव थे। वह एक अमीर आदमी के द्वार पर पड़ा रहता था, कुत्ते आकर इसके घाव को चाटते। वह अमीर बड़ी शान से रहता, खूब खाता-पीता और मौज करता। लज़ारस उसके जूठे टुकड़े खाकर ही किसी तरह गुज़ारा करता था। किन्तु जब यह मरा तो हज़रत इब्राहीम ने प्रेमपूर्वक इसे अपनी गोद में लिटा लिया। वह धनी मरने पर क़ब्र मे दफ़ना दिया गया और उसे नरक मिला। जब उसकी आँख खुली तो वह असह्य नारकीय पीड़ा से व्यथित हो उठा और देखा कि वह नाचीज़ ग़रीब लज़ारस—जो उसके द्वार पर पड़ा रहता और उसकी जूठन खाकर जीता था—आनन्द से इब्राहीम की गोद में लेटा हुआ है। उसने चिल्लाकर कहा—पिता! दया करके ज़रा लज़ारस को भेज दो, ताकि वह मेरे मुहँ में पानी की दो बूँदें डाल जाय। मैं तो इस आग में झुलसा जाता हूँ। पर इब्राहीम ने कहा—पुत्र, यह नहीं हो सकता। तूने अपने जीवन में आनन्द किया और यह यहाँ आनन्द कर रहा है। दूसरे हमारे बीच में एक बड़ा खड्डा है, जिसे पार करके कोई आ-जा नहीं सकता। उस धनिक ने तब प्रार्थना की कि लज़ारस को दुनिया में उसके बाप के घर भेज दिया जाय, ताकि उसके जो चार भाई हैं वे सबक़ सीखें और इस यातना से बचें। इब्राहीम ने उत्तर दिया कि दुनिया में हज़रत मूसा और अन्य पैग़म्बर हैं जो लोग उनकी बातें नहीं सुनेंगे, वे मरकर फिर ज़िन्दा हो जानेवाले लज़ारस की बात की भी पर्वाह न करेंगे।

इस आख्यायिका में यह दिखलाया गया है कि मनुष्य धन के कारण

भोग-विलास में पड़कर अपनी आत्मा को खो बैठता है और ग़रीब आत्म-चिन्तन और सरल जीवन के द्वारा अपना कल्याण करता है। इसमें धनिकों को चेतावनी है कि वे धन के मोह में पड़कर आत्मा को न भूल जायें और ग़रीबों को आश्वासन है कि वे संसारी विपत्तियों से दु:खित न हों, वे इन्हींके द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं।

६. गैलीलियो—यह इटली देश का प्रसिद्ध खगोलवेत्ता हुआ है। टैलेस्कोप (दूरदर्शकयंत्र) इसीने पहले-पहल बनाया, जिसके द्वारा खगोल-सम्बन्धी कई बातें मालूम हुईं। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, ऐसा प्रतिदिन करने के कारण ईसाई पादरियों ने उसे बहुत तंग किया था, क्योंकि यह बाइबिल के सिद्धान्त के विरुद्ध था।

७. ब्रूनो—इटली का एक तत्ववेत्ता। यूरोप के पुनरुज्जीवन (Renaissance) युग का वह ज़बरदस्त दार्शनिक था। अपने सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्वक प्रतिपादन करने के कारण लोगों ने उसे ज़ाहिरज़हूर में जलाकर मार डाला।

८. माइकेल एञ्जीलो—इटली का मशहूर शिल्पी और चित्रकार, जिसने रोम और फ्लोरेन्स के मन्दिरों को सजाया था।

९. बीथोवन—जर्मनी में पैदा हुआ। यह एक ज़बरदस्त संगीताचार्य हुआ है। यूरोप में इसके गीत बहुत लोकप्रिय हैं।

१० वाग्नेर—यह भी एक मशहूर संगीतशास्त्री हुआ है।

११ टिण्डल—प्रकाश, स्वर, गली, इन वैज्ञानिक विषयों पर उसने ग्रन्थ लिखे। चुम्बक के सम्बन्ध में भी उसकी शोध बहुमूल्य थी।

१२. विक्टर ह्यूगो—यह फ्रान्स का महान् कवि और नाटक तथा उपन्यास-लेखक हुआ है। जिसका एकाध उपन्यास हिन्दी में भी अनुवाद होकर प्रकाशित हुआ है।

१३. हेगल—(१७७०—१८३१) यह एक विख्यात जर्मन दार्शनिक था।

१४. काण्ट—(१७१८—१८५७) वह फ्रांस या जर्मनी का एक प्रसिद्ध

विद्वान था, जिसने समाज-शास्त्र पर एक अच्छा ग्रन्थ लिखा है। उसका कहना था कि किसी बात का विवेचन करने के लिए पहले धर्म-शास्त्र की दृष्टि से उसका निरीक्षण किया जावे और फिर दर्शन-शास्त्र के नियमों पर उसे कसा जाये और अन्त में उसे इन्द्रियगम्य (Positive) स्वरूप प्राप्त होता है। इस पद्धतियों को क्रमशः आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक नामों से पुकारा जा सकता है। उसका कहना था कि आधिभौतिक पद्धति ही सर्वश्रेष्ट है।

१५. डार्विन—(१८०८—१८८२) यह एक ज़बरदस्त विज्ञानवेत्ता हुआ है। विकासवाद का यह आचार्य था। इसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि यह सृष्टि जैसी अब है वैसी आरम्भ में न थी, वल्कि धीरे-धीरे उसका विकास हुआ है, नाना प्रकार के पशु-पक्षी जीव-जन्तु, जो आज हम देखते हैं ये सब एक ही समय में उत्पन्न नहीं हुए वल्कि जल-वायु, काल और अवस्था के कारण एक जीव में से उत्पन्न होकर तरह-तरह के रूपान्तर होते रहे हैं। उसका कहना था कि मनुष्य का विकास बन्दरों में से हुआ है।

डार्विन के इस सिद्धान्त ने वैज्ञानिक संसार में बड़ी हलचल मचा दी। उसने बड़ी खोज के साथ प्रमाणों पर प्रमाण देकर अपनी बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है। विकास-वाद का यह सिद्धान्त बाइविल के सृष्टिक्रम के विरुद्ध जान पड़ता था, इसलिए ईसाई पादरियों ने डार्विन का भयंकर विरोध किया। उसे नास्तिक और धर्म-भ्रष्ट कहा गया और लोगों की ओर से उसे तरह-तरह की यातनायें दी गयी।

डार्विन का यह सिद्धान्त यद्यपि अनेक धर्म-ग्रन्थों को मान्य नहीं है, उनकी ओर से उसका विरोध और प्रतिवाद भी हुआ है, फिर भी शिक्षित समाज पर कुछ समय तक उसका अखण्ड साम्राज्य रहा।

५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १।)
५२—स्वगत× ।≈)
५३—युगधर्म× १≈)
५४—स्त्री-समस्या १॥।)
५५—विदेशी कपड़े का मुकाबिला× ॥≈)
५६—चित्रपट× ।≈)
५७ राष्ट्रवाणी× ॥≈)
५८—इङ्गलैण्ड में महात्माजी ॥।)
५९—रोटी का सवाल १)
६० दैवी सम्पद् ।≈)
६१—जीवन-सूत्र ॥।)
६२—हमारा कलंक× ॥≈)
६३—बुदबुद× ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।)
६६—एशिया की क्रान्ति× १॥।)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता-२ १॥)
६८—स्वतंत्रता की ओर १॥)
६९—आगे बढ़ो! ॥)
७०—बुद्ध-वाणी ॥≈)
७१—कांग्रेस का इतिहास २॥
७२—हमारे राष्ट्रपति १।)
७३—मेरी कहानी (ज०नेहरू) २॥)
७४ विश्व-इतिहास की झलक (जवाहरलाल नेहरू) ८)
७५—पुत्रियाँ कैसी हों ?× ॥)
७६—नया शासन विधान-१ ॥।)
७७—(१) गाँवों की कहानी ॥)
७८—(२-९) महाभारत के पात्र ॥)
७९—सुधार और संगठन १)
८० (३) संतवाणी ॥)
८१—विनाश या इलाज ॥)
८२—(४) अंग्रेज़ी राज्य में हमारी आर्थिक दशा ॥)
८३—(५) लोक-जीवन ॥)
८४—गीता-मन्थन १॥)
८५—(६) राजनीति (प्रवेशिका) ॥)
८६—(७) अधिकार और कर्तव्य ॥)
८७—गांधीवाद : समाजवाद× ॥।)
८८—स्वदेशी और ग्रामोद्योग ॥)
८९—(८) सुगम चिकित्सा ॥)
९०—प्रेम में भगवान् ॥)
९१—महात्मा गांधी ।≈)
९२—ब्रह्मचर्य ॥)
९३—हमारे गांव और किसान ॥)
९४—गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ २)
९५—हिन्दुस्तान की समस्यायें १)
९६—जीवन-संदेश ॥)
९७—समन्वय २)
९८—समाजवाद : पूँजीवाद ॥।)
९९—मेरी मुक्ति की कहानी ॥)
१००—खादी-मीमांसा १॥)
१०१—बापू ॥≈), १।) २)
१०२—विनोबा के विचार ॥)
१०३—लड़खड़ाती दुनिया ॥।)
१०४—सेवाधर्म : सेवामार्ग १)

१०५—दुनिया की शासन-प्रणालियाँ और वर्तमान युद्ध १॥)
१०६—डायरी के पन्ने ॥।)
१०७—तीस दिन १)
१०८—महावीर-वाणी ॥)
१०९—युद्ध और अहिंसा ॥)

नवजीवन माला की पुस्तकें

१—गीताबोध [गांधीजी] -)
२—मंगल प्रभात ,, -)
३—अनासक्तियोग ,, =) ≡)
४—सर्वोदय ,, -)
५—नवयुवकों से दो बातें (क्रोपाटकिन) -)
६—हिन्द-स्वराज्य (गांधीजी) ≡)
७—छूतछात की माया (अप्राप्य) -)
८—किसानों का सवाल =)
९—ग्रामसेवा (गांधीजी) =)
१०—खादी-गादी की लड़ाई (विनोबा) =)
११—मधुमक्खी-पालन (अप्राप्य) =)
१२—गांवों का आर्थिक सवाल ≡)
१३—राष्ट्रीय गायन =)
१४—खादी का महत्त्व -)॥
१५—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे ≡)
१६—सोने की माया -)
१७—सत्यवीरकी कथा (गांधीजी) -)

सामयिक साहित्य माला

१—कांग्रेस का इतिहास (परिशिष्ट-अप्राप्य) ।-)
२—दुनिया का रंगमंच झलक ,, ,, =)
३—हम कहाँ है ? (जवाहरलाल नेहरू) =)
४—युद्ध-संकट और भारत—१ (संग्रह) ।)
५—सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे ? (गांधीजी) ≡)
६—राष्ट्रीय पंचायत (संग्रह) ।)
७—युद्ध संकट और भारत (गांधी : जवाहरलाल) ।)
८—देशी राजाओं का दरजा (प्यारेलाल) ।)

तथा

बाल साहित्य माला, विविध प्रकाशन आदि

बड़ा सूचीपत्र मँगाइए।

'मण्डल' से आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ

१—अहिंसा की शक्ति	(रिचर्ड वी. ग्रेग)
२—उद्देश्य और साधन	(आल्डस हक्सले)
३—हिन्दूधर्म की आख्यायिकायें	(आचार्य नानाभाई भट्ट)
४—रूमी की कहानियाँ	(चौ० शिवनाथसिंह शांडिल्य)
५—हमारी आज़ादी की लड़ाई	(हरिभाऊ उपाध्याय)
६—जीवन के बारे में—	(टॉल्स्टॉय)
७—मालिक और मज़दूर	,,
८—धर्म और सदाचार	,,
९—विद्यार्थी धर्म	(महात्मा गांधी)
१०—यंत्र की मर्यादा	(नरहरि परीख)
११—हिन्दुस्तान की ग़रीबी	(दादाभाई नौरोजी)
१२—हमारे आर्थिक प्रश्न	(छगनलाल जोशी)